सुन्दर साहित्य-माला

पद्य-प्रसून (महाकवि 'हरिऔध')	१॥)
निर्माल्य (श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी')	१)
[illegible] (श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम् ए.)	१)
कविवर 'मीर' (श्रीरामनाथ 'सुमन')	२)
देहाती दुनिया (श्रीशिवपूजन सहाय)	१॥)
प्रेमपथ (श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी)	२)
[illegible] (स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा)	२॥)
[illegible] (श्रीअवधनारायणलाल)	२)
एकतारा (श्रीमोहनलाल महतो 'वियोगी')	१)
विभूति (श्री शिवपूजन सहाय)	२)
अशोक (श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, बी० ए०)	१।)
[illegible] (श्री विनोदशंकर व्यास)	१।)
[illegible] (श्री दामोदरसहाय सिंह)	१।)
[illegible] (श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' एम० ए०)	१॥)
[illegible] (प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र)	१॥)
रसकलस (महाकवि 'हरिऔध')	४)
[illegible] (श्री [illegible]नंदनप्रसाद, बी० ए०)	१॥)
[illegible] (स्व० उदितनारायण दास)	१)
उत्तराखंड के पथ पर (प्रोफेसर मनोरंजन, एम० ए०)	२)
[illegible] (श्री व्रजनंदनसहाय 'व्रजवल्लभ')	१।)
[illegible] (डा० सत्यनारायण पी. एच. डी.)	२॥)
रेणुका (श्री 'दिनकर')	२॥)
रसवन्ती (,,)	१)
द्वन्द्वगीत (,,)	॥)
शिकारियों की सच्ची कहानियाँ (श्री शिवनाथ सिंह शांडिल्य)	१॥)
[illegible] (महाकवि 'हरिऔध')	४)
[illegible] (श्री भगवतशरण उपाध्याय)	२॥)

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

सुन्दर साहित्य-माला—३४

महाकवि विद्यापति

लेखक

स्वर्गीय पंडित शिवनन्दन ठाकुर, एम्० ए०

पुस्तक-भंडार

लहेरियासराय और पटना

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

प्रथम संस्करण, १९९८ वि०

मुद्रक
हनुमानप्रसाद
यापति प्रेस, लहेरियासराय

ग्रंथकार का संक्षिप्त परिचय

(जन्म सन् १८९३ ई०, मृत्यु अक्टूबर, सन् १९३९ ई०)

इस 'महाकवि विद्यापति' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही इसके रचयिता हमलोगों के दुर्भाग्य से चल बसे! इस कारण वर्षों पुस्तक यंत्रस्थ ही रही—निकल न पाई। पुस्तक में इधर कुछ सुधार भी न हो पाया। हाँ, इस पुस्तक के प्रायः सभी फर्मे ग्रंथकार की ही देखरेख में छप चुके थे। अगर वे जीवित रहते तो कदाचित् पुस्तक में कुछ और सुधार होता और वह निकलती भी इसके पहले ही। ग्रन्थकार से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उनकी मृत्यु से सम्पूर्ण शिक्षित-जगत् की बड़ी हानि हुई है; उनके अपनों का तो कहना ही क्या?

स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर का जन्म सन् १३०१ साल (सन् १८९३ ई०) में दरभंगा मण्डलान्तर्गत कोइलख नामक गाँव में 'घुसौते' ब्राह्मण-वंश में हुआ था। उनके पूज्य पिता का नाम पं० श्रीधर ठाकुर था। पिता के अल्पायु होने के कारण इनके लालन-पालन का भार उनके पितामह पं० निधि ठाकुर के ऊपर ही पड़ा। पं० निधि ठाकुर की साधुता अब भी कोइलख-प्रान्त में प्रसिद्ध है। बालक शिवनन्दन रात-दिन इन साधुहृदय पितामह के संपर्क में रहे। उठते-बैठते, खाते-पीते पितामह के आचरण ने उनके हृदय पर अपना प्रभाव जमाया। यह प्रभाव हमारे चरित्रनायक के लिये बड़ा प्रबल था; वे अपने अन्तिम समय तक, वास्तविक दुनिया के संपर्क में आकर समय-समय पर हानि उठाने पर भी अपनी सहज सरलता को न छोड़ सके। लोगों की बातों पर विश्वास कर लेना मानों इनका धर्म था। हार्दिक सरलता और मानसिक तीव्रता का अनोखा सम्मिश्रण पं० शिवनन्दन ठाकुर की विशेषता थी।

पं० शिवनन्दन ठाकुर की प्राथमिक शिक्षा कोइलख में ही हुई। फिर

से निर्मलनगर गये और वहाँ उन्होंने स्वनामधन्य स्व० पं० चुम्मे झा की देख-रेख में अध्ययन किया। फिर उज्ञा जाकर पढ़ने लगे। तदुपरान्त दरभंगा चले गये जहाँ उन्होंने मुख्यतः स्व० पं० खुद्दी झा तथा स्व० म० म० परमेश्वर झा के श्रीचरणों में अध्ययन किया। उन दिनों बिहार बङ्गाल से पृथक् नहीं हुआ था और १९१३ ई० में जब उन्होंने 'बङ्गाल संस्कृत एसोसिएशन' से व्याकरणतीर्थ की परीक्षा दी तब प्रथम श्रेणी में प्रथम हुए। इसके बाद पं० शिवनन्दन ठाकुर परीक्षाएँ देते गये और सफल होते गये। उन्होंने १९१५ ई० में पंजाब की शास्त्री परीक्षा, १९१७ ई० में पंजाब-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका एवं १९१९ ई० में आइ० ए० की परीक्षाएँ दीं और सफलता लाभ की। पंजाब से परीक्षा देने की इस तरह सुविधा हुई कि उनके श्वसुर पञ्जाब के किसी रियासत में पण्डित थे। १९२३ ई० में उन्होंने बी०ए० की परीक्षा केवल इंगलिश में कलकत्ता विश्वविद्यालय से दी, परन्तु केवल इंगलिश में बी० ए० होने के कारण पीछे एम्०ए० की परीक्षा में नहीं बैठ सकते थे; इसलिये उन्होंने पंजाब-विश्वविद्यालय से १९२६ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास कर ली जिससे एम० ए० की परीक्षा-सम्बन्धी अड़चन हट गई। इसके बाद उन्होंने पटना-विश्वविद्यालय से १९३२ ई० में संस्कृत की एम्० ए० परीक्षा दी और फिर संस्कृत में ही १९३४ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय से भी। इस परीक्षा में ये प्रथम श्रेणी में द्वितीय हुए और उन्हें रौप्य-पदक मिला। १९३९ ई० में उन्होंने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से हिन्दी में भी एम० ए० की परीक्षा पास कर ली।

पं० शिवनन्दन ठाकुर की परीक्षाओं में एक विशेष बात यह रही है कि उन्होंने जितनी परीक्षाएँ दीं प्रायः कौटुम्बिक झंझटों में रहकर ही। पटना-विश्वविद्यालय से जिस साल उन्होंने एम्० ए० की परीक्षा दी, उन्हें पुस्तकावलोकन का थोड़ा भी समय नहीं मिला था। उन दिनों उनके परिवार में बीमारियों का ताँता-सा बँध गया था—एक चंगा हुआ तो दूसरा बीमार

पड़ा। वे कुछ भी न पढ़ सके—यहाँ तक कि रात-भर जगकर जाते और परीक्षा में बैठ आते। पर उनका अध्ययन उतना व्यापक और ठोस था कि उन्हें परीक्षा में सफलता मिल ही गई।

देहावसान के करीब डेढ़ साल पहले पं० शिवनन्दन ठाकुर की प्रवृत्ति गवेषणा की ओर गई। वे जानते थे कि प्राचीन मैथिल विद्वानों के विषय में किसी मैथिल ने अच्छा काम नहीं किया है। पं० शिवनन्दन ठाकुर को यह बात खलने लगी। उन्होंने काम शुरू किया—विद्यापति के सम्बन्ध में काम करने के लिये उनके पास उपयुक्त साधन थे—संस्कृत का प्रगाढ़ ज्ञान, मैथिली का अद्वितीय भण्डार और सबसे बढ़कर आलोचनात्मक दृष्टिकोण। पं० शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को लेकर जी-तोड़ परिश्रम किया। वे अपने अन्तिम समय में भागलपुर जिला-स्कूल के हेड पण्डित थे। स्कूल से आते और काम में जुट जाते तथा एकाग्रचित्त से आधी-आधी रात तक काम करते रहते। गवेषणा-कार्य कुछ आगे बढ़ चुकने के बाद ठाढ़ी के पं० विष्णुलाल शास्त्री ने उन्हें विद्यापति की कविताओं का एक पुराना तालपत्र ला दिया। पं० शिवनन्दन ठाकुर ने कुछ दिनों तक इस तालपत्र को अपना शाश्वत साथी बना लिया था। जिन लोगों ने पण्डितजी को उन दिनों काम करते देखा उन्हें उनके स्वास्थ्य को देखकर चिन्ता हुई हो तो आश्चर्य नहीं। वे वर्षों तक विद्यापतिमय हो गये थे। सौभाग्य से उन्हीं दिनों एक पुत्र का जन्म हुआ तो पण्डितजी ने उसका नाम 'विद्यापति' ही रक्खा।

यह 'महाकवि विद्यापति' ग्रन्थ कैसा हुआ, इसके विषय में सविस्तर विचार करना मेरे लिये विषयान्तर है। सामग्री के उपयोग और निष्कर्षं के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है और हम मतभेद रखनेवालों को दोष नहीं दे सकते। पर कौन नहीं कहेगा कि पं० शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति-रहस्य को समझने के लिये कठिन-से-कठिन परिश्रम से मुँह नहीं

अस्तु! विद्यापति के सर्वांगीण अध्ययन के लिये पं० शिवनन्दन ठाकुर ने अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत और देशी भाषाओं में संरचित प्रायः सभी मतों को छान डाला और उनका उपयोग इस पुस्तक में किया। मुझे विश्वास है कि विद्यापति-विषयक अनुसंधान के लिये यह पुस्तक बहुत वर्षों तक समादृत पथदर्शक होगी।

मेरी समझ में इस ग्रन्थ को ग्रन्थकार खूब सजा न सके, क्योंकि इसके लेखन, शोधन और प्रकाशन का काम प्रायः साथ-साथ चलता रहा। आवश्यकतानुसार नई सूझें अन्त तक ग्रन्थ में स्थान पाती गईं और यदि प्रकाशन स्थगित रखते तो न मालूम कितनी और पातीं।

एक ऐसे व्यक्ति के लिये, जिसने अपने जीवन का बहुत अंश पण्डित शिवनन्दन ठाकुर के निकटतम संपर्क में बिताया है, उनके गुण-दोषों का यथार्थ निदर्शन कर पाना असंभव है। अत्यन्त निकट होने से जैसे दोष नहीं दीख पड़ते; वैसे ही संभव है कि गुण भी ठीक नज़र न आते हों।

यदि इन पंक्तियों के लिखने का भार किसी दूसरे पर पड़ता तो अच्छा था। जब मैं उनके बारे में सोचता हूँ तब उनके जीवन और जीवन की प्रगतियों का चित्रपट आँखों के सामने दौड़ने लगता है—किसे लिखूँ, किसे न लिखूँ?

पण्डितजी अब भी विद्यापति की पाण्डुलिपि बगल में दबाये "जयदेव! देखो तो कैसा जँचता है!" कहते दृष्टिगत होते हैं। दुर्दैव! तू ने हमारे 'पण्डितजी" को असमय में ही छीनकर हम-जैसों को अकिंचन और समस्त मिथिला को एक अनमोल रत्न से वञ्चित कर दिया!

कोइलख, दरभंगा

—श्रीजयदेव मिश्र

महाकवि विद्यापति

प्रथम भाग

निवेदन

१९३४ ई० की दूसरी फरवरी को पटना सिनेट हॉल में श्रीमान् सच्चिदानन्द सिंह (वर्तमान वाइस चान्सलर) के सभापतित्व में एक सभा हुई थी। उक्त सभा में बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का सारगर्भित तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान हुआ था। विद्यापति की अनेक विशेषताएँ बतला कर अन्त में आपने कहा—"विद्यापति के ऊपर जितनी समालोचनाएँ हुई हैं, विद्यापति के ऊपर जितने अनुसन्धान हुए हैं; विद्यापति की पदावलियों के जो अनेक संस्करण निकले हैं इन सब महत्त्वपूर्ण कार्यों का श्रेय बंगाली विद्वानों को ही है। विद्यापति की जन्मभूमि, मिथिला ने आज तक विद्यापति का उचित सम्मान नहीं किया है। मिथिला से विद्यापति की छोटी पदावली भी आज तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। मिथिला ने आज तक विद्यापति के अनुसंधान में हाथ नहीं बँटाया है"। यह सुनकर मुझे बड़ी लज्जा हुई और लज्जावनतमुख होकर मैं वहाँ से घर आया। दूसरे ही दिन से मैंने विद्यापति के ग्रन्थों का अध्ययन और विद्यापति के विषय में अनुसंधान करना आरंभ कर दिया। इस समय तक जो सामग्रियाँ मैं एकत्र कर सका हूँ वे पुस्तक के रूप में आपके समक्ष उपस्थित की जाती हैं। आधी पुस्तक गत वर्ष ही छप गई थी। इसलिये उसके बाद जो सामग्रियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं वे द्वितीय संस्करण के पहले पाठकों के सामने उपस्थित नहीं की जा सकती हैं—इस कारण मुझे खेद है। जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई है, निष्पक्ष भाव से मैंने अपना मत प्रकट किया है। इस पुस्तिका में जिन विद्वानों के नाम निर्दिष्ट हुए हैं उन्हें मैं सम्मान की दृष्टि

से देखता हूँ; किन्तु कई एक स्थानों पर उनके विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ। साहित्यिक विषयों में मतभेद होना स्वाभाविक है। इसलिये मुझे आशा है कि वे स्पष्टवादिता के लिये मुझे क्षमा करेंगे। सामग्री की अल्पता के कारण या बुद्धिदोष से यदि मैंने किसी जगह असन्मार्ग का अनुसरण किया है तो उस विषय पर नया प्रकाश डालकर सन्मार्ग पर मुझे लाना विद्वान् पाठकों का ही कर्त्तव्य है। इस उपकार के लिये मैं उनका चिर-ऋणी रहूँगा। इस पुस्तक के प्रकाशित करने का एक मात्र उद्देश्य यही है कि विद्यापति के ऊपर नये-नये अनुसंधान हों और साहित्यिक क्षेत्र में विद्यापति को उचित स्थान मिले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ३०० वर्षों से भी अधिक प्राचीन तालपत्र की पुस्तक, (जिस के दो पृष्ठों का चित्र इस पुस्तक में दिया गया है) रागतरङ्गिणी, वर्णनरत्नाकर आदि की सहायता से 'विशुद्ध पदावली' का प्रथम भाग तैयार किया है। इस पदावली में शब्दार्थ, व्याख्या, अलङ्कार और विशेष वक्तव्य के अतिरिक्त पादटिप्पणी में अनेक पाठ दिये गये हैं। मुझे आशा है कि शीघ्र ही पाठकों के समक्ष मैं यह उपस्थित कर सकूँगा। बारंबार संशोधन करने पर भी दृष्टि-दोष से इस पुस्तक में अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं। पाठक उनका उचित संशोधन कर पढ़ने की कृपा करेंगे। पाठक कृपा कर आगामी संस्करण में परिवर्त्तन और परिवर्द्धन के लिये अपना मत प्रकट करें, धन्यवाद के साथ वे स्वीकृत होंगे और उचित परिवर्त्तन भी कर दिया जायगा।

कोइलख
पो० रामपट्टी (दरभंगा)
४—१०—२३

निवेदक
शिवनन्दन ठाकुर

विषय-सूची

प्रथम प्रकरण

विद्यापति का परिचय

दूसरा प्रकरण

विद्यापति का पांडित्य

तीसरा प्रकरण

विद्यापति की कवित्वशक्ति

चौथा प्रकरण

विद्यापति का संप्रदाय

पाँचवाँ प्रकरण

विद्यापति की विचार-धारा

छठा प्रकरण

विद्यापति के पद

महाकवि विद्यापति

विद्यापति का परिचय

विद्यापति की जन्मभूमि

(क) विद्यापति बङ्गाली थे

विद्यापति की कविता के माधुर्य से मुग्ध होकर बङ्गाली विद्वान् विद्यापति को बङ्गीय कवि मानने लगे थे। चैतन्यदेव-सदृश भक्त कवि जब विद्यापति के पद गाते थे तब उन्हें ऐसा अलौकिक आनन्द होता था कि वे कुछ देर के लिये मूर्च्छित हो जाया करते थे। चैतन्यदेव का शिष्य-परंपरा ने विद्यापति की पदावली को अपनाया और उसका सम्मान और प्रचार किया। कुछ समय के बाद विद्यापति और चण्डीदास बङ्गीय साहित्य के आदि कवि माने जाने लगे, उनकी जन्मभूमि जैशोर (१) जिला बनी और उनका नाम बसन्तराय मान लिया गया। इसका कारण सीधा है। विद्यापति की मन्त्रमुग्धकारी कविता की विद्युत्-शक्ति ने बङ्गालियों के हृदय में ममत्व उत्पन्न कर दिया। यहीं तक नहीं; विद्यापति की भाषा, विद्यापति के भाव, विद्यापति की उत्प्रेक्षा, विद्यापति की उपमा ने

---

(1) Indian Antiquary Vol. 2. Page 37.

वङ्गाल में हलचल मचा दिया। नरहरि दास, कृष्णदास, नरोत्तम दास आदि सैकड़ों वैष्णव कवियों ने विद्यापति के अनुकरण करने में प्रतिष्ठा समझी और उसी आदर्श पर वैष्णव-पदावली की रचना कर वङ्गीय साहित्य को उन्नत किया। वर्तमान कविसम्राट् श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी विद्यापति के ऋणी हैं।

यह तो हुई वङ्गदेश की बात। इधर मिथिला में संस्कृत-विद्या का साम्राज्य था। "नीलस्य घटः" "राजपुरुषः" आदि तर्क-वितर्कमय विषयों पर शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना ही मैथिल विद्वानों के जीवन का प्रधान उद्देश्य हो गया था। मैथिल विद्वान् मैथिली में कविता करने से कोसों दूर भागने लगे थे। उनकी धारणा-सी हो गई थी कि कविता की भाषा संस्कृत या प्राकृत है। काव्य-रचना के लिये अनुपयुक्त देशी भाषा में सरलता कहाँ? सुना जाता है कि जिस समय कविवर चन्दा झा ने मैथिली में रामायण की रचना की थी उस समय देशी भाषा में कविता लिखने के कारण उनकी बड़ी निन्दा हुई थी। जिस समाज में इस प्रकार गुणग्राहिता की कमी हो, सङ्कीर्णता की प्रबलता हो, उसका रत्न लुट जाय, किन्तु वह खर्राटा ही लेता रहे, उसके रत्न से दूसरे का घर जगमगा उठे, पर वह समाज संसार के सामने भिखारी ही बना रहे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? सैकड़ों वर्ष बीत गये, मैथिलों की नींद अभी तक नहीं टूटी है।

(ख) विद्यापति मैथिल थे

१८७५ ई० के जून में नं० २ पार्ट ४ 'वङ्ग-दर्शन' में स्वर्गीय (१) राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने एक प्रबन्ध निकाला जिससे विद्या-

(१) ग्रीनबीम्स ने Indian Antiquary के Vol. 2 के ३७ वें पृष्ठ में भी यह प्रमाणित किया है कि पदावली की भाषा बँगला नहीं है।

पति के इतिहास में युगान्तर उपस्थित हो गया। आपने अनेक युक्तियों के द्वारा यह प्रमाणित किया कि विद्यापति मैथिल थे न कि बङ्गाली। १८८१-८२ ई० में सर (१) ग्रीअर्सन ने An introduction to the Maithili language of North Bihar नामक पुस्तक लिखी जिसे एसिएटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया। इस पुस्तक में विद्यापति-रचित ८२ पद अँगरेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए। जस्टिस शारदाचरण मित्र के व्यय से बङ्गीय साहित्य-परिषद् के द्वारा बाबू नगेन्द्रनाथ कृत व्याख्या और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ पदावली प्रकाशित हुई। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कीर्तिलता का सम्पादन किया। इन पुस्तकों में इसी तथ्य का समर्थन किया गया। यही कारण है कि इस समय यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि विद्यापति मैथिल थे, तथापि पाठकों के मनोरञ्जनार्थ कुछ प्रमाणों का दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

(ग) विद्यापति के मिथिलानिवासी होने के प्रमाण

(१) भाषा की ओर ध्यान देने पर पता लगता है कि विद्यापति मैथिल थे। मैथिली और बङ्गीय भाषाओं में समानता रहने पर भी दोनों में प्रधान भेद यह है कि विभिन्न लिङ्गों में मैथिली की क्रियाओं के विभिन्न रूप होते हैं। जैसे—राम गेलाह (राम गये), गौरी गेलीह (गौरी गई) आदि; किन्तु बङ्गभाषा में इस प्रकार विभिन्न रूप नहीं दिखाई पड़ते हैं। विद्यापति के पदों की क्रियाओं में विभिन्न लिङ्ग पाये जाते हैं। जैसे

---

(१) Indian Antiquary के Vol. 4, 14 में ग्रीअर्सनने विद्यापति का विशेष परिचय दिया है।

विद्यापति की जानकी-वन्दना—

जाहि उदर सँ बाहर भेलि
से पुनि पलटि ततय चल गेलि ।

शिव-प्रार्थना—

पूरुब पछिम एको नहि गेला
अचल भेला एहि ठाम ।

इसके अतिरिक्त विद्यापति के पदों में बहुत ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिनका व्यवहार केवल मिथिला में ही होता है जैसे—चुमाओन, पुरहर, खोंइछा, हँकार आदि ।

(२) १३२६ ई० में राजा हरिसिंह देव के आज्ञानुसार मिथिला-पञ्जी (पाँजि) (१) की सृष्टि हुई । इसमें विद्यापति की निम्नलिखित वंशावली पाई जाती है—

विद्यापति की वंशावली

विष्णु ठाकुर
|
हरादित्य ठाकुर
|
(गङ्गौलिसवोनिवासी त्रिपाठी) कर्मादित्य ठाकुर
|
देवादित्य प्रसिद्ध शिवादित्य ठाकुर

---

(१) पञ्जी के आरम्भ में यह श्लोक पाया जाता है—

शाके श्रीहरिसिंहदेवनृपतेर्भूतार्कतुल्ये[१२१६] जनिः ।
तस्मादन्तमितेऽब्दके[३२] द्विजगणैः पञ्जीप्रबन्धः कृतः ।

इससे पता चलता है कि राजा हरिसिंहदेव का जन्म १२१६ शकाब्द में हुआ और इसके ३२ वर्ष बाद पञ्जी की रचना हुई ।

देवादित्य ठाकुर

वीरेश्वर ठाकुर | धीरेश्वर ठाकुर | गणेश्वर | जटेश्वर | हरदत्त आदि

चण्डेश्वर ठाकुर | जयदत्त ठाकुर

गणपति ठाकुर

(राजपण्डित-महामहोपाध्याय-विसपोग्रामोपार्जक)

विद्यापति ठाकुर

इसके बाद अभी तक वर्तमान विद्यापति के वंशजों के नाम पञ्जी में पाये जाते हैं।

(३) विद्यापति की रचनाओं में मिथिला के राजाओं के नाम पाये जाते हैं—जैसे पदावली के अधिकांश पदों के अन्त में राज, शिवसिंह तथा रानी लखिमा देवी के नाम, कीर्तिलता में भोगेश्वर, गणेश्वर, वीरसिंह और कीर्तिसिंह के नाम, विभागसार में भवसिंह, हरिसिंह और दर्पनारायण, शवसर्वस्वसार में भवसिंह से लेकर विश्वास देवी तक राजाओं और रानियों के नाम, पुरुष परीक्षा में भवसिंह, देवसिंह और शिवसिंह के नाम उपलब्ध होते हैं।

(४) विद्यापति-रचित शैवसर्वस्वसार, गङ्गावाक्यावली, दान-वाक्यावली, गयापत्तलक, विभागसार आदि पुस्तकें दरभंगा राज-पुस्तकालय में तथा लालगंज, नडुआर, सौराठ, सखवाड़, नवानी, चम्पा, ननौर, ठाढ़ी आदि मिथिला के गाँवों में पाई जाती हैं।

---

१. अपने धार्मिक भाव के कारण आप योगीश्वर कहलाते थे।—'बङ्गभाषा ओ साहित्य'

२. राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत्तत्सूनुना दर्पनरायणेन।—'विभागसार'

(५) विद्यापति ने आश्रय-दाता राजाओं के वर्णन में जिस नदी (वोग्वती) और स्थान (सकरी बी० एन्० डब्ल्यू स्टेशन) का वर्णन किया है वे दोनों मिथिला में पाये जाते हैं।

(६) विद्यापति के वंशज नारायण ठाकुर के द्वारा ल० सं० ५०४ के माघ कृष्ण १ में तालपत्र पर लिखी हुई पुरुष-परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक, कोइलख (दरभंगा) ग्राम-निवासी पं० बबुआजी मिश्र के घर में है जिसके अंत में यह श्लोक (वेदे पञ्चशते गौडे माघे च प्रथमे तिथौ। नारायणेन लिखिता पुस्ती विद्यापतेः कवेः) है।

(७) स्वर्गीय कवि चन्दाझा के घर में "कीर्तिलता" की एक प्रति पाई जाती है।

(८) विद्यापति का स्वहस्त-लिखित "श्रीमद्भागवत" तरौनी गाँव के स्वर्गीय लोकनाथ झा के घर में था। अभी हाल ही में दरभंगा-राज ने उक्त पुस्तक खरीदकर राजपुस्तकालय की शोभा बढ़ाई है। पुस्तक के अन्त में "ल० सं० ३०९ श्रावण शुदि १५ कुजे रजाबनौली ग्रामे विद्यापतेर्लिपिरियमिति" है।

(९) उग (द) ना की कथा, मृत्यु के समय गङ्गा का आह्वान आदि किंवदन्तियाँ मिथिला में प्रचलित हैं।

(१०) विद्यापति की चिता और उसपर शिवमन्दिर बाजितपुर स्टेशन के पास अभी तक वर्तमान है।

(११) राजा शिवसिंह का दिया हुआ ताम्रपत्र पिंडारुछ

१. वाग्वत्यां भवसिंहदेवनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः।—'पुरुषपरीक्षा'

२. सकरीपुरसरोवरकर्त्ता हेमहस्तिरथदानविदग्धः।—'पुरुष-परीक्षा'

(३) सनद के अन्त में, लक्ष्मणाब्द २९३ के अतिरिक्त हिजरी सन् ८००, संवत् १४५४, शाके १३२१ लिखा है। हमने अनेक प्राचीन राजाओं की सनदें

(दरभंगा) निवासी बाबू रतिकान्त चौधरी बी० एल् के पास इस समय भी वर्तमान है।

देखी हैं, किन्तु किसी सनद के अन्त में चार सन नहीं देखे हैं। प्राचीन निर्मल हिन्दू-हृदय इतना सतर्क नहीं था। किसी सनद में एक से अधिक सन नहीं पाये जाता है। इसलिये इसकी सत्यता के विषय में सन्देह होता है।

श्रीयुत कैलासचन्द्र सिंह, भारती, १२९९ आश्विन

इस सन का प्रचार अकबर ने इस देश में किया। आईने अकबरी में यह सन है। भूमिदान-पत्र अकबर से बहुत पहले का है। दूसरी बात यह है कि ताम्रपत्र देवनागरी अक्षर में है, किन्तु उस समय की अनेक पुस्तकों तथा ताम्रपत्रों में मिथिलाक्षर का व्यवहार किया गया है। इससे उसकी सत्यता में सन्देह मालूम पड़ता है।

'एसियाटिक सोसाइटी में डा० ग्रिअर्सन का व्याख्यान

ताम्रशासन जाली है, किन्तु इस प्रकार विचार करने पर यह जाली नहीं मालूम पड़ता है। अकबर के समय में सारे राज्य का सर्वे हुआ था। राजा टोडरमल उसके अनुष्ठाता थे। विद्यापति के वंशज ने जिस ताम्रशासन के बल बिसपी गाँव पर अधिकार जमाया था वह खो गया। उनके पास एक नकल थी। उसीके आधार पर यह नई ताम्रलिपि तैयार की गई। यही कारण है कि अकबर के द्वारा प्रचारित सन इसमें पाया जाता है। बिसपी गाँव पर उन्होंने अधिकार पाया था यह उनके पदों से ही ज्ञात होता है। केवल राजकर्मचारिगण से स्वीकृति प्राप्त करने के लिये यह नया ताम्रशासन तैयार कराया गया।

—डा० हरप्रसाद शास्त्री

—डा० दिनेशचन्द्र सेन

ताम्रपत्र की प्रतिलिपि

स्वस्ति । गजरथेत्यादि—समस्तप्रक्रियाविराजमानश्रीमद्रामेश्वरीवरलब्धप्रसादभवानीभवभक्तिभावनपरायणरूपनारायणमहाराजाधिराजश्रीमच्छिवसिंहदेवपादाः समरविजयिनः जरइलतप्पायां विसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकर्षकांश्च समादिशन्ति । मतमस्तु भवतां ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिनव-जयदेवमहापण्डित ठक्कुरश्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽतो यूयमेतेषां वचनकरीभूयकर्षणादिकं कर्म करिष्यथेति ल० सं० २९३ श्रावण-शुदिसप्तम्यां गुरौ ।

श्लोकास्तु

अब्दे लक्ष्मणसेनभूपतिमिते वह्निग्रहद्व्यङ्किते
मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौ पक्षेऽवलक्षे गुरौ
वाग्वत्याः सरितस्तटे गजरथेत्याख्याप्रसिद्धे पुरे
दित्सोत्साहसमृद्धवाहुपुलकस्सभ्याय मध्येसभम् ॥१॥

यह निरा अनुमान है । मिथिला की प्राचीन पुस्तकों में एक से अधिक साल लिखने की प्रथा प्राचीन है । विद्यापति के "प्रणलरन्ध्रकर" में भी दो तरह के बरस देखने में आते हैं । देवनागराक्षर के विषय में सम्भव है कि इस तरह की सनद में राजा की स्वीकृति अवश्य हो । इसलिये प्रान्तीय अक्षर का व्यवहार नहीं किया गया हो । देवनागरी अक्षर में लिखी हुई मिथिला की अनेक पुस्तकें मैंने संस्कृत कौलेज में देखी हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि मिथिलाक्षर की प्रधानता होने पर भी देवनागरी अक्षर का प्रचार था । 'लेखक'

१. विद्यापति के वंशजों को कर नहीं देना पड़ता था । सन १२५७ फसली में वे कर देने को वाध्य किये गये । पीछे इस सनद को जाली समझकर उनलोगों से यह गाँव छीन लिया गया । विद्यापति के वंशज भैया ठाकुर के समय में यह विचार हुआ था, अनेक विद्वानों ने उनकी ओर गवाही दी । आठवें श्लोक के अनुसार हिन्दू और मुसलमान राजा ही इस शपथ के अन्दर आते थे न कि अँगरेज ।

प्रज्ञावान् प्रचुरोर्व्वरं पृथुतराभोगन्नदीमातृकं
सारण्यं ससरोवरञ्च विसपीनामानमासीमतः
श्रीविद्यापतिशर्मणे सुकवये वाणीरसस्वादवि-
द्वीरश्रीशिवसिंहदेवनृपतिर्ग्रामं ददे शासनम् ॥२॥
येन साहसमयेन शस्त्रिणा तुङ्गवाहवरपृष्ठवर्तिना।
अश्वपत्तिवलयोर्बलं जितं गज्जनाधिपतिगौडभूभुजाम् ॥३॥
रौप्यकुम्भ इव कज्जलरेखा श्वेतपद्म इव शैवलवल्ली।
यस्य कीर्तिनवकेतककान्त्या ग्लानिमेति विजितो हरिणाङ्कः ॥४॥

द्विषन्नृपतिवाहिनी रुधिरवाहिनी कोटिभिः प्रतापतरुवृद्धये समरमेदिनी प्लाविता।
समस्तहरिदङ्गनाचिकुरपाशवासःक्षमं सितप्रवरपाण्डुरं जगति येन लब्धय्यँशः ॥५॥
मतङ्गजरथप्रदः कनकदानकल्पद्रुमस्तुलापुरुषमद्भुतं निजधनैः पिता दापितः।
अखानि च महात्मना जगति येन भूमीभूजा परापरपयोनिधिप्रथममैत्रपात्रं सरः ॥६॥
नरपतिकुलमान्यः कर्णशिक्षावदान्यः परिचितपरमार्थो दानतुष्टार्थिसार्थः।
निजचरितपवित्रो देवसिंहस्य पुत्रस्स जयति शिवसिंहो वैरिनागेन्द्रसिंहः ॥७॥
ग्रामे गृह्णन्त्यमुष्मिन् किमपि नृपतयो हिन्दवोऽन्ये तुरुष्काः।
गोकोलस्वात्ममांसैस्सहितमनुदिनं भुञ्जते ते स्वधर्मम्।
ये चैनं ग्रामरत्नं नृपकररहितं पालयन्ति प्रतापै-
स्तेषां सत्कीर्तिगाथा दिशि दिशि सुचिरं गीयतां वन्दिवृन्दैः ॥८॥

सन ८०७, सं० १४५५, शाके १३२१ शुभमस्तु।

बंगाल में पदावली का प्रचार

सर्व-सम्मति से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति मैथिल थे। इसलिये इस विषय पर अधिक न लिखकर मैं केवल यह बता देना चाहता हूँ कि बंगाल में विद्यापति की पदावली का प्रचार किस प्रकार हुआ। वासुदेव सार्वभौम के पहले बङ्गाल में टोल या पाठशाला

नहीं थी। बंगाली लोग संस्कृत-विद्या के केन्द्र, मिथिला में आकर पढ़ा करते थे। वासुदेव सार्वभौम कुशाग्रबुद्धि थे। उन्होंने शास्त्रार्थ में अपने गुरु (१) को भी पराजित किया। परिणाम यह हुआ सार्वभौम को सब पुस्तकें छीन ली गईं और शिष्य के नाते बंगालियों का मिथिला में आना-जाना बंद हो गया। सार्वभौम केवल अपनी प्रखर बुद्धि के बल सब दर्शन बंगाल में ले गये और नवद्वीप में विद्यापीठ स्थापित कर उनका प्रचार किया।

वासुदेव सार्वभौम के समय में या उसके पहले जो बंगाली पढ़ने के लिये मिथिला में आते थे, उन्हें स्वभावतः मिथिला-भाषा का ज्ञान हो जाता था। उन्होंने विद्यापति के पदों पर मुग्ध होकर उन पदों को लिखकर, अपने साथ बंगाल में लाना आरम्भ किया। क्रमशः बंगाल में इनका खूब प्रचार हुआ। चैतन्य महाप्रभु सार्वभौम के प्रधान छात्र थे। उन्होंने कीर्तन आरम्भ किया जिसमें विद्यापति के पदों का गाना अनिवार्य-सा होगया था। बंगाल में विद्यापति के पदों का अनुकरण खूब हुआ। कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इससे अछूते नहीं रह सके।

---

(१) यह बंगाल की किंवदन्ती है। मिथिला की किंवदन्ती यह है कि वहाँ की यह प्रथा थी कि अध्ययन समाप्त करके जाने के समय छात्रों से पुस्तकें छीन ली जाती थीं। उसी प्रथा के अनुसार वासुदेव से भी पुस्तकें छीन ली गईं, किन्तु ये बड़े धूर्त थे, इस विषय पर ये पहले से ही सतर्क थे। हर एक पुस्तक की दो प्रतियाँ इनके पास थीं। एक प्रति गुप्त स्थान में रखी थी जो जाने के समय उनके हाथ लगी। उसीकी सहायता से सार्वभौम ने बंगाल में दर्शनों का—विशेषतः न्याय-दर्शन का प्रचार किया।

विद्यापति का निवासस्थान

मिथिला में मधुबनी सब-डिवीजन (दरभंगा) संस्कृत-विद्या का केन्द्र माना जाता है। उसी सब-डिवीजन के अन्तर्गत कमतौल स्टेशन से दो कोस की दूरी पर विसपी (विस्फी) नामक एक गाँव है। पहले यह गढ़-विसपी के नाम से प्रसिद्ध था। यही विद्यापति का निवास-स्थान था। राजा शिवसिंह ने प्रसन्न होकर विद्यापति को यह गाँव दिया था। ताम्र-शासन-पत्र इस समय भी वर्तमान है। प्रतिलिपि पहले दी जा चुकी है। यहाँ विद्यापति की कुलदेवी विश्वेश्वरी का मन्दिर अभी तक विद्यमान है।

विद्यापति का वंश

पञ्जी (१) से विद्यापति के वंश का पूरा पता लगता है। उसके अनुसार विद्यापति का वंशवृक्ष पहले दिया जा चुका है।

---

(१) मिथिला में पञ्जी (पाँजि) और पञ्जीकार की उत्पत्ति राजा हरिसिंह देव के समय में हुई। मिथिला में मँगरौनी नामक गाँव में रहनेवाले पण्डित हरिनाथ उपाध्याय विदेश गये हुए थे। नीच जाति के किसी मनुष्य ने उनकी पत्नी के प्रति अपना दुरभिप्राय प्रकट किया। जब वह किसी प्रकार उस सती को अपने वश में नहीं ला सका तब एक दिन शिवमन्दिर जाती हुई उस पतिव्रता के ऊपर उसने एकाएक आक्रमण किया। भाग्यवश दोनों के बीच फुफकारता हुआ साँप आ पड़ा जिससे वह अपने सतीत्व की रक्षा कर सकी। वह दुष्ट तब भी अपनी दुष्टता से बाज नहीं आया। पण्डितजी के आने पर उसने उस सती पर व्यभिचारिणी होने के कलङ्क का टीका लगाया। परिणाम यह हुआ कि समाज और पति को उस सती का बहिष्कार कर देना पड़ा। अन्ततः उसने धार्मिक परीक्षा की शरण ली। हाथ पर पीपल के सात पत्ते रक्खे गये और उसपर जलती हुई लाल लौह-शलाका रक्खी गई। "यदि मैं चाण्डालगामिनी हूँ तो मेरा हाथ जल जाय" उसके यह कहते

विद्यापति के पूर्वज

विद्यापति के पूर्वज सब के सब विद्वान् एवम् राजदरबार में उच्च पदाधिकारी थे। इसलिये राजकीय उपाधि और उनकी रचना के साथ उनके नाम नीचे दिये जाते हैं।

कर्मादित्य—महामात्य, तिलकेश्वर मठ में कर्मादित्य का

ही हाथ जल गया। उपस्थित विद्वानों को पूरा विश्वास हो गया कि वह व्यभिचारिणी थी। वह सती एक विदुषी के घर पहुँची और उसने अपनी सारी रामकहानी कह सुनाई। उसने खूब सोच-विचार कर फिर उसी लौह-शलाका को शरण लेने की राय दी, किन्तु इस बार चण्डालगामिनी की जगह पतिभिन्न-चाण्डालगामिनी शब्द व्यवहृत करने की आवश्यकता बताई। फिर वैसा ही किया गया। इस बार उसका हाथ नहीं जला। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। सब बूढ़े इकट्ठे हुए। उन्होंने अनुसन्धान करना आरम्भ किया कि पति उच्च श्रेणी के विद्वान् होकर चाण्डाल किस प्रकार हुए। पीछे उन्हें पता लगा कि पति और पत्नी में सम्बन्ध (blood relation) है। इसलिये "चाण्डालः स्वजनागामी" स्मृतिशास्त्र के अनुसार पण्डितजी चाण्डाल ठहराये गये। फिर इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध रहने पर विवाह नहीं होने पावे—इस उद्देश्य से सब विद्वानों ने राजा हरिसिंह देव की शरण ली। उन्होंने पञ्जी की सृष्टि की जिसके अनुसार मैथिल ब्राह्मण तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये—(१) श्रोत्रिय, (२) योग्य और (३) जयवार। राजा ने सब ब्राह्मणों को बुलाया। इसके साथ यह भी कह दिया गया कि सब नित्यकर्म कर आवें। साथ-साथ यह भी घोषणा कर दी गई कि जिस क्रम से ब्राह्मण आवेंगे उसी क्रम से उनका श्रेणी-विभाग होगा। किया गया उलटा; जो वेदज्ञ और कर्मकाण्डी थे उन्हें आने में देर हुई। वे 'श्रोत्रिय' श्रेणी में रक्खे गये। जो विद्वान थे, किन्तु कर्मकाण्डी नहीं थे वे 'योग्य' श्रेणी में रक्खे गये। जो विद्वान् भी नहीं थे, कर्मकाण्डी भी नहीं थे, जिनमें केवल बाह्याडम्बर था, वे सबसे पहले पहुँचे और तृतीय श्रेणी (जयवार) में रक्खे गये।

नाम खुदा हुआ है। जिसमें ल० सं० २१२ लिखा हुआ है। (अब्दे नेत्रशशाङ्कपक्षगदिते श्रीलक्ष्मण-क्ष्मापतेर्मासि श्रावणसंज्ञके मुनितिथौस्वात्यां गुरौ शोभने। हावीपट्टनसंज्ञके सुविदिते हैहट्ट देवी शिवा कर्मादित्यसुमन्त्रिणेह विहिता सौभाग्यदेव्याज्ञया)। हावीडीह गाँव में यह लेख है।

गणेश्वर ठाकुर—सांख्य दर्शन और दण्डनीति के विशेषज्ञ, आह्निकोद्धार, गङ्गापत्तलक और सुगति-सोपान के रचयिता, हरिसिंह देव के मन्त्री (हरिसिंह-नामधेयो राजा। तस्य...गणेश्वरो नाम मन्त्री बभूव 'पुरुष-परीक्षा')

देवादित्य ठाकुर—सान्धिविग्रहिक।

वीरेश्वर ठाकुर—शत्रुसिंह तथा हरिसिंहदेव के मन्त्री, महामहत्तक, छान्दोग्यदशकर्मपद्धति (इसी पद्धतिके अनुसार मिथिला में इस समय भी विवाह आदि संस्कार होते हैं) के रचयिता। वीरेश्वर-रचित रत्नशतक कोइलख-निवासी पं० बबुआजी मिश्र ज्योतिषाचार्य के घर में है (श्रीमान् वीरेश्वरो मन्त्री ग्रन्थं रत्नशताह्वयम्, जीवेश्वरमुपाध्यायं नियुज्य कुरुते कृती)।

ज्योतिरीश्वर ठाकुर (विद्यापति के पितामहभ्राता)—पञ्चसायक, धूर्तसमागम, रङ्गशेखर, रतिरहस्य, वर्णनरत्नाकर (मैथिली में) आदि ग्रन्थों के रचयिता।

धीरेश्वर ठाकुर—महावार्तिक नैबन्धिक।

चण्डेश्वर ठाकुर—शैवमानसोल्लास, कृत्यचिन्तामणि, विवाद-रत्नाकर, कृत्यरत्नाकर, दानरत्नाकर, व्यवहार-रत्नाकर, शुद्धिरत्नाकर, पूजारत्नाकर, गृहस्थरत्नाकर इन सात रत्नाकरों के रचयिता। शैवमान-

सरोल्लास लालगंज नामक गाँव में है। गृहस्थ-रत्नाकर दरभंगा राजपुस्तकालय तथा उजानग्राम निवासी श्रीयुत जयरमण झा के घर में है। बिहार रिसर्च सोसाइटी ने राजनीति-रत्नाकर प्रकाशित किया है।

गणपति ठाकुर—देवसिंह के बड़े भाई गणेश्वर के राजमन्त्री, गंगा-भक्ति-तरङ्गिणी के रचयिता।

इस तरह चमकीले रत्नों से उज्ज्वल वंश में विद्यापति का जन्म था। स्वभावतः, परस्पर विद्वेष छोड़कर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की उनपर असीम कृपा बनी रही।

विद्यापति की संक्षिप्त जीवनी

विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था। बाल्यावस्था से ही विद्यापति कुशाग्रबुद्धि थे। महामहोपाध्याय हरिमिश्र विद्यापति के अध्यापक और महामहोपाध्याय पक्षधर मिश्र इनके सहाध्यायी थे, किन्तु पक्षधर मिश्र[1] इनसे उम्र में छोटे थे। पक्षधर मिश्र का लिखा हुआ विष्णुपुराण पाया जाता है जिसमें ल० सं० ३५४ लिखा हुआ है।

विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में आया-जाया करते थे। राजा गणेश्वर की मृत्यु २५२[2] ल० स० में

१ "शङ्करवाचस्पत्योः शङ्करवाचस्पती सदृशौ। पक्षधरप्रतिपक्षो लक्ष्यीभूतो न च क्वापि।" इसी श्लोक से पक्षधर की विद्या और प्रसिद्धि का पता लगता है।

२ लक्खन सेन नरेस लिहिअ जवे पक्ख पंचे वे
तम्महु मासहि पढ़म पक्ख पञ्चमी कहिअ जे
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल
पास बइसि बिसवासि राय गएनेसर मारल "कीर्तिलता" द्वि० पल्लव

हुई। अनन्तर कीर्तिसिंह राजा हुए। अध्ययन समाप्त कर विद्
पति कीर्तिसिंह के दरबार में रहने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि
दार्शनिक युग था और विद्यापति भी उच्च श्रेणी के दार्शनिक
किन्तु राज-दरबार में रहने के कारण सबसे पहले उन्हें अप
कवित्व-शक्ति और कल्पनाशक्ति का परिचय दिलाना आवश्
प्रतीत हुआ। यही कारण है कि सबसे पहले उन्होंने कीर्तिलता
रचना की। मैथिली में कीर्तिपताका भी इसी समय बनी होगी
कीर्तिसिंह के कोई सन्तान न थी। इसलिये कीर्तिसिंह के
भवसिंह राजा हुए। भवसिंह के समय की कोई विशेष घटना
लब्ध नहीं होती है, किन्तु विद्यापति के विभागसार और पुरुषपरी
से ज्ञात होता है कि भवसिंह राजा अवश्य थे चाहे उनका शासन-क
बहुत थोड़ा ही क्यों न हो। उनके बाद उनके पुत्र देवसिंह राजा हु
उनकी आज्ञा से विद्यापति ने "भूपरिक्रमा" की रचना की। इ
समय में श्रीदत्तनामक एक विद्वान् ने 'एकाग्नि दानपद्धति' ना
पुस्तक की रचना की थी। इससे मालूम पड़ता है कि उस स
राजदरबार में अनेक गण्यमान्य विद्वान् थे। देवसिंह के समय
ही शिवसिंह युवराज बनाये गये। उस समय से शासन का बाग
शिवसिंह के हाथ में था और शिवसिंह महाराज भी कहलाते

१ राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत्तत्सूनुना दर्पनरायणेन। "विभाग-सार"

२ वाग्वत्यां भवसिंहदेवनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः। "पुरुष-परीक्षा"

३ देवसिंहनिदेशाच्च नैमिषारण्यवासिनः।
... ...
पञ्चषष्टिदेशयुतां पञ्चषष्टिकथान्विताम्।
चतुष्पष्टिसमायुक्तामाह विद्यापतिः कविः। 'भू-परिक्रमा'

४ दातुः संसदि सम्मतो नरपतेः श्रीदेवसिंहस्य यः
श्रीदत्तो वितनोति पद्धतिमिमामेकाग्निदानोचिताम् "एकाग्निदानपद्धति"

एशियाटिक सोसाइटी में विद्यापति की आज्ञा से लिखा हुआ काव्य-प्रकाश-विवेक मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय भी शिवसिंह महाराजाधिराज कहलाते थे। विद्यापति और राजा शिवसिंह में बड़ी घनिष्टता थी। इसी समय विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा की रचना की। यद्यपि पुरुष-परीक्षा की रचना शिवसिंह की आज्ञा से हुई थी तथापि पुरुष-परीक्षा के अध्ययन से ही मालूम पड़ता है कि उस समय देवसिंह राजा थे। देवसिंह की मृत्यु ल० स० २९३ में चैत कृष्ण षष्ठी बृहस्पति के दिन हुई। एक ही समय राजा देवसिंह को ले जाने के लिये यमराज की सेना और राजा शिवसिंह के साथ घनघोर युद्ध करने के लिये यवन-सेना पहुँची। पिता को गङ्गातट पर पहुँचाया जिससे यमराज की आशा पर पानी फिर गया। यवन-सेना भी पराजित होकर उलटे पैर लौट गई और इसी समय शिवसिंह सिंहासनासीन हुए। चार महीनों के बाद सावन शुक्ल सप्तमी गुरुवार को शिवसिंह ने विद्यापति को बिसपी गाँव दे दिया

---

१ इति दर्शनाचार्य-ठक्कुर श्रीश्रीधरविरचिते काव्यप्रकाशविवेके दशम उल्लासः। शुभमस्तु समस्तविरुदावलीविराजमानमहाराजाधिराजश्रीमच्छिवसिंहसंभुज्यमानतीरभुक्तौ श्रीगजरथपुरनगरे सप्रक्रियसदुपाध्यायठक्कुरश्रीविद्यापतीनामाज्ञया खौआल सं० श्रीदेवशर्मा बलियास सं० श्रीप्रभाकराभ्यां लिखितैषा। ल० सं० २९१ कार्तिक वदि

२ तत्र श्रीशिवसिंहदेवे नृपतौ प्रियमित्रस्याज्ञया। 'पुरुषपरीक्षा'

३ भाति यस्य जनको रणजेता देवसिंहनृपतिर्गुणराशिः। 'पुरुषपरीक्षा'
इसमें 'भाति' वर्तमानकाल का प्रयोग है।

४ अनल रन्ध्र कर लक्खन नरवए सक समुद्र-कर-अगिनि-ससी
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ बार बेहप्पए जाउ लसी
देवसिंह जं पुहवी छड्डिअ अद्धासन सुरराअ सरू
विदित होता है कि देवसिंह के बाद विद्यापति उपर्युक्त पद गाते फिरते थे।

जैसा कि सनद से मालूम पड़ता है। सनद की प्रतिलिपि दी जा चुकी है। इसके बाद या युवराज होने के बाद ही शिवसिंह ने मधुबनी से दक्खिन पतौल-नामक गाँव में एक तालाब खुदवाया जिसका नाम 'रजोखरि' है। इस विषय में ये दो पंक्तियाँ मिथिला में प्रसिद्ध हैं—

पोखरि रजोखरि और सब पोखरा
राजा शिवसिंह और सब छोकरा

अर्थात् केवल एक तालाब 'रजोखरि' है और सब छोटे-छोटे गड्ढे हैं। केवल एक शिवसिंह राजा हैं, और सब छोटे-छोटे बच्चे हैं।

शिवसिंह के समान राजा और लखिमा देवी के समान गुणवती एवम् काव्यमर्मज्ञ रानी पाकर विद्यापति ने शृङ्गार-रस की सरिता बहा दी। विद्वानों के समाज में कालिदास के साथ इनकी तुलना की

---

१. यह लखिमा देवी राजा शिवसिंह की पत्नी थी जैसा कि "राजा शिवसिंह रूपनरायन, लखिमा देवी रमाने" "लखिमा देइ रानी कन्त" "बुझल सकल रस नृप सिवसिंह लखिमा देइ केर कन्त रे" आदि विद्यापति के पदों से ज्ञात होता है। चन्द्रसिंह की पत्नी दूसरी लखिमा देवी थी जिसने मिसरू मिश्र से विवादचन्द्र लिखवाया था जैसा कि उसके मङ्गलाचरण श्लोक (श्रीम० लखिमा देवी... चन्द्रसिंहनृपतेर्दयिता। रचयति विवादचन्द्रं मिसरूमिश्रोपदेशेन) से ज्ञात होता है।

२. किंवदन्ती है कि उस समय के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक विद्वान् लखिमा देवी की प्रशंसा सुनकर उसके साथ तर्क-वितर्क करने के लिये आ रहे थे। किसी प्रकार लखिमा देवी को भी यह ज्ञात हो गया। वह स्वयम् दासी के रूप में बाहर निकली। उसकी कमर पर घड़ा था। मालूम पड़ता था कि वह पानी लाने के लिये जा रही हो। रास्ते में पण्डितजी मिले, वह उनकी ओर बहुत देर तक देखती ही रह गई। इसपर पण्डितजी बोल उठे—

किं मां निरीक्षसि घटेन कटिस्थितेन, वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
अन्यं निरीक्ष पुरुषं तव भाग्ययोग्यं नाहं घटाङ्कितकटिं प्रमदां स्पृशामि॥

जाती है। सुना जाता है कि विद्यापति के पदों का अन्तःपुर में भी प्रचार था। राजा-रानी के समक्ष दासियाँ विद्यापति के पद गाया करती थीं। उन दासियों को गाने की शिक्षा दी जाती थी और राजा रानी के मनोरञ्जनार्थ अन्तःपुर में विद्यापति रचित पदों का

अर्थात् कमर पर घड़ा रखकर, चतुरता के साथ आँखें मूँद-मूँदकर मेरी ओर क्या देख रही हो? तुम्हारे (अपने ?) योग्य किसी दूसरे पुरुष की ओर अपनी आँखें क्यों नहीं ले जाती हो? जिसकी कमर पर घड़ा ढोने का चिह्न (घट्टा) हो गया है ऐसी स्त्री को मैं छूता भी नहीं हूँ।

लखिमा देवी ने अपने 'सत्पुरुषसमतित्व' का परिचय दिया—उसका उत्तर यह था—

कालोऽयं मे विघटितस्तव तुल्यरूपो सोऽयं भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥

अर्थात् और कोई विशेष कारण नहीं है। तुम्हारे समान एक मेरा नौकर खो गया है। मैं देख रही हूँ कि तुम वही हो या दूसरा कोई मनुष्य।

१. इसी कारण मालूम पड़ता है कि बङ्ग देश में यह धारणा हो गई थी, विद्यापति लखिमा देवी के प्रति अनुरक्त थे और लखिमा देवी के दर्शन के बिना विद्यापति के मुँह से कविता नहीं निकलती थी। नरहरि कहते हैं—

लखिमाक्षिथी राधा इष्ट वस्तु यार
यारे देखि कविता स्फुरय शतधार।

बङ्गालियों की इस समय भी यह धारणा है, किन्तु यह युक्तिसङ्गत नहीं मालूम पड़ती है क्योंकि (१) विद्यापति शैव थे। (२) विद्यापति कुलीन ब्राह्मण एवम् शिवसिंह के सम्मानित थे। यदि लखिमा देवी के प्रेम से उन्मत्त होकर इन पदों की रचना करते तो राजा के द्वारा दण्डित अवश्य होते। (३) शिवसिंह की मृत्यु के बाद लखिमा देवी तथा विद्यापति अनेक वर्षों तक जीवित थे और विद्यापति ने अनेक ग्रन्थों और पदों की रचना की, किन्तु किसी में लखिमा का नाम नहीं पाया जाता है। (४) कविता के [illegible] राजा रानी का नाम देना भारतवर्ष की प्राचीन प्रथा है। यथा—

जिनकी भनिता में राजा-रानी का नाम रहता था) गान होता था। इस तरह यह स्वर्ण-सुयोग पाकर ही इन पदों की उत्पत्ति हुई। पुरुष-परीक्षा और सनद से मालूम पड़ता है कि गौड़ और गज्जन

"वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन
केन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन"
"जयति पद्मावतीरमण-कवि भारती-
जयदेवभणितम्" 'जयदेव'

विद्यापति ने भी और-और राजाओं का इस प्रकार वर्णन किया है—

"हासिनि देइ पति गरुडनरायण देवसिंह नरपती"

श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त के द्वारा सम्पादित विद्यापति की पदावली की भूमिका से उद्धृत।

. यो गौड़ेश्वरगज्जनेश्वररणक्षोणीपु लब्ध्वा यशो
दिक्कान्ताचयकुन्तलेषु नयते कुन्दस्रजामास्पदम्।
तस्य श्रीशिवसिंहदेवनृपतेर्विप्रप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रन्थिल-दण्डनीति विषये विद्यापतिर्व्यातनोत् ॥१॥ 'पुरुष-परीक्षा'

शौर्यावर्जितगौड़गज्जनमहीपालोपनम्रीकृतानेकोत्तुङ्गमतङ्गजाश्वकनकच्छत्राभिरामोदयः।
'शैवसर्वस्वसार'

. येन साहसमयेन शक्तिया तुङ्गवाहवरपृष्ठवर्तिना।
अश्वपत्ति-बलयोर्बलं जितं गज्जनाधिपति-गौड़भूभुजाम्।

Hisrory of Tirhut नामक पुस्तक में रायबहादुर श्यामनारायण सिंह लिखते हैं "According to Purush-Pariksha and Saiva-Sarvaswasara, Vidyapati is said to have defeated the rulers of Gaud (Bengal) and Gajjana". ऊपर उद्धृत तीनों श्लोकों में गौड़ और गज्जन के राजाओं के विजेता शिवसिंह बताये गये हैं। किसी पण्डित की बुरी व्याख्या ने रायबहादुर को भ्रम में डाल दिया।

[illegible] राजाओं पर शिवसिंह ने विजय प्राप्त की थी, किन्तु यह [illegible] हुई, वे दोनों राजा कौन थे, इसका विशेष विवरण नहीं पाया जाता है।

[illegible] किसी के दिन एक-से नहीं रहते, यह प्राकृतिक नियम है। मुसलमान और हिन्दू राजाओं में बराबर मुठभेड़ हुआ ही करती थी। कई बार शिवसिंह ने मुसलमानी सेना को पराजित कर भगा दिया था। राज्याभिषेक के साढ़े तीन वर्ष बाद यवन-सेना से [illegible] युद्ध में पराजित हुए और मारे गये। यह भी एक किंवदन्ती है कि उस समय शिवसिंह मारे नहीं गये, किन्तु पराजित होकर भाग गये।

लड़ाई में जाने के पहले शिवसिंह ने अपने परिवार को विद्यापति के साथ राजा पुरादित्य के घर भेज दिया। जनकपुर के निकट 'राजाबनौली' नामक एक गाँव अभी तक विद्यमान है। यहीं उनकी राजधानी थी। अपने शत्रु, अर्जुनसिंह को जीतकर सप्तरी नामक परगने में अपना राज्य स्थापित किया, जैसा कि 'लिखनावली' के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है।

> हत्वा शत्रुकुलं तदीयवसुभिर्येनार्थिनस्तर्पिता
> [illegible]सप्तरीजनपदे राज्यस्थितिः कारिता।

---

१. किंवदन्ती है कि भवसिंह ने अपने बड़े भाई राजा भोगीश्वर से राज्य बँटवा लिया। भोगीश्वर के बाद गणेश्वर राजा हुए। गणेश्वर की हत्या में भवसिंह के पुत्र राजकुमार त्रिपुरसिंह का भी हाथ था। सम्भव है कि इसीलिये [illegible] "राज्यलुब्धेन त्रिपुरसिंह खाड़े" लिखा है। उसका पुत्र अर्जुनसिंह था। हो सकता है कि उसके समय में भी इसी तरह की कोई [illegible] हुई हो जिसका इशारा विद्यापति "बन्धोनृशंसायितः" से कर रहे हैं या [illegible] के दुराचार से पुत्र को भी यह प्रतिष्ठा-पत्र मिला हो।

सङ्ग्रामेऽर्जुनमूपतिर्विनिहतो वन्धौ नृशंसायितः
तेनेयं लिखनावली नृपपुरादित्येन निर्मापिता ॥१॥

—लिखनावली ।

अर्थात्

जिसने शत्रुओं को जीतकर उनके धन से याचकों को सन्तुष्ट किया, अपने बाहुवल से सप्तरी देश का उपार्जन कर वहाँ अपना राज्य स्थिर किया और बन्धुओं के प्रति क्रूरता दिखलानेवाले अर्जुन नामक राजा को लड़ाई में मारा। उस राजा पुरादित्य ने लिखनावली की रचना (विद्यापति के द्वारा) करवाई।

विद्यापति ने इसी जगह भागवत लिखा था जिसके अन्त में ३०९ लक्ष्मणाब्द लिखा हुआ है। लोगों का अनुमान है कि इससे दस वर्ष पहले ही विद्यापति ने लिखनावली लिखी। इस गाँव में उनका खुदवाया एक तालाब अभी तक विद्यमान है।

विद्यापति के ग्रन्थरचनाक्रम से पता लगता है कि वे पढ़ना समाप्त कर राज-दरबार में आये। वह दार्शनिकयुग था और विद्यापति भी दार्शनिक थे, किन्तु परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने कीर्तिसिंह को प्रसन्न करने के लिये सबसे पहले कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना की। देवसिंह के राजत्व-काल में ही शिवसिंह के युवराज होने पर विद्यापति केवल प्रशंसा का पुल बाँधनेवाले कवि ही नहीं रह गये, किन्तु शिवसिंह के घनिष्ठ मित्र होने के कारण विद्यापति को शासन में भी सहयोग देना पड़ता था। वीर पुरुषों की कथा कह प्रोत्साहन देना, धर्मवीरों की कथा के द्वारा धर्मपथ से टस से मस नहीं होने का उपदेश देना आदि ही भूपरिक्रमा और पुरुष-परीक्षा के उद्देश्य मालूम पड़ते हैं। कड़वे उपदेशों के साथ बीच-बीच में मनोरञ्जन होना भी आवश्यक है। चमत्कार-पूर्ण कविता ही विद्वानों के मनोरञ्जन का सच्चा

स्थान है। शिवसिंह विद्वान्, धीर, एवं गुणग्राही थे और उनकी धर्मपत्नी लखिमा भी उच्च कोटि की विदुषी थी। यह स्वर्ण-संयोग पाकर विद्यापति ने शृंगार-रस की सरिता बहा दी जिसकी कल-कल ध्वनि ने विद्यापति को अमर बना दिया। इसी समय की रचना पदावली है। शिवसिंह की मृत्यु के बाद विद्यापति ने कविता करना छोड़ दिया। जब तक उनकी उपासना का रूप स्थिर नहीं हो जाता था तब तक मन बहलाने के लिये उन्होंने लिखनावली लिखी। अनन्तर उनके उपास्य-देव शिव, उनकी अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा और जटावासिनी गङ्गा के विषय में 'शैवसर्वस्वसार', 'दुर्गाभक्ति-तरङ्गिणी' और 'गङ्गावाक्यावली' की रचना की। हार्दिक मित्र शिवसिंह के विरह से व्याकुल विद्यापति ने शृंगार-रस की कविता करना छोड़ दिया। यह इससे भी ज्ञात होता है कि विद्यापति के संस्कृत ग्रन्थों में (कीर्तिलता और पुरुष-परीक्षा में) भी शृंगार रस का जो कुछ था वह शिवसिंह की मृत्यु के बाद के बने हुए ग्रन्थों में नहीं पाया जाता ।

शिवसिंह की मृत्यु के बत्तीस बरस बाद ल० सं० ३२८ में अकस्मात् माघ या फागुन के महीने में विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा। शिवसिंह देखने में अत्यन्त सुन्दर थे। इसीलिये उनका विरुद रूपनारायण था, किन्तु स्वप्न में देखे हुए शिवसिंह साँवले थे। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण के स्वप्नाध्याय से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का स्वप्न मृत्युसूचक है। स्वप्न के विषय में विद्यापति स्वयं कहते हैं—

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप
बतिस बरस पर सामर रूप।
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
आब भेलहुँ हम आयु-विहीन।

सम्भव है कि यह अशुभ समाचार सुनकर रोना-पीटना शुरू हो गया हो। अनेक युद्ध, अनेक इष्ट मित्रों की मृत्यु देख-देखकर विद्यापति दुनिया से ऊब-से गये थे जैसा कि निम्नलिखित पदों से ज्ञात होता है—

'जतन जतेक धन पाप बटोरल, मिलि मिलि परिजन खाय
मरन क बेर हरि कोई न पूछय करम संग चलि जाय।'

'वयस, कवए चल गेलाह,
तोँहिं सेवइत जनम वहल तैओ न अपन भेला।'

'तातल सैकत वारि बूँद सम, सुत मित रमनि समाज।'

रोना-धोना सुनकर विद्यापति जरा भी विचलित नहीं हुए, प्रत्युत अपने परिवार को सान्त्वना देते हुए कहने लगे—

समदु समदु निअ लोचन नीर
ककरहुँ काल न राखथि थीर
विद्यापति सुगति क प्रस्ताव
त्याग के करुणा-रसक स्वभाव

इस समय भी मिथिला में प्रथा है कि लोग आसन्नमृत्यु वृद्ध पुरुष या स्त्री को गङ्गा या काशी ले जाया करते हैं। इसी प्रथा के अनुसार विद्यापति का गङ्गा जाना स्थिर हुआ। विद्यापति के पदों से (जिनमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना की कि गङ्गा मैया, देखना; मेरी मृत्यु तुम्हारी शरण में हो) ज्ञात होता है कि विद्यापति पहले से ही गङ्गातट पर देहत्याग करने के लिये उत्कण्ठित थे।

उनका एक यह पद है—

बड़ सुख-सार पाओल तुअ तीरे
छोड़इत निकट नयन बह नीरे
कर जोरि विनमओं विमलतरंगे
पुनं दरसन होय पुनमति गंगे

एक अपराध छमब मोर जननी
परसल माय पाय तुअ पानी
कि करब जप तप जोग धेआने
जनम कृतारथ एकहि सनाने
भनइ विद्यापति समदओं तोही
अन्त काल जनु बिसरह मोही

घर-वालों को उपदेश देकर कुलदेवता, विश्वेश्वरी को प्रणाम कर विद्यापति ने गङ्गा-तट जाने के लिये प्रस्थान किया। विद्यापति [illegible]पुर (बी० एन० डब्लू० रेलवे स्टेशन) पहुँचे। शाम हो रही थी। विद्यापति ने अपने साथियों से पालकी वहीं रखने के लिये कहा। उनका कहना था कि मैं बूढ़ा होकर भी इतनी दूर आया, क्या गङ्गाजी मेरे लिये थोड़ी दूर भी नहीं आवेगी। लोगों ने समझा कि मृत्यु निकट होने के कारण यह विद्यापति का प्रलाप था, किन्तु अपनी धारा छोड़कर वहाँ आई हुई गङ्गाजी को देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अभी तक वहाँ गङ्गा की धारा टेढ़ी नजर आती है। मृत्यु के कुछ ही पहले विद्यापति ने अपनी पुत्री को सम्बोधित कर कहा—

दुल्लहि तोहर कतय छथि माय
कहुन ओ आबथु एखन नहाय
वृथा बुझथु संसार विलास
पल पल नाना तरहक त्रास

फिर पुत्री को सान्त्वना देते हुए कहने लगे—

माए बाप जौं सद्गति पाव
सन्तति की अनुपम सुख आव
विद्यापतिक आयु अवसान
कार्तिक धवल त्रयोदशि जान ।

इस प्रकार ल० सं० ३२९ में कातिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की मृत्यु हुई। सुना जाता है विद्यापति की चिता पर अकस्मात् शिवलिङ्ग प्रकट हो गये। इस समय तक वहाँ शिव-मन्दिर है और फागुन में मेला होता है। वह मन्दिर पहले छोटा था, किन्तु केओटा के जमीन्दार बाबू बालेश्वर चौधरी ने एक नया मन्दिर बनवाया है। सचमुच यह कार्य प्रशंसनीय है, किन्तु साथ ही साथ आपने हिन्दी-साहित्य, और कविसम्राट् विद्यापति के साथ बड़ा अन्याय किया है। वह यह है कि विद्यापति का नाम-निशान उड़ाकर आपने शिवजी का नामकरण बालेश्वरनाथ कर दिया है। अब भी आपसे अनुरोध है कि शिवजी का नाम 'विद्यापतिनाथ' या 'महाकविनाथ' रखकर इस पाप का प्रायश्चित्त करें।

इस विषय में एक और भी रोचक किंवदन्ती है। इस समय के विद्वान् उसपर विश्वास करें या न करें यह, उनकी कृपा है, पर यह बात है सच्ची। सुना जाता है कि बी० एन्० डब्ल्यू० रेलवे की लाइन सीधे विद्यापति की चिता होकर बन रही थी। इसी उद्देश्य से चिता पर वर्त्तमान वृक्ष की शाखाएँ काटी जाने लगीं, किन्तु शाखाओं के काटे जाने पर उनसे खून निकलने लगा। साथ ही साथ उस लाइन के बनानेवाले इंजीनियर सख्त बीमार हो गये। अन्ततः बाध्य होकर वहाँ की लाइन टेढ़ी करनी पड़ी।

---

(१) A Siva linga sprang up where his pyre had been.
Grierson's Vernacular literature
of Hindustan Page 11

---- A Siva linga sprang up where he died.
Indian Antiquary Vol XIV. Page 189
वहाँ गङ्गा जाने की पूरी कथा भी है।

विद्यापति का परिवार

विद्यापति के पदों से उनके पुत्र-पुत्री और पत्नी के नाम मालूम पड़ते हैं।

धर्मपत्नी—मन्दाकिनी—'भनइ विद्यापति सुनु मन्दाकिनि जगते पहन विधान'

पुत्र········हरपति

पुत्री········दुल्लहि—'दुल्लहि तोहर कतय छथि माय'

पुत्र-वधू·····चन्द्रकला

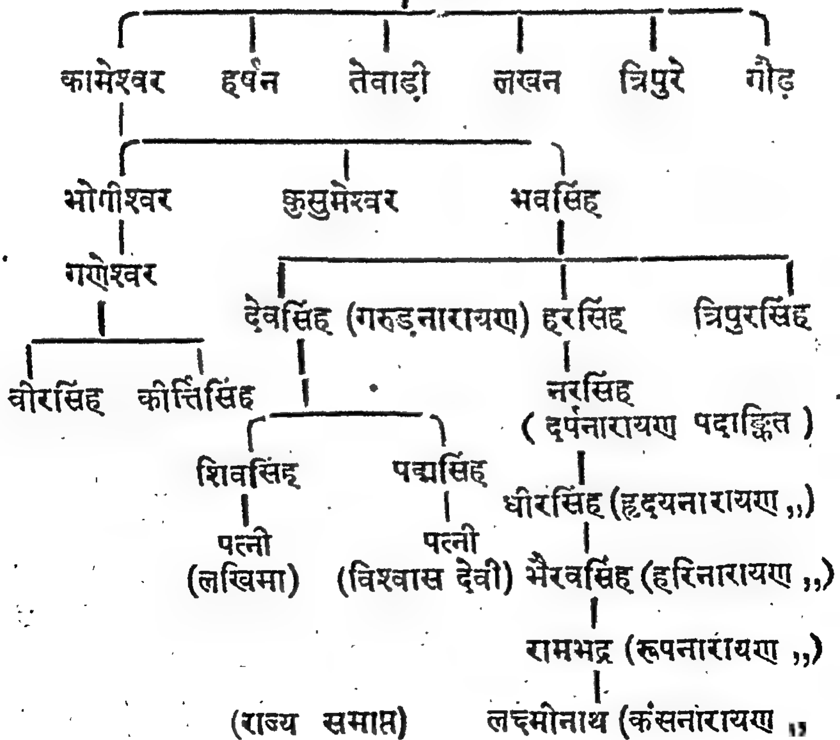
सुगौना-राज्यवंशावली

सुगौना के राजा-रानियों के साथ विद्यापति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके समय का निर्णय राज्य-वंशावली के सही ज्ञान पर निर्भर है। इसलिये वंशावली और उस वंश का संक्षिप्त विवरण नीचे दे दिया जाता है।

---

१. लोचन कवि-कृत रागतरंगिणी में चन्द्रकला की कविताएँ उद्धृत हैं और उनके नाम के "कवि विद्यापतिपुत्रवधूः" लिखा है।

वंशावली


ओएन ठाकुर
(ओइनी ग्रामोपार्ज्जक)
अतिरूप ठाकुर
विश्वरूप ठाकुर
गोविन्द ठाकुर
लक्ष्मण ठाकुर
कामेश्वर
हर्षन
तेवाड़ी
लखन
त्रिपुरे
गौड़
भोगीश्वर
कुसुमेश्वर
भवसिंह
गणेश्वर
देवसिंह (गरुड़नारायण)
हरसिंह
त्रिपुरसिंह
वीरसिंह
कीर्त्तिसिंह
नरसिंह
(दर्पनारायण पदाङ्कित)
शिवसिंह
पद्मसिंह
धीरसिंह (हृदयनारायण ,,)
पत्नी
(लखिमा)
पत्नी
(विश्वास देवी)
भैरवसिंह (हरिनारायण ,,)
रामभद्र (रूपनारायण ,,)
(राज्य समाप्त)
लक्ष्मीनाथ (कंसनारायण ,,

ओयनठाकुर को सम्भवतः उस समय के राजा नान्यदेव से एक गाँव मिला जो उन्हीं के नाम पर ओइनी नाम से विख्यात है। यह बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे स्टेशन के पास है। वहाँ के निवासी रेलवे स्टेशन को भी ओइनी नाम से पुकारते हैं। वहीं पर ओयन ठाकुर और उनके वंशज रहते थे।

इनका मूल 'ओयनवार ओयनी' था। मिथिला में हरएक ब्राह्मण का कुछ-न-कुछ मूल होता है। मूल में दो गाँवों के नाम रहते हैं—(१) उनके पूर्वज जिस स्थान के आदिम निवासी थे और (२) जहाँ पर आकर वे स्थायी रूप से रहने लगे, जैसे विद्यापति का मूल बिसइवार बिसपी था। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके पूर्वज पहले बिसइवार-नामक गाँव में रहते थे और पीछे बिसपी में स्थायी रूप से रहने लगे। ठीक इसी तरह ओयन ठाकुर के पूर्वज ओयनवार में रहते थे, किन्तु पीछे ओयनी में आकर स्थायी रूप से रहने लगे।

राजा हरिसिंहदेव के बाद गयासुद्दीन तुगलक ने सुगौना-वंशावली के स्थापक कामेश्वर को राजा बनाया। हरिसिंहदेव के पलायन का समय १३२४ ई० है। सम्भव है कि उसी वर्ष कामेश्वर का राज्याभिषेक हुआ हो। कामेश्वर के जीवनकाल में ही फिरोज

---

१. [illegible] विद्यापति के पूर्वज चण्डेश्वर थे और कामेश्वर ठाकुर [illegible] थे। [illegible] ई० में गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंहदेव को निकाल दिया और कामेश्वर को उनके स्थान में राजा किया। दूसरी किंवदन्ती यह है [illegible] कर रहे थे। अन्य राजाओं के द्वारा यज्ञ में विघ्न-[illegible] होकर राज्य छोड़ वन में चले गये। अराजकता [illegible]। अन्त में मिथिला का शासन मुसलमानों के हाथ में आया और [illegible] तुगलक ने कामेश्वर ठाकुर से प्रसन्न होकर उनको राजा बनाया।

शाह तुगलक ने भोगीश्वर को राजा बनाया। भोगीश्वर और फिरोज शाह में मित्रता-सी हो गई थी। उनके बाद गणेश्वर राजा हुए। ल० सं० २५२ में गणेश्वर ने असलान-नामक नवाब को युद्ध में पराजित किया। असलान ने कपट से राजा को बुलाकर उनका वध कर डाला। गणेश्वर के पुत्र वीरसिंह और कीर्त्तिसिंह ने जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह की सहायता से असलान को पराजित कर विजयलक्ष्मी पाई। सुलतान ने अपने हाथ से कीर्त्तिसिंह का अभिषेक किया। वीरसिंह और कीर्त्तिसिंह निःसन्तान मरे। इसलिये कीर्तिसिंह के बाद भवसिंह राजा हुए। सम्भव है कि भवसिंह के समय में ही ओयनी छोड़कर राजपरिवार देकुली आये होंगे। देवसिंह की राजधानी होने के कारण इसका नाम देवकुली (देकुली) रक्खा गया। यह स्थान लहेरियासराय स्टेशन से ३–४ मील की दूरी पर है और उस समय के धर्माधिकारी अभिनव वर्द्धमान उपाध्याय-द्वारा स्थापित वर्द्धमानेश्वर नामक शिव-लिंग अभीतक विद्यमान है। इसी के समीप वागवती नदी के तट पर शिवमन्दिर में भवसिंह की मृत्यु हुई। देवसिंह ने सागरपुर

---

१. तसु नन्दन भोगीसराअ, वर भोग पुरन्दर।
तासु तनअ नअ विनअ गुन गरुअ राए गएनेस।

२. पिअसखि भणि पिअरोज साह सुरतान समानल।

३. कीर्तिलता से पता लगता है कि असलान को जीतकर सुलतान ने अपने हाथ से कीर्तिसिंह का अभिषेक किया। उसी ग्रन्थ से यह भी मालूम पड़ता है कि वीरसिंह युवराज भी थे, किन्तु मालूम पड़ता है कि राजा हर्षवर्धन के बड़े भाई की तरह कीर्त्तिसिंह के बड़े भाई ने शोक से व्याकुल हो राज्य नहीं लिया हो।

४. 'हासिनि देइ पति गरुड़ नारायन देवसिंघ नरपति' से मालूम पड़ता है कि देवसिंह का विरुद गरुड़नारायण था।

[illegible] में एक बड़ा तालाब खुदवाया; हाथी, रथ, तुलापुरुष आदि [illegible] दान किया। सम्भव है कि किसी कारण देवकुली बहुत दिनों [illegible] राजधानी न रह सकी। वहाँ से कुछ दूर पर राजधानी चली गई जिसका नाम शिवसिंहपुर है। गजदान और रथदान के बाद इन दोनों को स्थायी महत्त्व देने के लिये उसका नाम गजरथपुर रख दिया गया। यही नाम सनद में पाया जाता है। [illegible]सिंह की मृत्यु [illegible] १४०३ में हुई। उसी समय शिवसिंह राजा बने। उसके ३॥ [illegible] मुसलमान-सेना के साथ लड़ाई में शिवसिंह मारे गये। त्रैलोक्य-नाथ भट्टाचार्य का कहना है कि ज्येष्ठता के अनुसार पद्मावती ने १॥ वर्ष तक और लखिमा देवी ने ९ वर्षों तक राज्य किया। विद्यापति की कोई ऐसी कविता नहीं है जिसमें केवल पद्मावती या लखिमा देवी का नाम हो। सम्भव है कि शिवसिंह की मृत्यु के बाद भी विद्यापति ने जो पद बनाये उनमें भी शिवसिंह के साथ ही रानी लखिमा देवी का नाम रक्खा हो। कविवर [illegible] का कहना है कि शिवसिंह की मृत्यु के बाद अराजकता-सी फैल गई। शिवसिंह के मन्त्री चन्द्रकर का पुत्र अमृतकर पटना गया, और उसने बादशाह के प्रधान राजकर्मचारी को प्रसन्नकर [illegible]। अब राजधानी बदल गई। नवीन राज-

१ [illegible] है कि शिवसिंह रणक्षेत्र में उपस्थित हो सेनाव्यूह को भेद कर सम्राट् के पास पहुँचे, और अपनी तलवार से उनका शिरस्त्राण उड़ाते हुए, उसी प्रकार [illegible] निकल जंगल की ओर चले गये। उनके पीछे मुसलमानी सेना दौड़ी, किन्तु सम्राट् ने अपनी सेना को यह कहकर रोका—"शिवसिंह महावीर [illegible] हैं, उन्हें मत पकड़ो, जिस समय उन्होंने मेरा शिरस्त्राण उड़ाया, [illegible] चाहते तो मेरा सिर भी उड़ा देते, उन्होंने वीरोचित काम किया, [illegible] अब नहीं लौटेंगे। उनके वंश में यदि कोई हो तो उसे राज्य [illegible]।" मैथिल-कोकिल, पृष्ठ १९

धानी का नाम पद्मा रक्खा गया जो अभी तक उसी नाम से प्रसिद्ध है। बारह वर्षों तक शिवसिंह की खबर नहीं पाकर लखिमा देवी ने कुश का शिवसिंह बनाकर उसको जलाया और उसके साथ स्वयम् सती हो गई। उसके बाद एक वर्ष के लिये पद्मसिंह राजा हुए। उसके बाद उनकी पत्नी विश्वासदेवी रानी हुई। उसने अपने नाम पर खजौली स्टेशन के पास 'विसौलि' नाम का एक गाँव आबाद किया। उन्होंने बारह वर्षों तक राज्य किया। उन्हीं के राज्यत्व-काल में शैवसर्वस्वसार और गङ्गावाक्यावली की रचना हुई। विभाग-सार के आरम्भ में विद्यापति ने भवसिंह और दर्पनारायण को राजा कहा, किन्तु हरिसिंहदेव के विषय में मौन धारण कर लिया। इससे पता लगता है कि हरिसिंह को राज्य नहीं मिला। वर्द्धमान उपाध्याय के कृत्यमहार्णव में एक श्लोक पाया जाता है जिससे अनुमान कर सकते हैं कि कुछ समय तक हरिसिंहदेव ने भी राज किया। जो कुछ हो उस समय कोई विशेष रचना या घटना नहीं हुई। उनके बाद नरसिंहदेव राजा हुए। उनका

१. संग्रामाङ्गणसीमभीमसदृशस्तस्यानुजस्संलसद्दानस्वर्पितकल्पवृक्षमहिमासौ पद्मसिंहो नृपः। "शैवसर्वस्वसार"

२. सम्भूता पद्मसिंहक्षितिपतिदयिता धर्मकर्मैकसीमा
पत्युर्सिंहासनस्था पृथुमिथिलमहीमण्डलं पालयन्ती

३. श्रीमद्विश्वासदेवी जगति विजयते चर्ययाऽरुन्धतीव —"शैवसर्वस्वसार"

४. राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत् तत्सूनुना दर्पनरायणेन।
राज्ञा नियुक्तोऽत्र विभाग-सारं विचार्य विद्यापतिरातनोति। —"विभागसार"

५. राजोपजीव्यो हरिसिंहनामा ततो नृपो दर्पनरायणाऽभूत्।
—"मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र"

६. इनकी पत्नी धीरमती ने दानवाक्यावली विद्यापति से लिखवाई थी।

... था जैसा कि विभागसार, विशादचन्द्र, ... आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है। रुचपति-कृत ... की टीका में नरसिंहदेव का नाम भी पाया जाता है। ... के अनन्तर उनके पुत्र धीरसिंह राजा हुए। धीरसिंह का ... था। प्राकृतकाव्य सेतुबन्ध की टीका सेतुदर्पणी ... के समय लिखी गई थी। उस पुस्तक से यह ज्ञात है कि ... का पूर्वार्द्ध उनका राज्य-शासन-काल था और ... कंसनारायण भी था। दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में भी ... विरुद पाया जाता है। दुर्गाभक्तितरङ्गिणी ही विद्या... की अन्तिम रचना है। धीरसिंह के बाद भैरवसिंह राजा हुए।

१ ... धीरसिंहः ... कंसनारायणः

—दुर्गाभक्तितरङ्गिणी

२. ... समासादितभूमिनीतिः।
... प्रतापो नरसिंहदेवः॥

—रुचि-पति-कृत अनर्घराघव टीका

३. ... लक्ष्मणसेनदेवीयैकविंशत्यधिकशतत्रय ......
... रामसत्प्रक्रियाविराजमान-रिपुराज-कंसनारायण-शिव-... धीरसिंह-सम्भुज्यमानायां तीरभुक्तौ ... सदुपाध्यायपदीधुतकरणामात्यजेन ... परार्थे च लिखितमिदं सेतुदर्पणीपुस्तकमिति।
यह पुस्तक दरभंगा राज-पुस्तकालय में है।

४. ... कंसनारायणः।
... त्रिपुरारिकंसनारायणः॥

—दुर्गाभक्तितरङ्गिणी

... है कि कंसनामक किसी राजा को उन्होंने युद्ध में पराजित किया था।

भैरवसिंह के दरबार में वर्धमान उपाध्याय और वाचस्पति मिश्र के सदृश विद्वान् थे। उनकी पत्नी जयात्मा भी विदुषी थी। वाचस्पति मिश्र ने जयात्मा की आज्ञा से द्वैतनिर्णय लिखा था। सम्भव है कि विद्यापति की मृत्यु भी इन्हींके समय में हुई हो। तारसराय स्टेशन से एक कोस पूरब-उत्तर कोने में जरहटिया गाँव है। वहाँ एक बहुत बड़ा तालाब है। सुना जाता है कि भैरवसिंह ने यह तालाब खुदवाया था और इसके यज्ञ में मीमांसा-दर्शन के विशेषज्ञ चौदह सौ विद्वान् बुलाये गये थे। किंवदन्ती है कि विभीषण को भी निमन्त्रण दिया गया था और आपने आकर इस यज्ञ को सुशोभित किया था। भैरवसिंह ने १०० तालाब खुदवाये थे, तुलापुरुष दान किया था। हरिनारायण आपका विरुद था, किन्तु अनर्घराघव की टीका में

---

(१) वाचस्पति मिश्र-रचित व्यवहारचिन्तामणि, कृत्यमहार्णव, महादाननिर्णय तथा वर्धमान उपाध्याय-रचित दण्डविवेक से यह ज्ञात होता है।

श्रीवाचस्पतिधीरं सहकारितां समासाद्य
श्रीभैरवेन्द्रनृपतिः स्वयं महादाननिर्णयं तनुते—'महादान-निर्णय'
उच्छृङ्खलप्रखलखण्डनपण्डितेन श्रीभैरवेण मिथिलापृथ्वीश्वरेण
तेनानुकम्प्य सकृदप्यवलोक्यमाना श्रीवर्धमानकृतिनोऽस्तु कृतिः कृतार्था।
—'दण्डविवेक'

(२) श्रीभैरवेन्द्रधरणीपतिधर्मपत्नी राजाधिराजपुरुषोत्तमदेवमाता।
वाचस्पतिं निखिलतन्त्रविदं नियुज्य द्वैते विनिर्णयविधिं विधिवत्तनोति।
"द्वैतनिर्णय"

(३) विधाय सरसीशतं नगरपत्तनादीनदात ......
य एष नृपभैरवः समरसीम्नि पञ्चाननो जयत्यविधिदारको जगति राजवृन्दारकः
"महादान-निर्णयः"

[illegible] और हरिनारायण दो विरुद पाये जाते हैं। उनके बाद [illegible] पुत्र [illegible] राजा हुए।

[illegible] विरुद [illegible] था, किन्तु विद्यापति ने भैरवसिंह [illegible] भी [illegible] विरुद का व्यवहार किया है। जान पड़ता [illegible] किसी खास राजा का विरुद नहीं था, जो देखने [illegible] होते थे, वे भी रूपनारायण कहलाते थे। यही कारण [illegible] भी रूपनारायण कहलाते थे।

राजा शिवसिंह रूपनारायण
[illegible] देइ पति भाने

[illegible] बाद उनके पुत्र लक्ष्मीनाथदेव राजा हुए। यवन-सेना के [illegible] में [illegible] मृत्यु हुई और यहीं इस वंश का अन्त हुआ।

---

(१) [illegible] त्रिपुराज [illegible] भवभक्ति-परायण श्री [illegible] भैरवसिंहदेवनिदेश-प्रोत्साहित इत्यादि

अनर्घराघव टीका

(२) [illegible] हरिनारायणात्मज—महाराजाधिराजश्रीमद्रामभद्रपादानां [illegible] विवेकः समाप्तः। ल० सं० ३२६ पौषवदि १२ [illegible] ..... [illegible] लिखितेयंपुस्तकेति। इसी पुस्तक के [illegible] है कि भैरवसिंह का हरिनारायण विरुद था।

[illegible] श्रीरामभद्रस्ततः।—'गङ्गाकृत्यविवेक'

(३) [illegible] राजधर्मोचितः
[illegible] नाथो [illegible]
[illegible] सिंह [illegible] उदयः
[illegible] नुजन्मा जय—
[illegible] श्री [illegible] नारायणः—'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी'

धीरसिंह और भैरवसिंह

विश्वस्त सूत्र से मुझे वंशावली मिली थी जिसके अनुसार भैरवसिंह धीरसिंह के पुत्र मालूम पड़ते हैं, किन्तु विद्यापति की दुर्गाभक्तितरङ्गिणी और रुचिपति उपाध्याय कृत अनर्घराघव टोका से ज्ञात होता है कि भैरवसिंह धीरसिंह के छोटे भाई थे। इसे ही प्रामाणिक मानना पड़ेगा।

ल० अ० ३२१ में लिखी हुई सेतुदर्पणी से ज्ञात होता है कि उस समय धीरसिंह राजा थे। वर्धमान कृत तड़ागयागपद्धति से ज्ञात होता है कि ३२१ ल० सं० में भैरवसिंह राज्य करते थे। इस परस्पर विरुद्ध वर्णन का यही अर्थ मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार देवसिंह के राजत्वकाल में शिवसिंह महाराजाधिराज कहलाते थे उसी प्रकार सम्भव है कि धीरसिंह के राजत्वकाल में भैरवसिंह युवराज बनाये गये और राज्य की बागडोर उन्हीं के हाथ में रही और भैरवसिंह महाराज भी कहलाते थे। यही कारण है कि विद्यापति ने दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में दोनों राजाओं का वर्णन किया है।

---

(१) उपर्युक्त श्लोक के
'श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्यानुजन्मा' अंश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

(२) स्फुरत्प्रतापो नरसिंहदेवः (पहले उद्धृत किया गया है)

सूनुस्तस्य वसुन्धरापरिवृढस्यानन्दकन्दः क्षिते-
राधारो जयताभशेषविदुषां विश्वालकल्पद्रुमः
दाने कर्णकथावलोपनिपुणः संसाररत्नाङ्कुरो
भूमीपालशिरोमणिर्विजयते श्रीभैरवेन्द्रो नृपः।

Cal. Sanskrit College Mss.

(३) एकं[१] द्वि[२] रामं[३] गुणिते नृपलक्ष्मणाब्दे
श्रीभैरवक्षितिभुजा नृपशेखरेण
चक्रे यथा .... तडागयागपद्धति

(४) काव्यप्रकाशविवेक का यह अंश पहले उद्धृत हो चुका है।

विद्यापति का समय

विद्यापति के ग्रन्थों तथा समसामयिक अन्यान्य ग्रन्थों में उल्लिखित समय से प्रस्तुत समय के निर्णय में पूरी सहायता मिलने की आशा है। इसलिये सबसे पहले उनका उल्लेख कर मैं अपना विचार प्रकट करना चाहता हूँ। वे ये हैं—

(१) विद्यापति के स्वहस्तलिखित भागवत के अन्त में ल० सं० ३०९ का उल्लेख है।

(२) सम्भवतः लिखनावली २९९ ल० सं० में लिखी गई थी।

(३) लक्ष्मणाब्द २९३ में देवसिंह की मृत्यु हुई। उसी बरस शिवसिंह का राज्याभिषेक भी हुआ।

(४) विद्यापति की सनद में ल० सं० २९३ का उल्लेख है।

(५) विद्यापति की आज्ञा से देवशर्मा और प्रभाकर के द्वारा ल० सं० २९१ में लिखित काव्यप्रकाश-विवेक बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में मिला है। इसकी प्रतिलिपि पादटिप्पणी में पहले दी जा चुकी है।

(६) शिवसिंह की मृत्यु के बत्तीस वर्ष बाद विद्यापति ने काले शिवसिंह को स्वप्न में देखा जैसा कि विद्यापति के पद "सपन देखल हम सिवसिंघ भूप, बतिस बरस पर सामर रूप" से ज्ञात होता है।

(७) धीरसिंह की आज्ञा से रत्नेश्वर ने 'सेतुदर्पणी' लिखी थी। उस पुस्तक के अन्त में उसका समय ३२१ ल० सं० दिया हुआ है। उसी राजा के राजत्वकाल में विद्यापति ने भी 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी' लिखी थी।

(८) विद्यापति ने ल० सं० २५२ (जब गणेश्वर की मृत्यु हुई थी) के लगभग 'कीर्त्तिलता' की रचना की थी।

(९) "कविशेखर भन अपुरव रूप देखि
राय नसिर साह भजलि कमलमुखि" इति विद्यापतेः
'रागतरङ्गिणी'

नासिर साह का राज्यकाल १४२६ ई० से १४५१ ई० तक था।

(१०) विद्यापति की रचना का आदिम काल अपभ्रंश-युग था और उन्हीं के समय में अपभ्रंश-युग का अन्त हो गया और देशी भाषा का युग आरम्भ हुआ।

(११) विद्यापति ने भोगीश्वर के समय में भी एक पद की रचना की थी जैसा कि विद्यापति के पद "विद्यापति कवि गावय तोहर पहु अछि गुनक निधान रे। राए भोगीसर सब गुन आगर पदमा देइ रमान रे" से ज्ञात होता है।

उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि विद्यापति की ग्रन्थ-रचना का कार्य लगभग २५२ ल० सं में आरम्भ हुआ और लगभग ३२१ ल० सं० तक जारी रहा। यदि भोगीश्वर नाम से अङ्कित पद विद्यापति की रचना हो तो और भी आठ-दस वर्ष पहले विद्यापति ने रचना करना आरम्भ किया होगा। यह अनुमान युक्तिसंगत मालूम पड़ता है।

इधर विद्यापति के जन्म का समय निश्चित रूप से जानने के लिये कोई साधन नहीं है, किन्तु मिथिला में प्रचलित पदों से विद्यापति की मृत्यु का समय जानना कठिन नहीं है। पहले बताया जा चुका है कि ल० सं० २९३ में शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ। वह चैत का महीना था। शिवसिंह ने तीन वर्ष और नौ महीनों तक राज्य किया अर्थात् ल० सं० २९६ के पूस महीने तक शिवसिंह राजा थे। उनकी मृत्यु के ३२ बरस बाद अर्थात् ल० सं० ३२८ के माघ या फागुन में विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा। जिन पुराणों में बुरे स्वप्नों के बुरे फल और अच्छे स्वप्नों के अच्छे फल

बताये गये हैं उन पुराणों में यह भी बतलाया गया है कि उन स्वप्नों का फल कब मिलता है। उदाहरण के लिये ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण-खण्ड ७० वाँ अध्याय के श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

स्वप्नस्तु प्रथमे यामे संवत्सरफलप्रदः।
द्वितीये चाष्टभिर्मासैस्त्रिभिर्मासैस्तृतीयके।
चतुर्थे चार्द्धमासेन स्वप्नः स्यात्तु फलप्रदः।

रात के पहले पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल देता है, दूसरे पहर में देखा हुआ स्वप्न आठ महीनों में, तीसरे पहर में देखा हुआ स्वप्न तीन महीनों में और चौथे पहर में देखा हुआ स्वप्न पन्द्रह दिनों में फल देता है।

इसके अनुसार आठ महीनों में (३२९ ल० सं० में) विद्यापति की मृत्यु हुई। विद्यापति की मृत्यु के विषय में सुना जाता है—

कातिक धवल त्रयोदसि जान
विद्यापति क आयु अवसान

अर्थात् कातिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की मृत्यु हुई। जन्मतिथि के निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होने के कारण कातिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की जयन्ती मानी जाती है। इसलिये विद्यापति की मृत्यु तिथि ३२९ ल० सं० में कातिक शुक्ल त्रयोदशी मालूम पड़ती है।

विद्यापति की जन्मतिथि के विषय में अनुमान और किंवदन्ती का ही सहारा लेना पड़ेगा।

किंवदन्ती है कि विद्यापति शिवसिंह से दो बरस बड़े थे और राज्याभिषेक के समय शिवसिंह की उम्र ५० वर्ष की थी। इस किंवदन्ती के अनुसार २९३ ल० सं० में विद्यापति की उमर ५२ वर्ष की थी और उनकी मृत्यु ९० वर्ष की उम्र में हुई।

उनकी प्रथम पुस्तक कीर्तिलता की रचना २५२ ल० सं० के

लगभग हुई थी। इस समय विद्यापति कम से कम बीस बरस के अवश्य होंगे। इस प्रकार अनुमान से मालूम पड़ता है कि विद्यापति का जन्म २३२ लगभग लक्ष्मणाब्द में हुआ होगा। इस तरह विद्यापति की मृत्यु ९७ वर्ष की उम्र में हुई होगी।

लक्ष्मणाब्द और अन्य संवत्

लक्ष्मणाब्द कब आरम्भ हुआ, इस विषय में अनेक मत हैं। लक्ष्मण सेन के पाँच शिलालेख मुझे ज्ञात हैं। यदि उन शिलालेखों पर समालोचना की दृष्टि से विचार किया जाय तो एक पुस्तक ही हो जायगी। इसलिये अयोध्याप्रसाद-कृत 'गुलज़ारे विहार', बाबू ब्रजनन्दनसहाय-कृत मैथिल कोकिल, पंडित रामवृक्षशर्मा द्वारा सम्पादित पदावली आदि की विस्तृत विवेचना और उनकी आलोचना की उलझन में समय नहीं नष्ट कर विद्यापति के पदों के आधार पर ही लक्ष्मणाब्द का दूसरे प्रकार के संवतों से मिलान किया जाता है।

विद्यापति शिवसिंह के राज्याभिषेक के वर्णन में कहते हैं—

अणल[३] रंध्र[९] कर[२] लक्खण नरवइ सक समुंद[४] कर[२] अगिनि[३] ससि[१]।

अर्थात् ल० सं० २९३ और शकाब्द १३२४। अभी तक मिथिला के ज्योतिषी जन्मपत्रों और पंचागों में शकाब्द लिखा करते हैं। शकाब्द वैशाख की संक्रान्ति (मेषार्क) से शुरू होता है। गत वर्ष १८५७ शकाब्द था और मेषसंक्रान्ति (१३-४-३६) से १८५८ शकाब्द शुरू हुआ है। इस तरह ईसवी और शकाब्द में ७८-७९ वर्षों का अन्तर होता है और शकाब्द और लक्ष्मणाब्द में १०३१ वर्षों का अन्तर प्रतीत होता है। इस तुलना से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि लक्ष्मणाब्द और ईसवी में १११० वर्षों का अन्तर पड़ता है। इसलिये जान पड़ता है कि—

(१) ल० सं० २९३, ईसवी १४०३ में शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ और उसी वर्ष विद्यापति को बिसपी गाँव भी मिला।

(२) ल० सं० २९६, ईसवी १४०६ में शिवसिंह मरे।

(३) ल० सं० ३२८, ईसवी १४३८ में विद्यापति ने स्वप्न देखा।

(४) ल० सं० ३२९, ईसवी १४३९ में विद्यापति की मृत्यु हुई।

(५) विद्यापति का जन्म अनुमान से ल० सं० २३१ और १३४९ ईसवी में हुआ होगा।

विद्यापति की रचनाएँ

(१) कीर्तिलता—कीर्तिसिंह के पिता गणेश्वर की मृत्यु, कीर्तिसिंह का विजय, राज्याभिषेक आदि का वर्णन अपभ्रंश भाषा में है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादकत्व में बङ्गला अनुवाद और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। प्रो० बाबूराम सक्सेना के हिन्दी-अनुवाद और भूमिका के साथ काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने भी इसे प्रकाशित किया है। पिण्डारुछ-निवासी स्वर्गीय कविवर चन्दा झा के घर में एक पुरानी पुस्तक है। इन दोनों पुस्तकों की अपेक्षा इस पुस्तक के पाठ में अनेक भेद हैं।

(२) कीर्तिपताका—यह अपभ्रंश और संस्कृत में है। नैपाल-दरबार राज-पुस्तकालय में यह है।

(३) भूपरिक्रमा—बलराम शापग्रस्त होकर प्रायश्चित्त के लिये प्रत्येक तीर्थ में गये। रोचक कहानियों के साथ उनका वर्णन है। इसकी एक प्रति कलकत्ता

संस्कृत कौलेज में है। यह पुस्तक राजा देवसिंह की आज्ञा से लिखी गई थी।

(४) पुरुष-परीक्षा—यह राजा शिवसिंह की आज्ञा से लिखी गई थी, किन्तु उसी ग्रन्थ से मालूम पड़ता है कि उस समय देवसिंह भी जीवित थे। पारावार नामक राजा सुबुद्धि नामक मुनि से पूछते हैं कि मैं अपनी पुत्री पद्मावती किसे दूँ। मुनि ने कहा "पुरुष को"। उन्हों ने शास्त्रविद्य, शस्त्र-विद्य आदि अनेक भेदों के द्वारा पुरुष का लक्षण वतलाया है। इसमें महमूद गजनी के समय से लेकर विद्यापति के समय तक की अनेक सच्ची घटनाओं का वर्णन है। फोर्ट विलियम कौलेज के बङ्गभाषा के अध्यापक हरप्रसाद राय ने १८१५ ई० में बङ्गानुवाद प्रकाशित किया था। पुरुष-परीक्षा उस कौलेज की पाठ्य पुस्तक थी। लार्ड विशव टर्नर के परामर्श से राजा कालीकृष्ण बहादुर ने १८३० ई० में इसका अँगरेजी अनुवाद किया था। आई० सी० एस्० परीक्षा के लिये भी यह पाठ्य पुस्तक थी। पटना और प्रयाग विश्व-विद्यालयों की प्रवेशिका परीक्षा में पुरुष-परीक्षा

(१) इस पुस्तक की खोज में मैं कलकत्ता गया था, किन्तु संस्कृत कौलेज में यह पुस्तक नहीं मिली।

(२) देवसिंहनिदेशाश्च नैमिषारण्यवासिनः। —'भूपरिक्रमा'

(३) निदेशान्निःशङ्कं सदसि शिवसिंहक्षितिपतेः।
कथानां प्रस्तावं रचयति विद्यापतिकविः॥ —'पुरुष-परीक्षा'

का कुछ अंश पाठ्य पुस्तक के रूप में है। कविवर चन्दा झा कृत मैथिली अनुवाद सहित यह दरभंगा में प्रकाशित हुआ था और एक मूल संस्करण डा० गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित बलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। हिन्दी अनुवाद के साथ वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई ने भी इसे प्रकाशित किया है। हाल ही में डा० ग्रियर्सन ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका और अँगरेजी अनुवाद के साथ इस पुस्तक का सम्पादन किया है।

(५) लिखनावली—यह संस्कृत ग्रंथ रजावनौली के राजा पुरादित्य के लिये लिखी गई थी। इसमें चिट्ठी, तमस्सुक आदि लिखने के नियम और नमूने पाये जाते हैं। साथ ही साथ उस समय के राजा और प्रधान पुरुषों के भी नाम पाये जाते हैं। यह दरभङ्गा से प्रकाशित हुई थी। यह(तालपत्र) स्वर्गीय कवि पं० चन्दा झा के घर में है।

(६) शैवसर्वस्वसार—इसमें शिवपूजा की विधि प्रमाणों के साथ बतलाई गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में भवसिंह से लेकर विद्यापति के समय तक के राजाओं का वर्णन है। यह पुस्तक पद्मसिंह की धर्मपत्नी, विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखी गई थी। यह पुस्तक दरभंगा राजपुस्तकालय में है, यह तालपत्र पर लिखी है। राजपुस्तकालय में शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूत

(१) विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिकृति नमसौ विश्वविख्यातकीर्तिः।
श्रीमद्विश्वासदेवी विरचयति शिवं शैवसर्वस्वसारम् ॥ —'शैवसर्वस्वसारम्'

पुराण संग्रह नाम का भी एक ग्रन्थ पाया जाता है।

(७) गङ्गावाक्यावली—इसमें "हरिद्वार से लेकर गङ्गासागर तक किस तीर्थ में कौन तीर्थकृत्य करना चाहिये" इस विषय का विशद वर्णन है। इसमें महाभारत, रामायण, छन्दोग-परिशिष्ट, पुराण, स्मृति आदि के वचन प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं। विश्वासदेवी को आज्ञा से ही इस पुस्तक की भी रचना हुई थी। यह पुस्तक दरभंगा राज-पुस्तकालय में तथा लालगंज (दरभंगा) निवासी पं० श्रीमहेश्वर झा के घर में थी, किन्तु हाल ही में आप की मृत्यु के कारण यह पुस्तक आपके घर में नहीं पाई जाती है।

यावद्गङ्गा विभाति त्रिपुरहरजटामण्डलं मण्डयन्ती,
मल्लीमाला सुमेरोश्शिरसि सित (? वैजयन्ती जयन्ती।
याता पातालमूलं स्फुरदमलरुचिश्शेषनिर्मोकवल्ली,
तावद्विश्वासदेव्या जगति विजयताङ्गाङ्गवाक्यावलीयम् ॥

—गङ्गावाक्यावली।

(८) विभाग-सार—दाय-भाग का ग्रन्थ। यह पुस्तक राजा नरसिंह देव की आज्ञा से लिखी गई थी। इसमें विभाग-व्यवस्था, भागानर्ह, असंस्कृत-संस्कार, विभाज्य, अविभाज्य, भागकल्पना, स्त्रीधन, गुप्तप्राप्तविभाग, विभक्तजविभाग, पुत्र-भेद, पुत्रग्रहणाधिकार, संसृष्टधनविभाग, विभाग-

---

(१) राज्ञो भवेशाद्धरसिंह आसीत्तत्सूनुना दर्पनरायणेन,
राज्ञा नियुक्तोऽत्र विभागसारं विचार्य विद्यापतिरातनोति।

निर्णय इस पुस्तक के प्रधान विषय हैं। यह पुस्तक नवानी (दरभंगा) निवासी पं० श्रीजगदीश झा की कृपा से मुझे प्राप्त हुई है। इसकी एक प्रति बाबू लक्ष्मीकान्त झा एडवोकेट पटना हाईकोर्ट के घर में भी है। भूमिका और टिप्पणी के साथ इसे शीघ्र ही प्रकाशित करने की मेरी इच्छा है। हाल ही में इसकी एक प्रति लालगंज निवासी पं० षष्ठीनाथ झा के घर में मिली है। देखें, इसके प्रकाशन में इससे कहाँ तक सहायता मिलती है।

(९) दानवाक्यावली—इसमें दान (तुलापुरुष, स्वर्ण, रथ, हाथी आदि का) का वर्णन, और दान करने की विधि बताई गई है। जिस प्रकार विभागसार में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, शङ्ख, व्यास, देवल, लिखित, बृहस्पति, विष्णु, हारीत, आपस्तम्ब, बौधायन, वशिष्ठ, कात्यायन आदि स्मृतिकारों के वचन उद्धृत किये गये हैं उस प्रकार इस ग्रंथ में कल्पतरु, दानसागर, रत्नाकर, लक्ष्मीधर, सागर आदि के वचन उद्धृत किये गये हैं। अपने 'विवाहतत्त्व' नामक ग्रंथ में रघुनन्दन ने दानवाक्यावली को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। यह पुस्तक नरसिंह देव की धर्मपत्नी धीरमती की आज्ञा से लिखी गई थी। यह

---

(१) श्रीमद्धीरमती प्रिया विजयते भूमण्डलालङ्कृतिः।

....

विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिकृतिनं सप्रमाणामुदारा
राज्ञी पुण्यावलोक्या विरचयति दानवाक्यावलीं सा। —'दानवाक्यावली'

पुस्तक राज-पुस्तकालय, दरभंगा, नडुआर, लालगंज, सौराठ, सखवाड़, चम्पा, ननौर, ठाढ़ी आदि गाँवों में है। इस पुस्तक की अनेक प्रतियाँ पाई जाती हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह लोक-प्रिय थी। यह पुस्तक काशी में बहुत पहले प्रकाशित हुई थी।

(१०) गयापत्तलक—गया श्राद्ध करने की विधि। लालगंज निवासी पं० शिवेश्वर झा के घर में यह पुस्तक (तालपत्र) है। इसके आरम्भ में मङ्गलाचरण का कोई श्लोक नहीं है। पुस्तक के अन्त में महामहोपाध्याय विद्यापति का नाम दिया हुआ है।

(११) दुर्गाभक्तितरङ्गिणी—यह दुर्गा-पूजा की पद्धति है। यह धीरसिंह[१] की आज्ञा से लिखी गई थी। यह ग्रंथ दरभंगा-महाराज की आज्ञा से १९०२ में छपी थी, किन्तु इस समय अप्राप्य है। सुनने में आया है कि बङ्गाल में यह पुस्तक प्रकाशित हुई है,

---

(१) श्रीमद्भूपतिधीरसिंहविजयी राजत्यमोघाक्रियः
शौर्यावर्जित पञ्चगौडधरणीनाथोपनम्रीकृता—
नेकोत्तुङ्गतरङ्ग सङ्गतसितच्छत्राभिरामोदयः
श्रीमद्भैरवसिंहदेवनृपतिर्यस्यानुजन्मा जयत्या—
चन्द्रार्कमखण्डकीर्तिसहितः श्रीरूपनारायणः
देवीभक्तिपरायणः श्रुतिमुखप्रारब्ध पारायणः
संग्रामे रिपुराजकंसदलनप्रत्यक्षनारायणः
विश्वेषां हितकाम्यया नृपवरोऽनुज्ञाप्य विद्यापतिं
श्रीदुर्गोत्सवपद्धतिं वितनुते दृष्ट्वा निबन्धस्थितिम् ॥ —'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी'

किन्तु पुस्तक नहीं मिल सकी। यह विद्यापति की अन्तिम पुस्तक है। यह पुस्तक (लिखित) लालगंज-निवासी पं० महेश्वर झा, ननौर (दरभंगा) निवासी श्रीकान्त झा, और पं० रुद्रानन्द मिश्र के घर में और चित्रधर लाइब्रेरी टभका (दरभंगा) में है।

(१२) वर्षकृत्य—बरस भर के पर्वों का विधान है। यह ९६ पृष्ठ की पुस्तक वल्लोपुर (दरभंगा) निवासी बाबू दामोदर नारायण चौधरी के घर में है। इसकी विशेषता यह है कि इस में हर जगह प्रमाण के वचन उद्धृत किये गये हैं जैसा कि म० म० रुद्रधर उपाध्याय-रचित वर्षकृत्य या अन्यान्य वर्षकृत्यों में नहीं पाया जाता है।

(१३) पदावली—यह शृङ्गार रस से ओत-प्रोत पदों का संग्रह है। इसमें शिव, दुर्गा, गङ्गा आदि देव-देवियों की कुछ प्रार्थनाएँ भी हैं। पदकल्पतरु, पद-समुद्र आदि ग्रन्थों में विद्यापति के अनेक पद प्रकाशित हुए। तरौनी नामक गाँव में विद्यापति-लिखित भागवत के साथ पदावली की खण्डित प्रति पाई गई थी। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री एम्० ए० पी० एच्० डी० सी० आइ० इ० नैपाल राजपुस्तकालय से पदावली की एक प्रति लाये थे। इन दोनों पुस्तकों के आधार पर विद्यापति के पदों का पाठ शुद्ध कर बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ १३१६ फसली में पदावली का सम्पादन किया

था। कीर्तनानन्द नामक एक प्राचीन संग्रह ग्रंथ से भी आपको बड़ी सहायता मिली थी। गुप्तमहोदय ने दरभंगा महाराज के व्यय से इण्डियन प्रेस के द्वारा वही पदावली प्रकाशित की थी, किन्तु महत्वपूर्ण भूमिका से वञ्चित होने के कारण उस पदावली का वह महत्व नहीं है जो कि बङ्गाली पदावली का। उसके बाद आरा निवासी बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने "मैथिल-कोकिल" का सम्पादन किया। इसमें पदों की संख्या बहुत कम है, किन्तु बहुत ऐसे पद हैं जो बाबु नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में नहीं हैं। उन नये पदों के पहले एक प्रकार का चिह्न दिया हुआ है। आरा नागरी-प्रचारिणी सभा ने इसका प्रकाशन किया था। यह पुस्तक अप्राप्य-सी हो गई है। यह मालूम नहीं कि नागरी-प्रचारिणी सभा ने इसका दुबारा प्रकाशन क्यों नहीं किया। उसके बाद बाबू रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के सम्पादकत्व में पुस्तक-भंडार, दरभंगा ने पदावली का प्रकाशन किया, जिसका तीसरा संस्करण शीघ्र ही निकलनेवाला है। डा० जनार्दन मिश्र ने 'विद्यापति' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें समालोचना के अतरिक्त विद्यापति के कुछ पद भी हैं। आपने हिन्दी साहित्य में विद्यापति को दूसरा स्थान दिया है। जिस समय विद्यापति की जन्मभूमि और विद्यापति

की पदावली से हिन्दी-संसार परिचित नहीं था उसी समय लम्बी चौड़ी भूमिका के साथ सर ग्रीअर्सन साहब ने मिथिला में प्रचलित पदों का संग्रह कर १८८२ ई० के बङ्गाल एसियेटिक सोसाइटी के मुखपत्र के विशेषांक में Chrestomattry नाम से ८२ पद, उनके अर्थ के साथ प्रकाशित किये इसलिये आप सबसे विशेष धन्यवादार्ह हैं।

सम्भव है कि मिथिला में विशेष अनुसन्धान करने पर विद्यापति रचित और-और पुस्तकें और पद भी उपलब्ध हों। इनके संग्रह के उद्देश्य से मैंने शीघ्र ही मिथिला में भ्रमण करने का निश्चय कर लिया है। मिश्रबन्धु उमापति-रचित पारिजात-हरण को विद्यापति की रचना बतलाते हैं। कई एक सम्पादकों के द्वारा पारिजात-हरण सम्पादित हो चुका है। उमापति के समय के विषय में मतभेद होने पर सब पुस्तकों में स्पष्ट शब्दों में ग्रन्थकार का नाम 'उमापति' रहने के कारण इसमें किसी तरह के संदेह की गुंजाइश नहीं है।

कलकत्ता संस्कृत कौलेज में 'पाण्डव-विजय' नाम की एक बड़ी पुस्तक है। पुस्तकों की तालिका में ग्रन्थकर्त्ता का नाम विद्यापति लिखा हुआ है, किन्तु दुर्भाग्यवश पुस्तक के आदिम और अन्तिम भाग नहीं मिलने के कारण मैं इस परिणाम तक नहीं पहुँच सका कि वह पुस्तक विद्यापति-रचित है या उसके रचयिता कोई अन्य कवि हैं। परन्तु मुझे विश्वास है कि उसके रचयिता भी विद्यापति ही हैं।

हाल ही में महेशपुर (दरभंगा) निवासी के घर में 'मणिमञ्जरी' नाम की एक नाटिका मिली है। इसके आरम्भ में मङ्गलाचरण

(श्लोक) के बाद की तीन पंक्तियाँ नीचे ज्यों-की-त्यों उद्धृत की जाती हैं—

"आदिष्टोऽस्मि परिषदा यदद्य श्रीविद्यापतिनामधेयस्य कवेः कृतरभिनवा मणिमञ्जरी नाम नाटिका भवद्भिरस्मदग्रेऽभिनेतव्येति। तद्भवतु तावत् प्रेयसीमाहूय सङ्गीतकं सम्पादयामि।"

पुस्तक के अन्त में आशीर्वाद (श्लोक) के बाद निम्नलिखित वाक्य पाया जाता है।

"महामहोपाध्याय-श्रीविद्यापतिकृता मणिमञ्जरी समाप्ता"

विद्यापति की उपाधियाँ या उपनाम

विद्यापति के पदों से मालूम पड़ता है कि उनके अनेक उपनाम थे। कविशेखर, कविरञ्जन आदि उपनामों को देखकर अनेक बङ्गाली विद्वानों की धारणा-सी हो गई थी कि कविशेखर, कविरञ्जन आदि कवियों के नाम थे, किन्तु विद्यापति के पदों के प्रचार के बाद यह भ्रम दूर हो गया। इन उपनामों का व्यवहार केवल मैथिली-पदों में ही पाया जाता है। संस्कृत पुस्तकों में कोई

---

(१) आनन्देन जलीकृता नवनवोत्कण्ठा रसाभ्यागता,
लज्जा-रज्जु-निवर्तिता क्षणमथो विभ्रान्तकर्णोत्पलाः।
इत्थेवं नवसङ्गमोल्लसतियोर्दोला......सालसा,
दृक्पाताः शिवयोरभिन्नवपुषोर्विघ्नं विनिघ्नन्तु वः।

(२) सन्तः सन्तु निरापदो विजयतां राजा प्रजारञ्जने,
विप्राः प्राप्तशुभोदयाश्चिरममी तिष्ठन्तु निर्व्याकुलाः।
काले सन्तु पयोमुचो जलमुचः सर्वाश्रमाणामियं
शस्यैः शस्यतरा धरापि नितरामानन्दकन्दायताम्॥

इति निष्क्रान्ताः सर्वे। इतिचतुर्थोऽङ्कः।

भी उपनाम नहीं पाया जाता। पुस्तकों के अन्त में केवल 'महा-महोपाध्याय' की उपाधि पाई जाती है।

कई एक उदाहरणों के साथ विद्यापति के उपनाम नीचे दिये जाते हैं।

(१) अभिनव जयदेव—

(क) अभिनव-जयदेव-महापण्डितठक्कुर श्री विद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तः। (ताम्रपत्र)

(ख) सुकवि नव जयदेव भनिअ रे

(२) कविशेखर—

(क) भनइ विद्यापति कविवर सेखर पुहमी तेसर कहाँ।

(ख) कविसेखर भन कत कत ऐसन कहव मदन परतापे।

(ग) चलल राजपथ दुहु उरझाई, कह कवि-सेखर दुहु चतुराई।

(घ) कह कवि-सेखर ताक उपाय, रचइत तवहिं रयनि बहि जाय।

(ङ) कह कवि-सेखर सहज विषय-रत विदगधि केलि-विलासे।

(च) कामिनि कहिनी कह संवाद, कह कवि-सेखर नह परमाद।

(छ) कह कवि-सेखर की कर लाज, कह न कहिनि सखिन समाज।

(ज) कवि-सेखर वचन अभिसर किए से विधि न विचार।

(झ) कवि-सेखर पथ मीलल जाई, आएल नागर मेंटल राई।

(ञ) जत छल मनोरथ पूरल मनमथ ई कवि-सेखर भान।

(ट) इथे परिवाद कहसि मोहि वैरिनि ई कवि-सेखर भान।

(ठ) असमंजस रस सहय न पारिय ई कवि-सेखर गाव।

(ड) कह कवि-सेखर बुझय सयान, इंगित रस पसरल पँचवान।

(ढ) कह कवि-सेखर मीख लिय तव से हो देयासिनि गेलि।

(ण) अलक तिलक दय चोलि निहारि, कह कवि-सेखर जाउ वलिहारि।

(त) कह कवि-सेखर अनुभव जनलहुँ वड कां वड़इ पिरीत।

(३) कविरञ्जन—

(क) चण्डीदास कविरंजन मीलल ।

(ख) कह कविरंजन सुनु वर नारि, प्रेम अमिअ रस लुबुध मुरारि ।

(ग) कह कविरंजन से मधु राई, न कह सुधामुखि गेल चतुराई ।

(४) कविराज—

(क) कह विद्यापति सुन कविराज[1], आगि जारि पुनि आगि क काज ।

(५) कविकण्ठहार—

(क) राजा सिवसिंघ रूपनरायन सुकवि भनथि कंठहारे ।

(ख) भनइ विद्यापति कविकंठहार, कोटि हु न घट दिवस-अभिसार ।

(ग) भनइ विद्यापति कविकंठहार रस बुझ सिवसिंघ सिव अवतार ।

(६) दश अवधान—

(१) दस अवधान भन पुरुष पेम सुनि प्रथम समागम मेला ।

(७) राज-पण्डित—

(१) वैरिहुक एक अपराध छेमिअ राजपण्डित भान ।

(२) सकलपातकपापविच्युति राजपण्डितकृतस्तुतितोषिता शिवसिंहभूपति-कामना-फलदे ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक उपनाम सुने जाते हैं, किन्तु जो उपनाम पदों में नहीं मिले हैं उनका उल्लेख मैंने नहीं किया है ।

आजकल के मनमाने उपनाम और प्राचीन भारतवर्ष के उपनामों में बड़ा अन्तर है । आजकल साधारण से साधारण कवि उत्तम से उत्तम उपनाम रखने में हिचकते नहीं हैं । पहले कविता से राजा या बादशाह को प्रसन्न कर उनसे उपाधि प्राप्त की जाती थी । ताम्रशासन (सनद) में अभिनव-जयदेव उपाधि होने के

(१) कविराज विद्यापति का उपनाम है या विद्यापति कवियों को सम्बोधन कर रहे हैं, यह ज्ञात नहीं होता ।

कारण यह अनुमान किया जाता है कि यह राजप्रदत्त उपाधि थी। और-और उपनाम कब और किससे मिले इसका पूरा प्रमाण नहीं मिलता।

विद्यापति के विषय में किंवदन्तियाँ

प्राचीन कवियों और भक्तों के विषय में अनेक चमत्कार, और अलौकिक घटनाएँ सुनने में आती हैं। तुलसीदास, सूरदास, कबीर आदि भक्त कवियों के ईश्वर-दर्शन, मृत शरीर का फूल हो जाना आदि घटनाओं से हिन्दी-संसार अच्छी तरह परिचित है। मिथिला में इस प्रकार की जनश्रुतियों की भरमार है। जयपुर आदि राजधानियों में इसी तरह की अलौकिक घटनाएँ दिखलाकर अनेक मैथिल ब्राह्मणों ने जमीन के रूप में जो पारितोषिक पाया था वह इस समय भी उनके वंशजों के अधिकार में है। विद्यापति के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ हैं जिनसे विद्यापति का सम्प्रदाय, समय आदि निर्णय करने में सहायता मिलने की आशा है। इसलिये उन किंवदन्तियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

१

एक दिन विद्यापति अपनी धर्मशाला का निरीक्षण करने गये। विद्यापति को देखकर सब-के-सब अतिथि उठ खड़े हो गये और भोजन और प्रबन्ध की प्रशंसा दिल खोलकर करने लगे। प्रशंसा का अन्तिम शब्द उनके कानों तक नहीं पहुँच सका था कि एक दुर्बल अल्पवयस्क व्यक्ति की ओर उनकी दृष्टि पड़ी। अनुसन्धान करने पर उन्हें मालूम पड़ा कि अतिथि की उमर सोलह-सत्रह बरस की थी। इसलिये शाम होते ही उन्हें नींद आ गई। जब भोजन का समय हुआ, सब अतिथि भोजन करने चले तब किसी की दृष्टि उस बालक विद्वान् पर नहीं पड़ी और किसीने उन्हें नहीं जगाया।

परिणाम यह हुआ कि वे भूखे ही रह गये। विद्यापति उनके पास पहुँचे और हँसकर कहने लगे—

"प्राघुणो घुणवत् कोणे सूक्ष्मत्वान्नोपलक्षितः"

अर्थात् घुन की तरह एक कोने में (बैठे हुए) अतिथि को छोटा होने के कारण किसीने नहीं देखा।

एक भूखे थे, उसपर ऐसी कठोर आत्मनिन्दा सुनते ही अतिथि उबल पड़े, उन्होंने कहा—"इसमें मेरा दोष नहीं है।

'प्रायशः स्थूलबुद्धीनां सूक्ष्मे दृष्टिर्नजायते।'

अर्थात् मोटी बुद्धि वाले मनुष्यों की दृष्टि सूक्ष्म वस्तुओं तक नहीं पहुँचती है।" सुनकर विद्यापति अवाक् रह गये। ऐसी प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व देखकर विद्यापति ने अपने गुरुभाई पक्षधर मिश्र को पहचान लिया और अपने घर ले जाकर उचित सत्कार किया। इससे मालूम पड़ता है कि दोनों की उमर में बहुत अन्तर था, क्योंकि यदि वे दोनों सहाध्यायी रहते तो पहचानने में इतनी देर न होती। विद्यापति की मृत्यु के २५ बरस बाद पक्षधर मिश्र के द्वारा लिखे हुए विष्णुपुराण से भी यही ज्ञात होता है।

२

दूसरी किंवदन्ती यह है कि शिवजी विद्यापति की भक्ति से प्रसन्न होकर उनके घर नौकरी करने लगे। नौकर को 'उदना' या 'उगना' कहते थे। एक दिन उसी नौकर के साथ विद्यापति कहीं जा रहे थे, रास्ते में प्यास लगी। उदना से पानी लाने की आज्ञा दी गई। फिर क्या था, वह चला और एक लोटा ठण्ढा पानी लाकर विद्यापति के सामने रख दिया। पीने पर वह पानी गङ्गाजल के सदृश स्वादिष्ट मालूम पड़ा। विद्यापति ने नौकर से पूछा—"कहाँ से तुम यह पानी लाये हो?" उसने उत्तर दिया—"समीप ही में एक गाँव है, वहीं से लाया हूँ।" नौकर के बार-बार समझाने पर भी उन्हें

विश्वास नहीं हुआ कि वह गङ्गाजल नहीं था। इसलिये विद्यापति ने नौकर से सच्चा भेद बता देने के लिये बार-बार अनुरोध किया। बात-ही-बात में शिवजी प्रसन्न हो गये और अपना रूप धारण कर बोले—"यह कुएँ का जल नहीं है, यह मेरी जटा का गङ्गाजल है। तुम मेरे बड़े भक्त हो, तुमसे अलग मैं नहीं रह सकता हूँ। यही कारण है कि मैं तुम्हारे घर नौकरी करता हूँ, किन्तु विद्यापति! अब प्रतिज्ञा करो कि किसीसे—वह तुम्हारा हार्दिक मित्र ही क्यों नहीं हो—यह बात प्रकट नहीं करोगे और याद रक्खो कि जिसी समय यह भेद खुलेगा उसी समय मैं तुम्हारे घर से चल दूँगा, फिर तुम्हें मेरा दर्शन नहीं होगा।" उस दिन से विद्यापति उदना को जूठा नहीं खिलाते और किसी नीच कर्म करने का भार भी उस पर नहीं देते थे। एक दिन विद्यापति की धर्मपत्नी ने किसी कार्यवश उदना को कहीं भेजा। आने में देर हुई। फिर क्या था, वह आग-बबूला हो गई और लकड़ी से मारने के लिये दौड़ी। विद्यापति से यह नहीं देखा गया, वे बोल उठे—"अहा यह क्या करती हो, साक्षात् शिव के ऊपर प्रहार!" यह सुनते ही उदना अन्तर्हित हो गया। जो होने को था, सो हो गया। अब हाथ मलने और पछताने से होता ही है क्या? विद्यापति पागल-से हो गये, बारबार गाते, उदना को बुलाते, कभी प्रलोभन देते, कभी रूठे हुए उदना को मनाते। पर इन उन्मत्त प्रलापों से कुछ भी हाथ नहीं आया।

एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

उद (ग) ना रे मोर कतय गेला
कतय गेला सिव किदहुँ भेला ।२।
भाँग नहि बटुआ रुसि बैसलाह
जोहि हेरि आनि देल हँसि उठलाह ।४।

जे मोर कहता उद (ग) ना उदेस
ताहि देव कर कँगना वेस ।८।
नन्दनवन में भेटल महेस
गौरि मन हरखित भेटल कलेस ।९।
विद्यापति भन उद (ग) ना सो काज
नहि हितकर मोर त्रिभुवनराज ।१०।

३

विद्यापति की मृत्यु के समय धारा छोड़कर गङ्गा का आना।

(विद्यापति की संक्षिप्त जीवनी में देखिये)

४

कविता के द्वारा सुलतान को प्रसन्न कर विद्यापति ने शिवसिंह को मुक्त किया। (विद्यापति की कविता शीर्षक देखिये)

५

रेलवे लाइन बनाने के समय चिता के ऊपर वर्तमान वृक्ष की शाखाओं के काटे जाने पर उनसे खून निकलना।

(जीवनी में देखिये)

विद्यापति का पांडित्य

विद्यापति उच्च श्रेणी के शृंगारी कवि, गानलेखक, स्मृति और पुराण के विशेषज्ञ थे। इतिहास, भूगोल और नीतिशास्त्र के ऊपर विद्यापति को पूर्ण अधिकार था और इन विषयों पर आपके बहुमूल्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मैथिली में कविता करना आपके लिये बायें हाथ का खेल था अथवा यों कहिये कि इन भाषाओं में कविता करने में आप सिद्धहस्त थे। इसी कविता ने बङ्गाली, मैथिली और हिन्दी-भाषा-भाषी जनता में

---

१ "बङ्गाल और मिथिला के आदिकवि और महाकवि"

म० म० हरप्रसाद शास्त्री।

आपको अमर बना दिया है और भविष्य में भी अमर बनाये रक्खेगी। राज-सभासद होकर भी विद्यापति समाज-सुधार और धार्मिक सुधार करना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे।

(क) इतिहास और विद्यापति

संस्कृत के आधुनिक विद्वानों को इतिहास और भूगोल से प्रेम नहीं देखकर लोगों की धारणा-सी हो गई है कि संस्कृत के विद्वानों को इतिहास और भूगोल आदि व्यावहारिक विषयों का ज्ञान नहीं होता है, सम्भव है कि प्राचीन समय में भी नहीं होता हो। पर विद्यापति के साथ यह बात नहीं है। विद्यापति इन विषयों से पूर्ण परिचित थे। विद्यापति के ग्रन्थ ही इस विषय के साक्षी हैं। महा-महोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि प्रत्येक इतिहास वेत्ता को विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा' अवश्य पढ़नी चाहिये। बात भी यह यथार्थ है।

विद्यापति की प्रथम रचना कीर्त्तिलता में उस समय का संक्षिप्त इतिहास पाया जाता है और साथ-ही-साथ उस समय के मुसलमान हिन्दुओं के प्रति जिस तरह व्यवहार करते थे उसका भी विशद वर्णन है। इसलिये कीर्त्तिलता का कथासार लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कीर्त्तिलता का कथा-सार

भृङ्गी—संसार में सार क्या है ?

भृङ्ग—मानपूर्वक वीर पुरुष का जीवन।

भृङ्गी—वीर पुरुष कौन हैं ?

भृङ्ग—यशस्वी, संग्राम में शूर, धर्मपरायण, विपद् में भी दीन वचन नहीं बोलनेवाले, गुप्त रूप से दान देकर भूल जानेवाले, बलवान् मनुष्य को वीर कहते हैं। जैसे—बलि, रामचन्द्र, कीर्त्तिसिंह आदि।

भृङ्गी—कीर्त्तिसिंह का चरित्र बड़ा रोचक है। कृपाकर मुझे उनकी कथा बताइये।

भृङ्ग—जगत्प्रसिद्ध ओइनी वंश में कामेश्वर, योगीश्वर और गणेश्वर राजा हुए। गणेश्वर के पुत्र वीरसिंहदेव और राजा कीर्त्तिसिंह ने शत्रु का नाश कर डूबते हुए राज्य का उद्धार किया और रूठी राज्य-लक्ष्मी को मनाकर फिर घर लाये।

भृङ्गी—किस प्रकार वैर उत्पन्न हुआ और कैसे उसका उद्धार किया गया ?

भृङ्ग—ल० सं० २५२ में राजा गणेश्वर ने 'असलान' नाम के एक मुसलमान नवाब को परास्त किया। तब असलान ने कपट से राजा का वध कर डाला। चारों ओर अराजकता फैल गई। अन्त में असलान को पश्चात्ताप हुआ और उसने राज्य वापस करना चाहा, परन्तु वीरसिंह और कीर्त्तिसिंह ने प्रतिहिंसा की इच्छा से शत्रु-समर्पित राज्य लेना स्वीकार नहीं किया और पैदल ही शिकायत करने और सहायता माँगने के लिये बाद॰शाह के पास चल दिये। बहुत कष्ट झेलकर श्रीइब्राहिमशाह की राजधानी जौनपुर (यवनपुर) में पहुँचे। वहाँ बाजार-हाट की सैर कर एक ब्राह्मण के घर वास किया। कीर्त्तिसिंह प्रातःकाल वजीर से मिले। उसने

बादशाह से भेंट करने की सलाह दी। शुभ अवसर पर भेंट हुई। कुशल पूछे जाने पर पिता के वध और असलान की धृष्टता का हाल कहा। बादशाह असलान पर बहुत बिगड़े। तुरन्त उसके विरुद्ध युद्ध-यात्रा करने की आज्ञा हुई। कीर्त्तिसिंह की आशा पूरी हुई। पश्चिम की ओर सेना को जाते देख राजा फिर एक बार सुलतान से मिले और सुलतान की आज्ञा से सेना पूरब की ओर चली और दूर-दूर के राजाओं का गर्व चूर्ण करती हुई तिरहुत पहुँची। बलशाली असलान को पकड़ने के लिये सुलतान को चिन्तित देख उन्हें पूरा आश्वासन देकर कीर्त्तिसिंह सुलतानी सेना के साथ गण्डक नदी पारकर सुसज्जित असलानी सेना से भिड़े। घोर संग्राम हुआ, मैदान रुधिर से भर गया। अन्त में असलानी सेना के पैर उखड़ गये। सेना को गिरते देख असलान ने एक बार साहस किया, तलवार लेकर कीर्त्तिसिंह पर टूट पड़ा। दोनों के शरीर से रुधिर की धाराएँ बह निकलीं। अन्त में असलान ने हारकर पीठ दिखा दी। कीर्त्तिसिंह ने घोषणा की कि पराङ्मुख शत्रु पर मैं शस्त्र नहीं चलाता। सुलतान ने अपने ही हाथ से विजयी राजा कीर्त्तिसिंह का अभिषेक किया।

विद्यापति के समय में हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों का व्यवहार

विद्यापति जौनपुर (यवनपुर) का वर्णन करते हुए कहते हैं—

कतहु तुरुक बरकइ,

बाँट जाइते बेगार धर।

घरि आनय बाँभन बटुआ,
मथाँ चढ़ावय गाइक चुडुआ।
फोट चाट, जनउ तोड़,
उपर चढ़ावै चाह घोड़।

... ...

... ...

देउर मांगि मसीद बाँध,

... ...

हिन्दु बोलि दुरहि निकार
छोटेओ तुरुका भभकी मार
हिन्दुहि गोदओ गिलिय हत,
तुरुक देलि होय मात।

ऊपर के वर्णन से यह भली भाँति विदित हो जाता है कि उस समय हिन्दुओं के प्रति कुछ उत्तेजित तुर्कों का कैसा व्यवहार था!

फिर उसके बाद विद्यापति कहते हैं कि

"अइसेओ तसु परतापे रह चिरे जीवत सुरतान"

ऐसे भी सुलतान का प्रताप रहे, वे चिरकाल तक जीवित रहें। इससे मालूम पड़ता है कि इससे वह सुलतान अन्य सुलतान-शासकों की अपेक्षा अधिक उदार था।

उपर्युक्त विवरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि विद्यापति ने निष्पक्ष भाव से इन घटनाओं का वर्णन किया है। एक ओर एक मुसलमान 'असलान' का पक्ष नहीं लेकर कीर्त्तिसिंह

की भरपूर सहायता कर सुलतान की न्यायपरायणता का पूर्ण परिचय, दूसरी ओर हिन्दुओं के साथ मुसलमानों के व्यवहार का विशद वर्णन ही इन घटनाओं की सत्यता का साक्षी है।

इनके अतिरिक्त 'पुरुष-परीक्षा' में विद्यापति के समय के कुछ ही पहले की घटनाओं के साथ विद्यापति के समय की घटनाओं का सम्मिश्रण है।

ग्रन्थ के आरम्भ में विद्यापति स्वयं कहते हैं

कलौ शिक्षाहेतुर्न खलु कृतजातस्य चरितम्।
क्रियायां दृष्टान्तः समयकृतभेदो न घटते॥
न सा बुद्धिः पुंसां न च वपुषि तेजस्तदधुना।
न वा सत्यं तादृक् कलिसमयसञ्जातजनुषाम्॥१॥

सत्ययुग में उत्पन्न (महात्माओं) के चरित्र कलियुग में शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते हैं। समय की विभिन्नता के कारण उस समय की घटनाओं का दृष्टान्त देना उचित नहीं है अर्थात् उनका वैसा गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। कलियुग में उत्पन्न हुए पुरुषों में इस समय वह बुद्धि नहीं, शरीर में वह तेज नहीं, वह सच्चापन नहीं।

ये घटनाएँ इतिहास के मसाले हैं। इनसे इतिहास-वेत्ताओं को अमूल्य सहायता मिल सकती है। उदाहरण के रूप में कुछ घटनाओं का नीचे उल्लेख किया जाता है।—

(१) अलाउद्दीन के सेनापति महमद शाह का शाही क्रोध से भागकर हम्बीरदेव के पास जाना। शरणागत की रक्षा के लिये हम्बीरदेव का आत्मोत्सर्ग। (ते प्रासादा निरुपमगुणास्ताः प्रसन्नास्तरुण्यो, राज्यन्तञ्च द्रविणबहुलं ते द्विपास्ते तुरङ्गाः।

त्यक्तुं यन्न प्रभवति नरः किञ्चिदेकं परार्थे, सर्वं त्यक्त्वा समिति पतितो हन्त हम्बीरदेवः)।

(२) राजकुमार मल्लदेव का राजा जयचन्द्र के समीप रहना, सम्मान की कमी देखकर वहाँ से चिकोर के राजा के पास जाना। जयचन्द्र के साथ घनघोर युद्ध।

(३) महम्मदशाह का काफर राज के साथ युद्ध, कर्णाट कुल के राजा नरसिंह के द्वारा काफर राज का शिरच्छेद। (राजा नरसिंहदेव मिथिला की पञ्जी-प्रथा के प्रवर्तक हरिसिंहदेव के प्रपितामह थे)

(४) 'मुद्राराक्षस' नाटक के रचयिता विशाखदत्त का जन्म और उनका वंश।

(५) गौड़देश के विद्वान् श्रीहर्ष का बनारस जाना, वहाँ जाकर कोक पण्डित से "नलचरित" सुनाना और आदि से अन्त तक 'नलचरित' सुनकर कोकपण्डित की समालोचना।

(६) कर्णाट वंश के राजा हरिसिंहदेव, उनके मन्त्री गणेश्वर (विद्यापति के पितामह-भ्राता) और उनके मित्र देवगिरि के राजा वामदेव की कथा।

(७) विक्रमादित्य राजा के राजपण्डित वराहमिहिर की भविष्य-वाणी, हरिश्चन्द्र का रोगपरिचय, शबरस्वामी का धार्मिक निर्णय।

(८) गोरखपुर के राजा उदयसिंह की कथा।

(९) जयचन्द्र के राज्य में रानी शुभदेवी और विद्याधर महत्तक की मुख्यता के कारण विजय प्राप्त करना कठिन जानकर शहाबुद्दीन के द्वारा चतुर्भुज नामक ब्राह्मण की नियुक्ति, शुभदेवी को ठगकर विद्याधर को मन्त्रिपद से च्युत करना, जयचन्द्र की हार और शुभदेवी की घृणित हत्या।

(ख) विद्यापति और भूगोल

इस समय पुस्तकों का अध्ययन कर हमलोग भूगोल का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु विद्यापति ने कोशल, काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में भ्रमण कर भूगोल-विद्या को अपनाया था। साथ-ही-साथ व्यावहारिक शिक्षा के लिये भूगोलविद्या को उपयुक्त समझ कर उसका प्रचार करना भी उन्हें अभीष्ट था। किन्तु धर्म-प्राण हिन्दुओं में प्रचार करने के लिये धर्म का रंग चढ़ाना आवश्यक था। इसलिये शापग्रस्त बलराम की तीर्थ-यात्रा के रूप में तीर्थों का वर्णन विद्यापति के 'भू-परिक्रमा' नामक ग्रन्थ में किया गया है।

(ग) विद्यापति और पुराण

विद्यापति 'शैवसर्वस्व-सार' नामक स्मृति-ग्रन्थ लिखने के पहले "शैव-सर्वस्वसार प्रमाणभूत-पुराण-संग्रह" नामक ग्रन्थ (जो दरभंगा राज-पुस्तकालय में है) लिखा था। सम्भव है कि इसके पहले विद्यापति ने सब पुराणों का अध्ययन किया हो। विद्यापति के हाथ की लिखी हुई 'श्रीमद्भागवत' पुस्तक भी विद्यापति के पुराणों के साथ प्रेम का प्रबल प्रमाण है। महामहोपाध्याय केशवमिश्रकृत द्वैतपरिशिष्ट में बतलाया गया है कि भविष्यपुराण और कूर्मपुराण में जिन पुराणों के नाम बतलाये गये हैं उनमें 'भागवत' का अर्थ देवीभागवत है न कि श्रीमद्भागत और उसके समर्थन में निबन्धकारों का मत उद्धृत किया गया है। अन्त में आपने कहा है " यत्तु क्षेत्रापरपुरग्रासं दत्वा मत्समतामियादित्यादीनि नगरयाचकैरतिलुब्धैरुपसंगृहीतानि किन्तावतेति।" बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का कहना है कि यहाँ 'नगरयाचक' और 'अतिलुब्ध' शब्दों से विद्यापति की ओर इशारा है, क्योंकि विद्यापति ने श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक मानकर अपने हाथों लिखा था। जब तक स्पष्ट शब्दों में भागवत

के विषय में विद्यापति का मत उनकी पुस्तक में उपलब्ध नहीं हो जाय तब तक मैं अपना मत प्रकट करने में असमर्थ हूँ।

(घ) विद्यापति और स्मृति

राजसभासद और राजमन्त्री होने के कारण विद्यापति के पूर्वज स्मृति के पारदर्शी थे और उनके ग्रन्थों का सम्मान इस समय भी भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में हो रहा है। उनकी रचनाओं (स्मृत-ग्रन्थों) का उल्लेख पहले हो चुका है। इस वंश-परम्परागत विद्या पर विद्यापति का भी वैसा ही अधिकार था जैसा उनके पूर्वजों का। इसका प्रबल प्रमाण उनकी रचनाएँ है। विद्यापति के लिखे हुए निम्नलिखित ६ स्मृति-ग्रन्थ हैं—

(१) शैवसर्वस्व-सार (२) गङ्गावाक्यावली (३) दानवाक्यावली (४) दुर्गाभक्तितरङ्गिणी (५) गयापत्तलक (६) और वर्षकृत्य।

विद्यापति पदावली में भी स्मृति को योग्यता दिखलाकर कविता की और भी सरसता बढ़ा देते थे।

अपन अपन पहु सबहुं जेमाओलि
मूखल तुअ जजमान ॥
त्रिवलि-तरंग सितासित-सङ्गम
उरज सम्भु निरमान ॥
आरति पति मँगइछ परतिग्रह
करु धनि सरवस-दान ॥

अर्थात् अपने-अपने पति को सब खिला चुकी हैं, तुम्हारा यजमान अभी तक भूखा है। यह बड़ा ही पवित्र तीर्थ है। मालूम

(१) तुलना कीजिये—

अधरे मधुरा सरस्वतीयं ननु कर्णे मणिकर्णिकाप्रवाहः।
शिरसि प्रतिभाति चारुवेणी कथमेणीनयना न तीर्थराजः॥

होता है कि तुम्हारे शरीर में ही आज तीर्थराज प्रयाग का वास है। त्रिवली-तरंग ही सितासित (गंगा और यमुना) का संगम है। स्तनरूप साक्षात् महादेवजी भी हैं। ऐसा अवसर पाकर भी तुम अभी तक मुँह मोड़े बैठी हो, क्योंकि आर्त्त होकर तुम्हारा पति प्रतिग्रह दान माँग रहा है; अतएव तुम भी अपना सर्वस्व दान कर दो अर्थात् अब भी अपना मान छोड़ दो।

इस सरस पद में भी रूपक-द्वारा महाकवि ने अपने स्मृति-ज्ञान का अच्छा निदर्शन कराया है।

'शैवसर्वस्वसार' शिवसिंह की मृत्यु के बहुत दिनों के बाद रानी विश्वासदेवी के समय में लिखा गया था। इसमें राजा भवसिंह से लेकर रानी विश्वासदेवी के समय तक की कथाओं के अतिरिक्त शिव की पूजा-विधि स्मार्त्त रीति से लिखी गई है।

गंगावाक्यावली' भी रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखी गई है। इसमें स्मृति-विधि से गंगा-तट वास करने का सप्रमाण विधान है। मैथिलों में प्राचीन काल से गंगा-तट निवास की प्रथा चली आती है।

'दानवाक्यावली' में विभिन्न वस्तुओं की दान देने की पद्धति लिखी गई है। यह पुस्तक राजा नरसिंहदेव की स्त्री धीरमती को समर्पित की गई है।

'दुर्गाभक्तितरंगिणी' में दुर्गा-पूजा के विधान हैं। नवरात्र में दुर्गा-पूजा का प्रचार मिथिला में भी खूब ही है। राजा नरसिंह देव की आज्ञा से यह पुस्तक रची गई थी।

'गयापत्तलक' में मैथिल स्मार्त्त रीत्यनुसार गया-यात्रा और वहाँ पिंडदानादि का विधान है।

'वर्षकृत्य' में पर्व, उत्सव इत्यादि करने का विधान मैथिल स्मार्त्त रीति से वर्णित है।

इन सबके अतिरिक्त 'विभागसार' नाम का भी एक ग्रंथ सुना जाता है। इस ग्रन्थ-रत्न में [illegible]

मरने पर किसे उत्तराधिकारी होना चाहिये। यह पुस्तक पं० श्री जगदीश झा, नवानी (दरभंगा) ने मुझे दी थी। यह पुस्तक दरभंगा राजपुस्तकालय में भी है। शीघ्र ही इसे प्रकाशित करने की इच्छा है।

(च) विद्यापति और नीतिशास्त्र

कामन्दकीयनीति, शुक्रनीति आदि नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में केवल उपदेश-पूर्ण श्लोक हैं। उन उपदेशों का मानव-हृदय-पटल पर स्थायी प्रभाव हो इसलिये कोई उपाय ग्रन्थकारों ने नहीं सोचा। यही कारण है कि जन-समाज में उन महत्व-पूर्ण ग्रन्थों का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया। पण्डित विष्णुशर्मा को यह खटका। उन्होंने दूसरे उपाय का अवलम्बन किया अर्थात् पशु-पक्षियों की रोचक कथाओं के द्वारा एक छोटे बच्चे पर भी उन प्राचीन उपदेशों का प्रभाव डालने की कोशिश की। पहले-पहल विष्णुशर्मा ने 'पञ्चतन्त्र' की रचना की और अनन्तर उन्मार्गगामी, अनपढ़ चार राजकुमारों की शिक्षा के लिये हितोपदेश नामक ग्रन्थ की भी रचना की। संसार के सब देशों ने जी खोलकर पञ्चतन्त्र का उचित आदर किया। लैटिन, ग्रीक, जर्मन, स्पैनिश, पहलवी, अँगरेजी, अरबी आदि विदेशी भाषाओं में केवल इसका अनुवाद ही नहीं हुआ, किन्तु इसी के आधार पर अरबी में "The Kalila and Dimna", जर्मनी में "Das Buch der Beispiele der alten Weisen" अँगरेजी में "The Gesta Ramanorum" "Grimms' Tales" और अन्यान्य भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। इस तरह लोकप्रिय और उपदेश-पूर्ण पुस्तक का गुजराती, मराठी हिन्दी, बँगला आदि भारतवर्ष की भाषाओं में अनुवाद होना स्वाभाविक है। इस तरह पञ्चतन्त्र को सारे संसार ने अपनाया, यह मानने में किसी को भी

आपत्ति नहीं होगी। इस विषय में संस्कृत साहित्य के इतिहास-वेत्ता मेकडोनेल की पंक्तियाँ मैं नीचे उद्‌धृत करता हूँ—

"The translation into Pelhabi, the literary language of medieval Persia, has indeed been lost, but the Syrial Version made from that in 570 A. D. under the title of Kalilag and Damag, though somewhat imperfectly preserved, is still extant. Another was complete translation into Arabic (750 A. D.) entitled Kalila and Dimna.......................This Arabic translation is the source to which the numerous Versions, direct or indirect found in European and Asiatic languages are to bet raced. To be more precise, translations of Kalila and Dimna have been into forty languages, besides these from Sanskrit into fifteen Indian tongues. Probably no book except the Bible has been translated into so many languages, certainly no secular book".

India's past by
A. A. Macdonell.

इस विषय में उपर्युक्त पुस्तक के ११८ से १२५ पृष्ठ द्रष्टव्य हैं।

विद्यापति को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। विद्यापति ने देखा कि पञ्चतन्त्र में केवल पाँच ही भाग हैं—उनमें विना सोचे-विचारे काम करने का क्या परिणाम होता है यह बतलाने के लिये एक अपरीक्षितकारक-नामक भाग है। इसी तरह और-और भाग भी हैं। हितोपदेश में भी चार भाग हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि; जिनमें क्रमशः बतलाया गया है कि मित्रता किस प्रकार

होती है, मित्रों में लड़ाई किस प्रकार होती है, किस तरह लोग ठगे जाते हैं और उनमें परस्पर एकता कैसे होती है। बच्चों के लिये भले ही ये ग्रंथ उपयोगी हों, परन्तु विद्वानों के लिये ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता थी जिसमें नीतिशास्त्र के तत्त्वों के मार्मिक विवेचन हों। विद्यापति ने सोचा कि मित्रों में लड़ाई क्यों होती है, बिना सोचे विचारे मनुष्य काम क्यों करता है, इस तरह की भूलें क्यों हुआ करती हैं? नीतिशास्त्र की दृष्टि से इसका कारण यही है कि मनुष्य में पुरुष की परीक्षा करने की शक्ति नहीं है अर्थात् मनुष्य यह नहीं जान सकता है कि कौन पुरुष कैसा है और किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। यदि इस तरह की पुरुष-परीक्षा में निपुणता प्राप्त हो जाय तो फिर वैसी भूलें कभी भी नहीं होंगी। इसलिये विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा को नीतिशास्त्र का प्रधान अंग समझा और नीतिशास्त्र की शिक्षा के लिये "पुरुष-परीक्षा" की रचना की। ग्रंथ के आरम्भ में विद्यापति लिखते हैं—

"शिशूनां सिद्ध्यर्थं नयपरिचितेनूतनधियां
मुदे पौरस्त्रीणां मनसिजकथाकौतुकजुषाम्।
निदेशान्निःशङ्कं सदसि शिवसिंहक्षितिपतेः
कथानां प्रस्तावं विरचयति विद्यापतिकविः॥"

इससे मालूम पड़ता है कि ग्रन्थ की रचना का प्रधान उद्देश्य नीतिशास्त्र से अपरिचित मनुष्यों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देना ही था। पुरुष-परीक्षा में प्रवीणता हो जाने पर व्यावहारिक निपुणता के अतिरिक्त कामकला में चतुर नागरिक नारियों को आनन्द भी प्राप्त होगा। यह इसका दूसरा उद्देश्य था। इस बारीकी में विष्णुशर्मा आदि नीति-शास्त्रतत्त्वज्ञों को पीछे छोड़ विद्यापति बहुत आगे बढ़ गये। इसलिये विद्यापति को यदि सर्वश्रेष्ठ नीतिज्ञ कहें तो

कोई अत्युक्ति नहीं होगी। दुर्भाग्यवश पुरुष परीक्षा का उचित सम्मान नहीं हुआ। पञ्चतन्त्र की तरह इसने भी समुद्र-यात्रा की, किन्तु इसका वैसा स्वागत नहीं हुआ जैसा कि पञ्चतन्त्र का। आइ० सी० एस० परीक्षा के लिये पाठ्य-पुस्तक होने तक ही इसका सम्मान सीमित रहा। इसका अनुवाद मैथिली, हिन्दी और अँगरेजी इन्हीं तीन भाषाओं में हो सका।

(छ) विद्यापति और पुरुष-परीक्षा

विद्यापति की पुरुष-परीक्षा के अध्ययन से यह पता लगता है कि विद्यापति अच्छी तरह जानते थे कि कौन मनुष्य कैसा है और किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। इस तरह पुरुष-परीक्षण में निपुण विद्वान् स्वभावतः प्रकृति-पर्यवेक्षण में भी निपुण होगा। प्रकृति का पुजारी (Nature-worshipper) यदि कविता की रचना से प्रेम करेगा तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वह महाकवि होगा। पुरुष-परीक्षा की बारीकी भी एक कारण है कि विद्यापति महाकवि हो गये।

---

१. उदाहरण के रूप में दो कथाओं का सारांश दे दिया जाता है :—

(१) भोज के राज्य में केतकी और जातकी नाम की दो वेश्यायें थीं। उनमें केतकी की फीस एक लाख अशरफियाँ और दूसरे की पाँच अशरफियाँ थीं। एक दिन दोनों में लड़ाई हुई। केतकी ने कहा, पाँच अशरफियाँ पाकर फूली नहीं समाती हो। तुम मुझसे क्या बराबरी करोगी ? दोनों लड़ती हुई राजा के पास पहुँचीं और जातकी बोली—"गुण, वय, रूप और कला में मैं इससे ज़रा भी कम नहीं हूँ, फिर हम दोनों के पारितोषिक में इतना भेद होने का दायित्व राजा और नागरिक पर है।" राजा भोज बार-बार सोचकर भी निर्णय नहीं कर सके। इसलिये उन दोनों को विक्रमादित्य के पास भेज दिया। विक्रमादित्य ने गुण, वय और रूप की परीक्षा कर और उनसे दो-चार बातें कर उन्हें घर भेज दिया। एक दिन राजा

(ज) विद्यापति और कूटनीति

विद्यापति के राजाओं में गणेश्वर ने असलान को लड़ाई में परास्त किया परन्तु जब कूटनीति की बारी आई तब गणेश्वर की हार हुई। कीर्तिसिंह आदि राजाओं ने भी अपनी वीरता के बल पर ही युद्ध में शत्रुओं का सामना किया था। किन्तु कूटनीति से कभी भी काम नहीं लिया था। विद्यापति ने भी किसी राजा को

वहाँ पहुँचे। पहिले पाँच लाख मोहरें देकर विक्रमादित्य केतकी के घर पहुँचे। दोनों जब प्रेम के पराधीन हो गये तब राजा एकाएक सिर दर्द के बहाने गिरे और बेहोश हो गये। केतकी का चेहरा सूख गया, आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी। विक्रमादित्य के होश में आने पर जब उसे मालूम पड़ा कि गजमुक्ता से सेकने पर सिर दर्द कम होगा। विक्रमादित्य के मना करने पर भी बहुमूल्य गजमुक्ता के नष्ट होने की जरा भी परवा नहीं कर गजमुक्ता से राजा को सेंका। राजा का रोग दूर हो गया। प्रातःकाल होते ही राजा वहाँ से चले गये। दूसरी रात पाँच मुहरें देकर जातकी के घर पहुँचे। लकड़ी की तरह उसका शरीर कठोर था, प्रेम का पाठ तो उसने पढ़ा ही नहीं था। राजा ने उसके गले से खींचकर मोती की माला तोड़ डाली। ज्योंही वह दाने चुनने लगी, विक्रमादित्य बाहर निकल गये। उनका अन्तिम निर्णय यही हुआ कि केतकी उत्तम स्त्री है और जातकी लोभ की मूर्त्ति है।

(२.) पिशुन कथा में अनाथ बालक की रक्षा सोमदत्त नामक बनिये ने की। जब बड़ा हुआ धनोपार्जन करने लगा तब स्वभावतः सोमदत्त ने उसका व्यय देना बन्द कर दिया। उसने राजा से शिकायत कर देने की धमकी दी, बाध्य होकर दरिद्र होने पर भी सोमदत्त को उसका व्यय देना पड़ता था······ इत्यादि, इत्यादि, इत्यादि।

इस कथा के अन्त में विक्रमादित्य लिखते हैं—

"उपकारिण्यपकर्ता न भवति भुवि जारजादितरः"।

कूटनीतिज्ञ नहीं बतलाया है। इन सब बातों को पर्यालोचना से यहाँ तक हम पहुँचते हैं कि विद्यापति कूटनीति के पक्षपाती नहीं थे। होते भी तो कैसे? धर्म के नाम मर मिटनेवाली हिन्दू जाति ने धर्म को ही अपना सर्वस्व माना, कभी भी पराङ्मुख शत्रु पर शस्त्र नहीं चलाया। शरण में आये हुए शत्रु की भी रक्षा के लिये जान दे दी और संसार की सब वस्तुओं को अनित्य और केवल धर्म को ही नित्य समझा। हिन्दुओं में भी सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण और धर्मसुधारक होकर विद्यापति कूटनीति को कैसे अपनाते? उनके उदासीन रहने का यही कारण प्रतीत होता है।

विद्यापति के ग्रंथों पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि कूटनीतिज्ञ नहीं होने पर भी, विद्यापति को कूटनीतिज्ञों के प्रति आस्था थी, कूटनीतिज्ञों को सम्मान की दृष्टि से देखते थे, किन्तु उनकी प्रशंसा करते समय भी 'कूटनीति' शब्द का व्यवहार नहीं कर उसके स्थान में विद्या और बुद्धि शब्दों का व्यवहार करते थे। जैसा कि निम्न-लिखित श्लोक से पता लगता है—

रोषो यस्य कृतान्तपत्तनमितो नन्दान् नव प्राहिणोत्
निर्विघ्नं वृषलाय नूनमभवत्तोषस्तु राज्यप्रदः।
स ख्यातः किल विद्यया च सकले बुद्ध्या च भूमण्डले
चाणक्यश्चतुराननप्रतिनिधिः केषान्न वाग्गोचरः॥

"पुरुष-परीक्षा"

जिसके क्रोध ने नव नन्दों को यमपुरी भेजा, जिसकी प्रसन्नता ने शूद्र (चन्द्रगुप्त) को राज्य दिलाया वह सारे संसार में बुद्धि और बल के कारण विख्यात, ब्रह्मा के प्रतिनिधि चाणक्य की प्रशंसा कौन नहीं करता है?

(झ) विद्यापति और धर्म-सुधार

तथा

समाज-सुधार

गोस्वामी तुलसीदासजी के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन भक्तिमार्ग के भीतर बढ़ती हुई बहुत-सी बुराइयों को रोका। शिव और विष्णु को एक बताकर विष्णु को शिव की उपासना करते हुए और शिव को विष्णु की उपासना करते हुए बताकर शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने बहुत कुछ रोका जिसके कारण दक्षिण भारत की शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची की तरह उत्तर भारत में भी शिव काशी और विष्णु काशी की सृष्टि नहीं हुई और वह विद्वेष वैसा भयंकर रूप धारण नहीं कर सका जैसा कि दक्षिण में। यह गोस्वामीजी का एक महत्वपूर्ण धार्मिक सुधार था।

दूसरा सुधार "हिन्दीसाहित्य का इतिहास" के लेखक हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक बाबू रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में यह है "निर्गुणधारा के संतों की बानी में लोक धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। कबीर, दादू आदि के लोक-धर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसम्पन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिप्रेम-परायण सतियों, पितृ-भक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा, उसका

कल्याण कदापि नहीं होसकता। स्वामीजी को निर्गुण-पन्थियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा।"

"भक्ति की चरम सीमा तक पहुँचकर भी लोक-पक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। लोक-संग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अङ्ग था। कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोकव्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्तिरस भरी वाणी जैसे मङ्गल-कारिणी मानी गई वैसी और किसीकी नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरित मानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।"

अब मुझे देखना है कि जिन गुणों के कारण गोस्वामी तुलसी-दासजी को 'धर्म-सुधारक' और 'समाज-सुधारक' की उपाधि दी जाती है वे गुण महाकवि विद्यापति में विद्यमान थे या नहीं।

मिथिला के चूड़ान्त विद्वानों की तो बात ही क्या उनकी छत्र-च्छाया में सुख और शान्ति से सोती हुई मिथिला की साधारण जनता पर भी किसी विरोधी धर्म का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। निश्चित रूप से यह बतलाना कठिन है कि वैष्णव और शैव दो प्रकार के भक्त मिथिला में थे या नहीं, किन्तु इतना निश्चित है कि दो भक्ति-मार्गों के होने पर भी दोनों में जरा भी विद्रोह नहीं था। विद्यापति की रचना भी इस बात का साक्षी है। मिथिला में विष्णु और शिव एक ही देव के दो रूप माने जाते थे। दोनों को एक स्थान

१. इन्हीं प्रासंगिक पदों का संग्रह 'तुलसी-सूक्तिसुधा' में किया गया है।

२. स्वस्त्यस्तु वस्तुहिनरश्मिभृतः प्रसादादेकं वपुः स्थितवतो हरिणा समेत्य पायास्तां निर्विवादी सपदि हरिहरौ व्यक्रमचोत्तरान्तः। विभागसार गङ्गा-वाक्यावली।

कर भी वैष्णव विष्णु के रूप में और शैव शिव की उपासना करते थे। यही दोनों में अन्तर था। वैष्णव शिव की और शैव विष्णु की निन्दा कभी भी नहीं करते थे। अग्रिम अध्याय में बताया जायगा कि पुराणों में किस प्रकार हरि और हर में अभेद और दोनों का एक हरिहर-रूप मान लिया गया है, और उसका केन्द्र हरिहर-क्षेत्र मान लिया गया है जो मिथिला के अन्तर्गत है। इसलिये यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मिथिला में वैष्णवों के साथ शैवों का ज़रा भी विद्वेष नहीं था जिसे दूर करने के लिये विद्यापति को कुछ चेष्टा करनी पड़ती। उस समय की परिस्थिति दूसरी थी, उस समय दूसरे प्रकार की धर्मसुधार की आवश्यकता थी। विद्यापति के ग्रन्थों के अध्ययन से ही पता लगता है कि मुसलमानों के कुव्यवहार से हिन्दू जाति की दुर्दशा हो गई थी। हिन्दू जाति के राजा हिन्दुओं की भरपूर सहायता करने के लिये, अपने विरोधियों को तलवार के बल हटा देने के लिये या स्वयं ही देश, धर्म और हिन्दू जाति के नाम पर मर मिटने को तैयार थे। इस अवस्था में कभी जय, कभी पराजय, कभी उत्साह, कभी विषाद, कभी धर्मपरायणता के कारण मृत्यु से भी नहीं डरना, कभी बलात्कार से अधर्म की शरण लेना आदि विरोधी घटनाएँ तो प्रतिदिन हुआ ही करती थीं। उस समय ऐसे धर्म प्रचारक की आवश्यकता थी जो समय-समय पर हतोत्साह, धर्म-पथ से डगमगाती हुई मृतप्राय जनता में धर्मशास्त्र के वचनों से, अपने और आश्रयदाता राजाओं के उदाहरणों से एवं वीर और धर्मप्राण राजाओं और वीर पुरुषों की फड़कती हुई वीरगाथा से नस-नस में नया जोश भरकर नये जीवन का संचार कर सके। अब देखना है कि विद्यापति ने इस सुधार में कैसे हाथ बँटाया। विद्यापति ने बलाह और विक्रमादित्य की दानवीरता, शरणागत मुसलमान सेनापति की रक्षा के लिये जान देनेवाले हम्मीर देव की दया, वीरता,

अकेले जयचन्द्र के साथ घनघोर युद्ध करनेवाले राजकुमार, मल्लदेव की युद्धवीरता, और काफर राज की सत्यवीरता की कथा के द्वारा राजाओं को दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और सत्यवीर, प्रजाओं को सत्यवीर, दानी, दयालु होने की शिक्षा देकर, चोर, भीरु और अलस की कथाओं के द्वारा चोर, भीरु और अलस होने की हानियाँ दिखलाकर सत्य पर अटल रहने के लिये, परोपकार के लिये सर्वस्व तक न्योछावर कर देने के लिये, युद्ध में टस-से-मस नहीं होने के लिये जनता को प्रोत्साहित किया। इन्हीं प्रोत्साहनों को पर्याप्त नहीं समझकर पुरुष-परीक्षा के अन्य परिच्छेदों में प्रतिभा के द्वारा असहाय विशाखदत्त का राजविजय, चाणक्य के बल और बुद्धि के द्वारा नन्दों का विनाश, विष-कन्या के द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या, राजभक्त मन्त्री राक्षस का मन्त्री होना, वराहमिहिर, शवर स्वामी आदि का पाण्डित्य, नृत्य, गीत आदि विद्याओं के द्वारा यश प्राप्त करना, धर्म की परिभाषा, धर्म, मोक्ष आदि का विवेचन आदि के द्वारा और प्रत्युदाहरण कथाओं के द्वारा इन गुणों के नहीं होने पर असंख्य हानियाँ, इन गुणों के नहीं होने पर पुरुष कहलाने की अयोग्यता आदि दिखलाकर विद्या, बुद्धि, बल, धर्म आदि गुणों का सहारा लेकर शत्रुओं के सामना करने का प्रोत्साहन दिया। "डरना, ठग होना, आलसी होना, धूर्त होना सङ्कट के समय धर्म का त्याग करना आदि दुर्गुण होने पर मनुष्य पुरुष कहलाने योग्य नहीं रहता है" इस तरह के उपदेशों के समर्थन में प्रमाण के रूप में सच्ची घटनाओं के होने के कारण प्रोत्साहनों से परिपूर्ण इन उपदेशों का प्रभाव और भी स्थायी हुआ होगा। सब ही इन उपदेशों को सुन सकें, सब ही समझ सकें और सबके ऊपर इसका पूरा

(१) बुद्धिः स्फूर्तिमती यस्य भवेदूहसमन्विता। उत्पन्नेषु च कार्येषु स सप्रतिभ उच्यते।

प्रभाव पड़े इसी उद्देश्य से सच्ची घटनाओं की, छोटी-छोटी रोचक कथाओं का सहारा लिया गया। छोटी-छोटी कथाएँ सबको प्रिय होती हैं। इसलिये उन कथाओं के द्वारा उपदेश देना एक प्रशंसनीय नीति है। आजकल स्थान-स्थान पर व्याख्यान देकर किसी विषय का प्रचार करना और उस समय छोटी-छोटी रोचक कथाओं के द्वारा प्रचार करने का महत्त्व, मेरी दृष्टि में, समान है।

मुझे मालूम पड़ता है विद्यापति को "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेत्तरो जनः" इस नीति पर पूरा विश्वास था। इसलिये अपने आश्रयदाता राजाओं में विद्यापति के प्रोत्साहन से देवसिंह ने हस्तिदान, रथदान, स्वर्णदान, तुलापुरुषदान आदि किये थे। उसके बाद विश्वासदेवी ने भी स्वर्णदान, तुलादान, आदि अनेक महादान किये थे। सम्भव है कि विद्यापति ने इसी समय दानवाक्यावली लिखना आरम्भ किया हो और रानी धीरमती के समय उसकी समाप्ति हुई हो। विश्वासदेवी के समय अपने इष्टदेव शिवजी की उपासना का राजकुल में और स्वभावतः राजा और रानी का अनुकरण करनेवाली प्रजाओं में प्रचार करने के लिये विद्यापति ने शैवसर्वस्वसार की रचना की। सम्भव है, काशी, प्रयाग, अयोध्या आदि स्थान भी लुप्तप्राय हो रहे थे। विद्यापति ने 'भू-परिक्रमा' नामक ग्रन्थ में उन तीर्थों का वर्णन कर उनके प्रति लोगों की श्रद्धा उत्पन्न कराई। समय के प्रभाव से लुप्तप्राय गयाश्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध, वार्षिक पूजा आदि को पुनरुज्जीवित करने के लिये गया-

(१) मतङ्गरथप्रदः कनकदानकल्पद्रुमः तुलापुरुषमद्भुतं निजधनैः पिता दापितः। 'ताम्रपत्र'

(२) यस्याः स्वर्ण-तुला-मुखाखिलमहादानप्रदानाङ्गण-स्वर्गग्रामसृगीदृशामपि तुला कोटिध्वनिःश्रूयते। 'शैवसर्वस्वसार'

पत्तलक, वर्षकृत्य आदि ग्रन्थों की रचना की। इन ही धार्मिक और सामाजिक सुधार के भाव से प्रेरित होकर विद्यापति ने अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थों की भी रचना की होगी। मैथिली में शिवस्तुति, गङ्गास्तुति, दुर्गास्तुति आदि स्तुतियों की रचना कर अशिक्षित जनता में भी धार्मिक भाव जागृत किया। इस समय भी विद्यापति की स्तुतियों से मिथिला की जनता पूर्ण परिचित है। कोई भी शुभ कार्य हो, मिथिला में उस शुभ कार्य का मङ्गलाचरण विद्यापति की देवी-वन्दना से ही होता है।

"जय जय भैरवि असुर भयावनि पसुपति-भामिनि माया ॥१॥
सहज सुमति गति दिअओ गोसाउनि तुअ अनुगति भव जाया ॥२॥
विकट कटाक्ष 'ओठ उठ पांडरि लिधुर सहित उर फोंका ॥३॥
सांवरि नैन बैन उर राजित छमकि चलि फुज़ फोंका ॥४॥
कतहु दैत्य मारि मुख मेलल कतहु कैल ताहि पूजा ॥५॥
विद्यापति कवि तुअ पद सेवल पुत्र बिसरु जनि माता ॥६॥"

इस प्रकार यह स्वीकार करने में किसी को जरा भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि विद्यापति धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक थे और अपने ही जीवनकाल में सुधारक बनने में सफल हुए। क्रमशः समय बदलने के कारण विद्यापति के सुधार का प्रभाव इस समय नहीं है। इस अवसर यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि विद्यापति क समय के सब विद्वान् कुछ-न-कुछ इस कार्य में सहयोग-प्रदान करते थे। यही कारण है कि दार्शनिक-शिरोमणि म० म० पक्षधर मिश्र, म० म० उमापति उपाध्याय आदि विद्वान् न्याय, वेदान्त, आदि दर्शनों के चमकीले मणि होने पर भी उन्होंने स्मृति-ग्रन्थों की रचना सुधार के उद्देश्य से की। इस तरह मालूम पड़ता है कि सुधार के उद्देश्य से ही स्मृति-ग्रन्थ की रचना की धारा उस समय वही थी।

लोक-धर्म की शिक्षा के लिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रत्येक ग्रन्थों के बीच-बीच में उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में उपदेशपूर्ण लम्बे-लम्बे व्याख्यान दिये हैं। विद्यापति ने इन उपदेशों के लिये एक अलग ग्रन्थ ही लिख डाला। उन उपदेशों से ही सन्तुष्ट नहीं होकर विद्यापति ने भी अपने ग्रन्था के बीच-बीच में उपदेश दिये हैं। कीर्त्तिलता में मन्त्रियों का कीर्तिसिंह के प्रति उपदेश वेश्यागमन के दोष, असलान का पश्चात्ताप, आदि इस तरह के अनेक उपदेश हैं।

स्कूल और कौलेज में अध्यापन-कार्य के लिये आये हुए अध्यापकों के उपदेशों का, और प्रचार कार्य में जीवन यापन करनेवाले और घूम-घूम सन्देशा पहुँचानेवाले उपदेशकों के उपदेशों का स्थायी प्रभाव नहीं होता है। क्लास में जाकर अध्यापक का व्याख्यान सुनना प्रत्येक दिन का एक साधारण कर्तव्य है। उसमें जरा भी आनन्द नहीं। फिर जिसमें रोचकता नहीं, उसका प्रभाव कैसे पड़े। हर महीने दो, चार, दस उपदेशक आ जाया ही करते हैं। फिर उसमें नवीनता क्या! इसके अतिरिक्त कितने उपदेशक अपनी भाषा से, कोई अपनी यात्रा की घटनाओं से, कोई अपने व्याख्यान के अनूठे ढंग से श्रोताओं के प्रशंसापात्र बनते हैं। इसलिये विरले ही ऐसे उपदेशक मिलते हैं जिनके उपदेशों का प्रभाव स्थायी होता हो। कभी-कभी सामने देखी हुई घटनाओं का अच्छा प्रभाव पड़ता है। मुझे याद है, मेरे एक मित्र सन्ध्यावन्दन आदि धार्मिक कार्यों से दूर रहते थे, उनके नाम लेने पर नाक-भौं सिकोड़ लेते थे। आप एक क्रिश्चियन को ओपरेटिव बैङ्क के मैनेजर थे। एक दिन एक क्रिश्चियन सदस्य की मृत्यु हुई थी, उन्होंने देखा कि उस धर्म के अनुयायी बूढ़े, बच्चे और जवान सब-के-सब प्रार्थना करने के लिये गिरजाघर में उपस्थित हो गये। यह देखकर धर्म से अपनी उदासीनता पर उन्हें बड़ी लज्जा हुई। दूसरे ही दिन से उन्होंने सन्ध्या-

वन्दन और कुछ प्रार्थना करना आरम्भ किया। इसी प्रकार अर्थान्तर न्यास अलङ्कार से भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। जहाँ अर्थान्तर (दूसरी बात) के न्यास (स्थापन) से वक्तव्य अर्थ का समर्थन होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है। वह अर्थान्तर किसी दूसरे रस का हो सकता है। हो सकता है कि वह उपदेशपूर्ण वाक्य ही हो। इस अलङ्कार के द्वारा कवियों को उपदेश देने का अच्छा अवसर मिलता है। शृङ्गारस में गोता खाते हुए पाठक को उपदेशपूर्ण लोकोक्ति नया विषय मालूम पड़ता है और स्वभावतः उसे सुनकर मन प्रफुल्लित हो उठता है। फिर उसका प्रभाव स्थायी क्यों न हो। यही बात खाने में भी है। भर पेट मिठाई खाने से वैसा आनन्द नहीं होता है जैसा कि और-और रसों के अन्त में दो एक मिठाई खा लेने पर। इससे विशेष स्वादिष्ठ चटनी मालूम पड़ती है। क्यों? उसमें अनेक रस मिले हुए रहते हैं। इसी प्रकार कविता में शृङ्गार या वीर कोई एक ही रस हो उसमें इतना आनन्द या मनोरञ्जकता नहीं जितना अनेक रसों और भावों के संमिश्रण में। यही कारण है कि इस प्रकार की कविताओं को लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं और स्वभावतः उनका प्रभाव स्थायी होता है। इसीलिये पुरुष-परीक्षा में चतुर विद्यापति ने इसी उपाय का सहारा लिया और परिणाम स्वरूप विद्यापति के शृङ्गार के पदों में भी लोकोक्तियों की भरमार पाई जाती है।

इस विषय पर व्यर्थ बातें नहीं बढ़ाकर नीचे कुछ लोकोक्तियाँ अर्थ के साथ निर्दिष्ट की जाती हैं।

विद्यापति की कुछ लोकोक्तियाँ ये हैं :—

(१) जे जन रतल जाहि सौं सजनी कि करत विधि भय बौंक।

---

(१) जिससे जो अनुरक्त है, ईश्वर भी प्रतिकूल होकर उसके सच्चे प्रेम में बाधा नहीं डाल सकते हैं।

(२) हृदय क बेदन बान समान, आन क दुःख आन नहिं जान।

(३) वारिविहुँन सर केओ नहिं पुछ।

(४) जावे रह धन अपना हाथ, तावे आदर कर संग साथ।

(५) धनिक क आदर सब तहँ होय निर्धन बापुर (वेचारा) पुछय न कोय।

(६) जों जग जीविय नवओ निधि मील।

(७) विद्यापति कह धिक धिक जीवन माधव निकरुन कन्त रे।

(८) अपन करम-दोख अपनहिं भुंजइ जे जन पर-वस होइ।

(९) सखि अनकर दुख दारुन रे जग के पति-आय।

(१०) भिन-भिन राज भिन्न बेवहार।

(११) समय न बूझय अचतुर चोर।

(१२) आसा लुबुधल न तजय रे कृपनक पाछु भिखारि।

---

(२) बाण के आघात हृदय का दुःख होता है, दूसरे का दुःख दूसरा मनुष्य नहीं समझता है।

(३) जल से रहित सरोवर को कोई नहीं पूछता है।

(४) जब तक अपने पास धन रहता है तब ही तक सब कोई आदर करते हैं।

(५) धनी मनुष्यों का आदर सब जगह होता है। बेचारा गरीबों को कौन पूछता है?

(६) संसार में यदि मनुष्य जीता रहे तो उसे नव रत्न प्राप्त होते हैं।

(७) यदि पति निर्दय हो तो उस जीवन को धिक्कार।

(८) जो मनुष्य परवश हैं वे अपने किये कामों का फल अपने ही भोगते हैं।

(९) हे सखि, दूसरों के कठोर दुःखों पर किसे विश्वास होता है?

(१०) भिन्न-भिन्न राजाओं के भिन्न व्यवहार होते हैं।

(११) मूर्ख चोर समय (चोरी करने का अवसर) नहीं समझता है।

(१२) आशा के फेर में पड़ा हुआ भिक्षुक कृपण मनुष्यों का पीछा नहीं छोड़ता है।

(१३) मनि कादो लपटायल रे तें कि तकर गुन जाय रे।

(१४) कतय मीति जो दृढ़ अनुराग।

(१५) एक क खीन अओ क अवलम्ब।

(१६) लोभक रासि पुरुष थिक जाति।

(१७) अवसर देल सहस हो लाख।

(१८) वैभव गेने रहय विवेक, तैसन पुरुष लाख थिक एक।

(१९) भनहि विद्यापति दूती से दुइ मन मेल करावय जे।

(२०) अपन मूड़ हम अपने चौंछल दोष देव गय काहि।

(२१) प्रेमक कारन जीव उपेखिय जग जन के नहिं जाने।

(२२) कृपन पुरुष के केओ नहिं निक कह जग भरि कर उपहास।

---

(१३) क्या कीचड़ में पड़ने पर मणि का गुण नष्ट हो जाता है ?
तुलना कीजिये—"किमपेति रजोभिरौर्वरैरवकीर्णस्य मणेर्महार्घता"
शिशुपालवध सर्ग श्लोक

(१४) यदि सच्चा प्रेम है तो डर कहाँ ?

(१५) एक मनुष्य की अवनति होने पर दूसरे को सहारा मिल जाता है।

(१६) पुरुषजाति लोभी होती है।

(१७) अवसर पर दिया हुआ हजार भी लाख के बराबर है।

(१८) हजार में एक वैसा पुरुष है, धन जाने पर भी जिसकी विचारशक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

(१९) विद्यापति कहते हैं कि दूती वह है जो दोनों का मन मिलाती है।

(२०) हमने अपने हाथ से अपना सिर काट डाला है अर्थात् अपने हाथ से अपनी बुराई की है फिर दोष किसका दें ?

(२१) दुनिया में यह कौन नहीं जानता है कि प्रेम के कारण जान दी जाती है।

(२२) कोई भी कृपण पुरुष की प्रशंसा नहीं करता है। सारा संसार उसकी निन्दा ही करता है।

(२३) निज धन अछइत नहिं उपभोगब केवल परहिं क आस।
भनइ विद्यापति सुनु मथुरापति ई थिक अनुचित काज॥
(२४) माँगि लाएब वित से जदि हो नित अपन करब कोन काज।
(२५) सबहु मतंगज मोति नहिं मानी, सकल कंठ नहिं कोइल वानी।
(२६) सुजन क प्रेम हेम समतूल, दहइत कनक दिगुन होय मूल।
(२७) सब तँह बड़ थिक पर उपकार।
(२८) भल मन्द जानि करिअ परिनाम, जस अपजस दुइ रहत ए ठाम।
(२९) आइति (अवसर) पड़ने बुझिअ विवेक।
(३०) जैसन परहोंक (बोहनी) तैसन बीक।
(३१) धयले रतन अधिक मुल होय।
(३२) आरति गाहक महग बेसाह।

---

(२३) अपने पास धन रहने पर भी उसका उपभोग नहीं कर केवल दूसरे की आशा करना, हे मथुरापति सुनो, अनुचित काम है।
(२४) माँगने पर यदि प्रतिदिन धन मिल जाया करे तो अपने धन की क्या आवश्यकता?
(२५) सब हाथियों के सिर पर मोती नहीं रहता है, सब के कण्ठ से निकली हुई वाणी कोयल के समान नहीं होती है।
(२६) सज्जनों का प्रेम सोने के समान होता है। जलाने पर सोने का मूल्य दुगुना हो जाता है।
(२७) परोपकार सबसे बड़ा है।
(२८) अच्छा और बुरा परिणाम सोचकर काम कीजिये। केवल यश और अपयश—ये ही दो यहाँ रह जायेंगे।
(२९) अवसर पड़ने पर विवेक की परीक्षा होती है।
(३०) जैसी बोहनी होती है वैसे ही बिक्री होती है।
(३१) रक्खा हुआ रत्न बहुमूल्य होता है।
(३२) ग्राहक के गरज होने पर चीजें मँहगी मिलती हैं।

(३३) विन दुख सुख कबहू नहिं होय।

(३४) बड़हु भुखल नहिं दुहु कर खाय।

(३५) काम प्रेम दुहु एक मत भय रहु कखने की न करावे।

(३६) विनु साहस अभिमत नहिं पूर।

(३७) एहि संसार सार वथु एक तिल एक संगम, जावे जिव नेह।

(३८) केओ नहिं बेकत करे निज चोरि।

(३९) फाबि चोरि जौं चेतन चोर।

(४०) से जीवन जे पर उपकार।

(४१) वचन क कौसल जीतिअ वाद।

(४२) दीप क दिप सम थिर न रहय मन दृढ़ करु अपन गेआने।

(४३) कनक-कमल हेरि काहि न लोभ ?

---

(३३) दुःख के बिना सुख कभी भी नहीं मिलता है। नहि सुखं दुःखै-
विना लभ्यते।

(३४) बहुत भूखा होने पर भी दोनों हाथों से आदमी नहीं खाता है।

(३५) काम और प्रेम इन दोनों में यदि एक मत रहे तो किस से क्या क्या नहीं करवा डाले ?

(३६) साहस के विना मनोरथ पूरा नहीं होता है।

(३७) इस संसार में एक ही सार वस्तु है—क्षण भर के लिये भी सत्संग, और जन्म भर प्रेम।

(३८) कोई भी कभी अपनी चोरी प्रकट नहीं करता है।

(३९) चालाक चोर को चोरी में सफलता मिलती है।

(४०) वही जीवन है जिसमें परोपकार है।

(४१) वचन की चातुरी से विवाद में जय प्राप्त की जाती है।

(४२) मन दीपक की रोशनी की तरह स्थिर नहीं रहता है। इसलिये अपनी बुद्धि स्थिर करो।

(४३) सोने का कमल देखकर किसे लोभ नहीं होता है ?

(४४) भल जन करथि पर क उपकार।
(४५) अधिक चोरि पर सँ करिय इयेह सनेह क सोत।
(४६) प्रेम क गति दुर्वार।
(४७) काच कनक लय गाँथ गमार।
(४८) लाभक लोभ मुरहुँ भेल हानि।
(४९) अब विपरित भेल से सब काल वासि कुसुम किय गाँथल माल।
(५०) पानि तेल नहिं निविड़ पिरीति।
(५१) हिय सम कुलिस, वचन मधु धार, विष घट ऊपर दुध उपहार।
(५२) संचित मदन वेदन अति दारुन विद्यापति कवि भान।
(५३) मुल विनु परधन माँग वेश्राज।
(५४) आन क धन लय धनवंति रे कुब्जा भेलि रानी।
(५५) विपति चिन्हिय भल मंदा।
(५६) किय विषदाह समय जल दाने।

---

(४४) सज्जन मनुष्य दूसरों का उपकार किया करते हैं।
(४५) स्नेह का यही प्रवाह (रीति) है कि दूसरों से चोरी की जाय।
(४६) प्रेम की गति रोकी नहीं जा सकती है।
(४७) ग्रामीण (देहाती) सोने के धागे से काँच की माला गूँथते हैं।
(४८) लाभ के लोभ से मूल-धन भी नष्ट हो गया।
(४९) बासी फूलों से माला क्यों गूँथी ? अब समय पलटा खा गया है।
(५०) पानी और तेल में घनिष्ठ मित्रता नहीं होती है।
(५१) वज्र के समान हृदय है और वचन से मधु की धारा टपकती है। मालूम पड़ता है विष के घड़े पर दूध हो।
(५२) विद्यापति कवि कहते हैं, काम की पुरानी पीड़ा बहुत ही दुःखदायक होती है।
(५३) अपने पास मूल धन नहीं, दूसरे के धन पर दूसरा ब्याज माँगता है।
(५४) दूसरे का धन लेकर कुब्जा धनवंती (सौभाग्यवती) ही नहीं, किन्तु रानी हो गई है।
(५५) विपद् में अच्छे और बुरे की पहचान होती है।
(५६) विष से जलते समय पानी देकर क्या होगा ?

तुलसीदासजी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे, पर लोक-रीति के अनुसार अपने ग्रंथों में गणेश-वंदना पहले कर तब वे आगे चले हैं। सूरदासजी ने "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो" से ही ग्रंथ का आरम्भ किया है। तुलसीदास जी की अनन्यता सूरदास से कम नहीं थी, पर लोकमर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुई थी। इसी प्रकार विद्यापति ने शैव होकर भी तन्त्रप्रधान देश में रहने के कारण सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ, पुरुषपरीक्षा में आद्या शक्ति की, पत्र, तमस्सुक आदि लिखने के पहले गणेशजी के प्रणाम करने की प्रथा के अनुसार लिखनावली में गणेशजी की, दान करने के सङ्कल्प में "विष्णुप्रीत्यर्थम्" और "विष्णुदैवतम्" का व्यवहार पग-पग पर होता है. इस लोक-मर्यादा की रक्षा के लिये दानवाक्यावली के आरम्भ में विष्णु की वंदना की। दशहरा में बात-बात में दुर्गा का नाम सुनाई पड़ता है, दुर्गा का (सप्तशती का) पाठ, दुर्गा की पूजा, दुर्गा का जप, दुर्गा के लिये कुमारिका का भोजन (कोई-कोई भोजन के समय कुँवारी लड़कियों को भी दुर्गा ही कहते हैं), दुर्गा का नवरात्र आदि। इस प्रकार दुर्गामय मिथिला की दुर्गापूजन-पद्धति के आरम्भ में दुर्गा को वंदना करना, शैव-सर्वस्वसार में शिव की और गङ्गा-वाक्यावली में गङ्गा की वंदना करना लोकधर्म की दृष्टि से विद्यापति को आवश्यक प्रतीत हुआ। इसलिये हर जगह अपने इष्टदेव शिव की वंदना नहीं कर लौकिक व्यवहार के अनुसार अनेक देवों की वंदना की।

(ञ) विद्यापति और मैथिलों का अभिमान

विद्यापति की धारणा थी कि मैथिल विद्वानों की अभिमानपूर्ण बातें सुनकर लोगों को यह धारणा हो जाती है कि वे बहुत अहङ्कारी होते हैं, किन्तु जब वे उन्हीं श्रोताओं को अपनी योग्यता दिखलाकर

चकित कर देते हैं तब उन्हें सहर्ष स्वीकार करना पड़ता है कि उन उक्तियों में अहंकार का लेश भी नहीं है, वे उक्तियाँ अक्षरशः सच्ची हैं। इसके समर्थन में पुरुष-परीक्षा से 'गीतविद्य-कथा' का सारांश मैं नीचे उद्धृत करता हूँ।

गीतविद्य-कथा

गोरखपुर में उदयसिंह-नामक एक राजा थे। एक दिन राजा पूजा कर रहे थे कि तिरहुत से कलानिधि-नामक एक गवैया वहाँ पहुँचे और उनका गाना सुनकर सभासदों ने उनकी प्रशंसा की और राजा ने सोना देकर उनका सम्मान किया। उस स्थान के गवैयों को यह अच्छा नहीं मालूम पड़ा और उन्होंने राजा के सामने कलानिधि की निन्दा की। राजा ने कहा कि कलानिधि के गाने से मेरे हृदय में उथल-पुथल मच गया था, फिर मैं कैसे मानूँ कि वे गुणी नहीं हैं। गवैयों ने सभा में उन दोनों के गान पर विचार करने के लिये अनुरोध किया। राजा के अनुरोध करने पर कलानिधि ने कहा—"मेरे लिये यह न गाने का अवसर है और न उत्तर देने का ही क्योंकि जिस समय हरिसिंह देव सुननेवाले थे उस समय मैं गाता था, वसन्त ऋतु के बीतने पर कोयल भी पञ्चम स्वर से नहीं गाता है। गवैयों ने कहा—"महाराज ही सोचें कि ये कैसे अहङ्कारी हैं"। राजा बोले—"अपने गुण का अहङ्कार करना तिरहुतियों का एक साधारण लक्षण है"। कलानिध बोले—"मैं जरा भी अभिमानी नहीं हूँ, किन्तु सच्ची बात तो कहनी ही पड़ती है। मैं गाऊँगा, महाराज के गवैये भी गावेंगे, किन्तु मध्यस्थ कौन होगा ? शिवजी और हरिसिंह देव ये दो ही गीतविद्या के विशेषज्ञ हैं। हरिसिंह देव के स्वर्ग जाने पर अब केवल शिवजी हैं। यदि शिवजी आवें ता मैं गाऊँ"।

१. तीरभुक्तीयाः स्वभावाद्गुणगर्विणो भवन्ति—'पुरुष-परीक्षा'

गवैया ने कहा—"शिवजी का आना असम्भव है, दूसरे किसी को कलानिधि मध्यस्थ ही नहीं मान रहे हैं। यह उनके पराजित होने का लक्षण है।" अनन्तर कलानिधि बोले—'आप ही लोग जिसे चाहें उसी को मध्यस्थ मानें'। वे बोले—"मृग किसी से प्रभावान्वित नहीं होंगे। इसलिये वे मध्यस्थ माने जायँ"। कलानिधि बोले—"यदि पशु को ही मध्यस्थ मानना है तो बैल मध्यस्थ हों"। दोनों के मत से यह निश्चित हुआ कि जिसका गाना सुनकर पानी पीने के लिये जाते हुए प्यासे बैल पानी पीना छोड़कर जलाशय के निकट से लौट जायेंगे वही विजयी माना जायगा। कलानिधि विजयी हुए और राजा के द्वारा सम्मानित हुए।

(ट) विद्यापति और संस्कृत

विद्यापति ने संस्कृत में निम्नलिखित ग्यारह ग्रन्थों की रचना की। विद्यापति के ताम्रपत्र में बड़े ही सुन्दर श्लोक हैं और विद्यापति की पुरुष-परीक्षा में अनेक ऐसे श्लोक हैं जिनके सुनने पर आनन्द के मारे श्रोताओं के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विद्यापति के संस्कृतज्ञ और संस्कृत-कवि होने में ये ही काफी प्रमाण हैं। इसीलिये महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री और भाषातत्त्वरत्न नलिनीमोहन संन्याल का कहना है कि इन विमुग्धकारी गीतों में यदि वे एक भी गीत नहीं लिखते तो भी संस्कृत-भाषा में रचित ग्रन्थों के कारण ही वे अति उज्ज्वल मनीषी गिने जाते।

संस्कृत में लिखे हुए विद्यापति के ग्रन्थ ये हैं—

१ भूपरिक्रमा	६ शैवसर्वस्वसार
२ पुरुष-परीक्षा	७ गंगावाक्यावली
३ लिखनावली	८ दानवाक्यावली
४ विभागसार	९ दुर्गाभक्ति-तरङ्गिणी
५ वर्षकृत्य	१० गया-पत्तलक ११ मणिमञ्जरी

(ठ) विद्यापति और प्राकृत

प्राकृत शब्द के अर्थ में दो मत हैं। वररुचि आदि वैयाकरणों की राय है कि प्राकृत उस भाषा का नाम है जो प्रकृति (मूल कारण) अर्थात् संस्कृत से निकली हुई हो। इस तरह उनकी राय है कि संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है।

भाषातत्वविद् (Phylologist) इसमें सहमत नहीं हैं। उनकी राय है कि आर्य और अनार्य की भाषाओं के संमिश्रण से एक नई भाषा की उत्पत्ति हुई। बहुत दिनों तक यह बोलचाल की भाषा थी, परस्पर भाव-विनिमय ही इसका एकमात्र उद्देश्य था। बुद्ध और महावीर के समय में यह साहित्य की भाषा हो गई। इसका उपयोग शिला-लेख में भी होने लगा। इसलिये इस भाषा की उत्पत्ति वैदिक-संस्कृत और अनार्य भाषा से हुई। वैदिक संस्कृत उन्नत थी। यही कारण है कि 'प्राकृत' पर वैदिक भाषा का अधिक प्रभाव पड़ा। निम्नलिखित कारणों से यह मालूम पड़ता है वैदिक भाषा से संस्कृत और प्राकृत दोनों की उत्पत्ति हुई है और संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति नहीं हुई है :—

(१) प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। संस्कृत तावत्-प्राकृत ताव, संस्कृत कर्म्मन्—प्राकृत कर्म्म।

वैदिक भाषा में दोनों तरह के प्रयोग हैं। इसी प्रकार देवकर्मेभिः, पश्चा, युष्मा, नीचा आदि शब्द और उन के व्यञ्जनान्त रूप भी पाये जाते हैं।

(२) प्राकृत में र् औ य् का लोप होता है। जैसे—ग्राम-गाम,

---

(१) "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं ततआगतं वा प्राकृतम्।" हेमचन्द्र। "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्"—प्राकृत-चन्द्रिका। "प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः" —प्राकृत-सञ्जीवनी

व्यवस्थित-ववत्थित । इसी प्रकार वैदिक भाषा में भी त्यृच के स्थान में तृच, अप्रगल्भ के स्थान में अपगल्भ पाया जाता है।

इस तरह अनेक उदाहरणों के द्वारा दोनों भाषाओं की तुलना कर महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य्य ने पालीप्रकाश को विद्वत्तापूर्ण भूमिका में यह सिद्ध किया है कि वैदिक भाषा से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है।

इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में ही हुई थी। पहले यह बोलचाल की भाषा थी, किन्तु क्रमशः इसने साहित्यिक भाषा का रूप धारण किया। प्राकृत का प्राचीन रूप पाली है। इसमें जैन और बौद्ध सूत्र-ग्रन्थ और शिलालेख पाये जाते हैं। मध्यकालीन प्राकृत का ही प्राकृत शब्द से व्यवहार होता है। पण्डितसमाज में, खास कर कवियों में इसी भाषा का सम्मान था। राजशेखर कर्पूरमञ्जरी में लिखते हैं :—

"परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धा वि होइ सुउमारो
पुरुसमहिलाणं जेत्तियमिहन्तरं तेत्तिअमिहाणं"।

कर्पूरमञ्जरी

अर्थात् संस्कृत की रचना कठोर होती है, प्राकृत की रचना कोमल होती है। दोनों में इतना ही अन्तर है जितना स्त्री और पुरुष में। इससे मालूम पड़ता है कि मधुरता प्राकृत का विशेष गुण माना जाता था और इसीलिये कवियों ने उसे अपनाया।

सातवाहन "गाथासप्तशती" में लिखते हैं—

अमिअं पाउअकव्वं पढ़िउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥

"गाथासप्तसती"

---

१. 'प्रकृतिः संस्कृतम्'—प्राकृतप्रकाश

इसके चार भेद हैं—(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) अर्धमागधी

अर्थात् जो विद्वान् अमृतरूपी प्राकृत काव्य सुनना और पढ़ना नहीं जानते हैं वे काम के तत्व की चिन्ता करते समय लज्जित क्यों नहीं होते हैं ?

गोवर्धनाचार्य "आर्यासप्तशती" के आरम्भ में लिखते हैं—

"वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम्" ॥

केवल प्राकृत भाषा में उचित रूप से रस की अभिव्यक्ति हो सकती है अर्थात् केवल प्राकृत सरस है, संस्कृत में वह सरसता कहाँ ? फिर मैंने उलटी गङ्गा बहा दी है, संस्कृत भाषा में रस लाने की कोशिश की है । कवि के कहने का उद्देश्य यह है कि यदि मेरे काव्य में पूरी सरसता नहीं हो तो मेरा अपराध क्षन्तव्य है क्योंकि काव्य के लिये उपयुक्त प्राकृत भाषा में मैंने कविता नहीं की है ।

जिस समय प्राकृत साहित्यक भाषा हो गयी उस समय भी बोलचाल की कोई भाषा अवश्य होगी । वही भाषा अपभ्रंश है और वही भाषा जनसमुदाय के पारस्परिक भावविनियम में सहायता देती रही । पहले यह "आभीरी" के नाम से प्रसिद्ध थी । काव्यादर्श के रचयिता दण्डी लिखते हैं—

"आभीरादिगिरः काव्येऽवपभ्रंशतयोदिताः"

क्रमशः यह भाषा लोकप्रिय होने लगी और साहित्यिक रचना में इसी भाषा के उपयोग करने की ओर लोगों की रुचि बढ़ने लगी । धीरे-धीरे साहित्य में इस भाषा ने वही स्थान पाया जो पहले प्राकृत को मिला था ।

जिस प्रकार पहले राजशेखर, सातवाहन, गोवर्धनाचार्य आदि महाकवियों की धारणा थी कि माधुर्य और सरसता केवल प्राकृत भाषा में हो सकती है न कि संस्कृत में । उसी प्रकार विद्यापति की

धारणा थी कि काव्य-रचना की भाषा अपभ्रंश है और उसी में सरसता है। विद्यापति लिखते हैं।

सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउँअ रसको मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा तें तैसन जम्पों अवहट्ठा॥
कीर्तिलता (प्रथम पल्लव)

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी मालूम पड़ती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती (प्राकृत भाषा सरस नहीं है), देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसी से अवहट्ट (अपभ्रंश) में मैं रचना करता हूँ।

विद्यापति की प्रथम रचना 'कीर्तिलता' है। उसकी भाषा अपभ्रंश है। विद्यापति की दूसरी छोटी रचना कीर्तिपताका भी अपभ्रंश भाषा में पाई जाती है। देवसिंह की मृत्यु के बाद यवन सेना के साथ शिवसिंह के युद्ध का वर्णन भी विद्यापति ने अपभ्रंश भाषा में किया था जिसका कुछ अंश उपलब्ध होता है जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

अणँल रन्ध्रं कँर लक्खन इरवण सक समुँद कँर अँगिनि संसी
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ वार बेहप्पय जाहु लसी
देवसिंह जू पुहुमि छड्डिअ अद्धासन सुर-राअ सरू
दुहु सुरताण निंदे अब सोअउ तपन-हीण जग तिमिर भरू।
देखहु ओ पुहुमी के राजा पौरुस मांझ पुण वलिओ
सतवले गंगा मिलित कलेवर देवसिंह सुरपुर चलिओ

एक दिस जवन सकल दल चलिओ एक दिससों जमराज चरू।
दुहुए दल टि मनोरथ पूरओ गरुए दाप सिवसिंह करू
सुरतरु कुसुम घालि दिअ पुरेओ दुन्दुहि सुन्दरसाद धरू
वीरछत्र देखन को कारन सुरगन सोभे गगन भरू

ारम्भीअ अन्तेट्ठि महामख राजसूअ अश्वमेध जहाँ
ण्डित घर आचार बखानिअ जाचक काँ घर दान कहाँ
उजावइ कइवर एहु गावय मानव मन आनन्द भओ
हासण सिवसिंह बइट्ठो उछवै वैरस विसरि गयो।

इत्यादि

इस रचना में देशी भाषा और अपभ्रंश का पूरा संमिश्रण
ा जाता है। इसको पूर्ण रूपसे देशी भाषा (मैथिली) या
भ्रंश ही नहीं कह सकते हैं।

उपर्युक्त विवरणों से मालूम पड़ता है कि विद्यापति की उत्पत्ति
ी-युग या प्राकृत-युग में नहीं हुई थी, किन्तु अपभ्रंश-युग में हुई
। इसलिये उनके प्रथम दो काव्य अपभ्रंश में पाये जाते हैं।
थेला में संस्कृत के विद्वानों के प्राधान्य होने के कारण केवल
य पर ही अपभ्रंश भाषा ने अपना दखल जमाया, और और
यों के लिये संस्कृत का ही साम्राज्य था जैसा कि विद्यापति की
ते, नीति और धर्मशास्त्र के ग्रन्थों से ही ज्ञात होता है।

(ङ) विद्यापति और मैथिली

इसमें सब भाषातत्वज्ञ सहमत हैं कि पहले मूल भाषा से वैदिक
ृत की उत्पत्ति हुई। फिर उसने सुधर कर साहित्यिक रूप धारण
ा, पर साथ ही वह (मूल-भाषा) बोलचाल की भाषा बनी रही।
ीन काल की बोलचाल की भाषा पहले प्राकृत कहलाई। आगे
कर वह दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्तित हुई। अन्त में इस
ा प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब
में भी साहित्य की रचना आरम्भ हुई, तब बोलचाल की भाषा
आधुनिक देश-भाषाओं का आरम्भ हुआ। इस तरह अपभ्रंश
शा-भाषाओं की उत्पत्ति हुई है यह निर्विवाद है।

मालूम पड़ता है कि जिस समय विद्यापति ने कीर्तिलता की रचना की थी वह अपभ्रंश में साहित्य-रचना का अन्तिम समय था। कुछ दिनों के बाद देशभाषा का ही साम्राज्य हो गया और इसी भाषा में कविता करना भी आरम्भ हो गया। इसलिये विद्यापति ने अपभ्रंश भाषा में कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना कर मैथिली में पदावली की रचना की।

'मैथिली' विद्यापति की मातृभाषा थी। अनुसन्धान से मालूम पड़ता है कि अन्य देशी भाषाओं की अपेक्षा मैथिली कहीं अधिक उन्नत थी। सब से पुराना गद्य-ग्रन्थ इसी भाषा में मिलता है। वह है ज्योतिरीश्वर ठाकुर-कृत 'वर्णन रत्नाकर'। डा० सुनीति कुमार चटर्जी एम्० ए० डी० लिट् और पं० बबुआजी मिश्र ज्योतिषाचार्य द्वारा सम्पादित होकर वह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर विद्यापति के पितामह-भ्राता थे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है किसी भी देश-भाषा में इतना प्राचीन गद्य-ग्रन्थ नहीं है। देश-भाषा का सब से पहला नाटक (पारिजात-हरण) भी इसी भाषा में लिखा गया था जिसका सम्पादन कई विद्वानों के द्वारा हो चुका है। आरम्भ काल में इसी भाषा ने सब से समृद्ध देश-भाषा बङ्ग-

---

१ हिन्दी-गद्य का प्राचीन उदाहरण नहीं मिलता। महाराज पृथ्वीराज के समय के दो एक पत्रों की प्रतिलिपि, महात्मा गोरखनाथ, गोस्वामी विट्ठलनाथ, गंग भाट, गोस्वामी गोपालनाथ और नाभादासजी आदि की पुस्तकों से गद्य के कुछ उदाहरण आगे दिये जायँगे, वे हिन्दी-गद्य के यथार्थ उदाहरण नहीं कहे जा सकते हैं। ''कविता-कौमुदी''

म० गोरखनाथ (१४०७), गोस्वामी विठ्ठलनाथ (१६००), गंगा भाट (१६२६) गोस्वामी गोकुलनाथ (१६४८) नाभादास (१६६०) आदि यदि हिन्दी के पत्र और पुस्तक के लेखक मान भी लिये जायँ तो भी ज्योतिरीश्वर ठाकुर (चौदहवीं शताब्दी) का वर्णन रत्नाकर ही गद्य का पहला उदाहरण माना जायगा।

भाषा को उन्नत किया था। विद्यापति की कोमल-कान्त पदावली देखकर बङ्गाली लोग उसपर मुग्ध हो गये। उस भाषा के अनुकरण पर एक नई भाषा बनी जिसे अभी तक बङ्गाली लोग व्रजबुली कहते हैं और जिस भाषा में २०० से अधिक वैष्णव पदों और काव्यों की रचना वङ्गदेश में हुई। उन काव्यों को देखकर अभी भी कहना पड़ता है कि वह मैथिली है, व्रजभाषा और वङ्गभाषा नहीं है। इस विषय में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० दीनेशचन्द्र सेन आदि की राय है कि मैथिली पर मुग्ध होकर बँगालियों ने उसे साहित्यिक भाषा मान ली। उस भाषा से वे इस तरह प्रभावान्वित हुए कि सैकड़ों बँगाली कवियों ने उसी भाषा में काव्य-रचना की। विद्यापति के अनुकरण का प्रबल प्रवाह यहाँ तक बढ़ा कि वर्तमान कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी इस प्रवाह में अपने को प्रवाहित करना पड़ा, किन्तु किसी ने अनुसन्धान नहीं किया कि यह भाषा कहाँ की है और भूल से इसे व्रज-भाषा समझकर व्रजबुली नाम से पुकारना आरम्भ किया। अनुसन्धान करने पर यह निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि यह व्रजभाषा नहीं है—यह है विद्यापति की भाषा, विद्यापति की जन्मभूमि मिथिला की भाषा।

इस प्रकार मैथिली भारतवर्ष की देशी भाषाओं में सब से अधिक समृद्ध वङ्गीय साहित्य की जननी है, प्राचीनतम नाटक और गद्य-ग्रन्थ भी इसी भाषा में उपलब्ध होते हैं। लहेरियासराय की मैथिली-साहित्य परिषद् में प्राचीन तथा अर्वाचीन सैकड़ों ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हैं जिनका प्रकाशन द्रव्याभाव से नहीं हो रहा है। फिर इस समृद्ध भाषा को भाषा भी नहीं कहकर उप-भाषा कहना इस भाषा के प्रति अन्याय है।

मैथिली की विशेषताएँ

दूसरे अध्याय में विद्यापति की भाषा पर विशेष रूप से विचार

किया जायगा। यहाँ संक्षेप में विशेषताओं का नीचे उल्लेख किया जाता है। विद्यापतिलिखित श्रीमद्भागवत के साथ पदावली भी पाई गई थी। देखने से यह पुस्तक भी प्राचीन मालूम पड़ती थी। कहीं-कहीं कठिन पदों के अर्थ भी थे, लेख में कहीं भी अशुद्धि नहीं थी। इस से मालूम पड़ता है कि लेखक विद्वान् थे। विद्यापति के पदों के लेख में संस्कृत व्याकरण का अनुसरण नहीं किया गया है। उसमें प्राकृत व्याकरण के नियमों का विशेष रूप से पालन किया गया है। संस्कृत में ऋ, र्, ष् के बाद ण होता है, किन्तु पदावली में सर्वत्र न ही पाया जाता है जैसे चरन, सरन आदि। श का व्यवहार कहीं नहीं पाया जाता है, सर्वत्र स ही दिखाई पड़ता है। य् के स्थान में ज्, ष् के स्थान में ख् पाया जाता है जैसे जुवती, पुरुख, भाखा आदि। जिस तरह मिथिला में लोग उच्चारण करते थे या प्रायः अब भी करते हैं वैसा ही लिखा जाता था और अब भी लिखा जाना चाहिये। ष् का ख उच्चारण वेद में होता है। जैसे सहस्रशीर्षा का उच्चारण सहस्रसीरखा होता है। इसका नियम वैदिक शिक्षा में है। पाली में भी ष् का ख की तरह उच्चारण होता है जैसे यक्खिनो, लक्खण, भिक्खु आदि। बँगला, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं पर इसका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा। जैसे बँगला में क्ष् का उच्चारण क्ख होता है, क्ष् क् और ष् के संयोग से बनता है, इसलिये दूसरे शब्दों में ष् का उच्चारण ख होता है। हिन्दी में भी सूखना, दुखना आदि इस तरह के उदाहरण पाये जाते हैं। शुष् और दुष् संस्कृत धातु हैं, उन ही से इन शब्दों की उत्पत्ति हुई है, इसलिये ष् का ख परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं। विद्यापति की भाषा में क्ष् भी ख के रूप में पाया जाता है—अनुखन, कटाख, खीन, साखि, अलखित, आदि। इस समय की मैथिली में कैसे, जैसे आदि शब्दों का व्यवहार नहीं होता

है, किन्तु वर्णनरत्नाकर और विद्यापति की पदावली में ये शब्द कइसे, जइसे के रूप में पाये जाते हैं। विभक्ति, सर्वनाम, क्रिया आदि का विशेष विचार दूसरे अध्याय में किया जायगा।

विद्यापति की कवित्वशक्ति

विद्यापति की कवित्वशक्ति के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। वह किंवदन्ती यह है कि एक समय दिल्ली के सुलतान ने क्रुद्ध होकर राजा शिवसिंह को बुला लिया। विद्यापति ने अपनी दिव्य दृष्टि का परिचय देकर सुलतान को प्रसन्न किया। सुलतान ने लकड़ी की एक संदूक में विद्यापति को बंद कर दिया और अनेक सुन्दरी रमणियों को नदी में स्नान करने के लिये आज्ञा दी। अनन्तर विद्यापति संदूक से निकाले गये और उनसे उस घटना का वर्णन

---

(१) This is a tradition that this king (Shiva-sinha) was summoned by the Emperor to Delhi for some offence and that Vidyapati obtained his patron's release by an exhibition of clairvoyance. The Emperor locked him up in a wooden box and sent a number of the courtesans of the town to bathe in the river. When all was over, he released him and asked him to describe what had occurred. Vidyapati immediately recited impromptu the poem, which I now give as a specimen of his powers, describing a beautiful girl at her bath. Astonished at his power, the Emperor granted his petition to release Siva-sinha.

Linguistic survey of India
Volume V, Part II, Page 67

करने के लिये कहा गया। विद्यापति ने सद्यःस्नाता का वर्णन करना आरम्भ किया जिसपर प्रसन्न होकर राजा ने शिवसिंह को छोड़ दिया।

सद्यःस्नाता का वर्णन

कामिनि[1] करए सनाने
हेरितहिँ हृदए हनय पँचवाने ।२।
चिकुर गरए जलधारा
जनि मुख-ससि डरेँ रोअए अधारा ।४।
कुच-जुग[2] चारु चकेवा
निज कुल मिलत आनि कोने देवा ।६।
तेँ संकाञे भुज-पासे
बांधि धरिअ उड़ि जाएत अकासे ।८।
तितल वसन तनु लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू ।१०।
भनहिं विद्यापति गावे
गुनमति धनि पुनमत जन पावे ।१२।
(वर तप कयलें गुनमति पावे)

---

१ 'कामिनी' शब्द से दिखा रहे हैं कि काम को कामिनी में आत्मीय बुद्धि है और स्वभावतः जो कोई उस ओर देखता है उसीपर पांचों बाणों का प्रहार किया जाता है। इस पद का पाठ 'राग तरङ्गिणी' के अनुसार है।

२ तुलना कीजिये।

उदयति तरुणिमतरणौ शैशवशशिनि प्रशान्तिमायाते।
कुचचक्रवाकयुगलं तरुणितटिन्यां मिथो मिलति।

शैशव-रूपी चन्द्र के अस्त होने पर और यौवन-रूपी सूर्य के उदय होने पर तरुणी-रूपी नदी के तट पर स्तन-रूपी चकवा और चकई का मिलन हो रहा है।

कामिनी स्नान करती है। उसे देखते ही कामदेव हृदय पर आघात करते हैं। सिर के बाल से पानी की धारा गिर रही है, मालूम पड़ता है—मुखरूपी चन्द्रमा से डर कर केशरूपी अन्धकार रो रहा है। दोनों स्तन चकवा और चकई हैं। दोनों का परस्पर वियोग होना स्वाभाविक है, किन्तु (भाग्यवश) किसी ने दोनों को लाकर मिला दिया है, किन्तु डर है कि कहीं चक्रवाक-युगल आकाश में उड़ न जायँ। इसलिये नायिका ने भुज-पाश (हाथ की रस्सी) से उन पक्षियों को बाँध डाला है—अर्थात् दोनों हाथों से स्तनों को दबा रखा है (जो कि स्नान के बाद स्वाभाविक है)। भींगा हुआ वस्त्र शरीर में लगा हुआ है जिसे देखकर मुनियों के मन में भी काम का सञ्चार होता है। विद्यापति गाते हैं कि भाग्यवान् मनुष्य (ही) गुणवती स्त्री पाते हैं।

(२)

आज मोहि शुभ दिन भेला
कामिनि पेखल सनान क बेला।२।
चिकुर गरय जलधारा
मेह वरिस जनु मोतिमहारा।४।
वदन पोछल परतूरे
मांजि धयल जनि कनक-मुकूरे।६।
तें उदसल कुच-जोरा
पलटि वैसाओल कनक-कटोरा।८।
नीवि-बन्ध करल उदेस
विद्यापति कह मनोरथ सेस।१०।

आज मेरे लिये शुभ दिन है कि स्नान के समय मैं ने कामिनी को देखा। बाल से पानी की धारा गिर रही है, मालूम पड़ता है कि (केश-रूपी) बादल मोती का हार बरसा रहा है। नायिका

ने अपना मुँह अच्छी तरह पोंछ लिया, मालूम पड़ता है कि धो-पोंछकर साफ किया हुआ सोने का आईना रक्खा हो। मुँह पोंछने के समय स्तन प्रकट हुए, मालूम पड़ता है कि सोने के दो कटोरे उलटा कर बैठा दिये गये हों। कपड़ा बदलने के लिए नायिका ने जब नीवि (नारा) सरकाई तब सब के सब मेरे मनोरथ पूरे हो गये।

(२)

जाइत पेखल नहाइलि गोरी।
कत सञे रूप धनि आनलि चोरी।२।
केस निगारिइत वह जल-धारा
चामरे गरय जनि मोतिमहारा।४।
अलकहि तीतल तें अति सोमा
अलिकुल कमले वेढ़ल मधुलोमा।६।
नीर निरंजन लोचन राता
सिन्दुर-मंडित जनि पंकज-पाता।८।
सजल चीर रह पयोधर सीमा
कनक-वेल जनि पड़ि गेल हीमा।१०।
ओ नुकि करत चाहि किय देहा
अवहि छोडब मोहि तेजवऽ सनेहा।१२।

---

(१) बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पुस्तक में 'कतिसञे' पाठ है जो भूल मालूम पड़ती है। मैथिली में 'कहाँ' अर्थ में कत या कतय शब्द होता है। तालपत्र की पुस्तक में अर्वाचीन 'सँ' के स्थान में 'सञे' है।

(२) "गारइत" मैथिली है, किन्तु उसके साथ 'नि' लेखकों [illegible] हो गया है।

ऐसन रस नहिं पाओब आरा
इथे लागि रोइ गरय जलधारा ।१४।
विद्यापति कह सुनहु मुरारि
वसन लागल भाव रूप निहारि ।१६।

नहाकर जाती हुई गौरवर्णा नायिका को मैंने देखा। (वह अत्यन्त सुन्दरी है न जाने) वह कहां से सुन्दरता चुराकर लाई है। बाल निचोड़ते समय जलधारा वह रही है—मालूम पड़ता है कि केश से मोती के हार गिर रहे हैं। बाल भींगा हुआ है। इसलिये उसकी और भी शोभा बढ़ रही है। प्रतीत होता है कि मधु (भींगे हुए सुगंधित बाल का पानी) के लोभ से भौंरों ने कमल को घेर लिया है। पानी में स्नान करने के कारण आँखें अंजन-हीन और लाल हो गई हैं, वे सिन्दूर में रंगे हुए कमल के पत्तों की तरह दिखलाई पड़ती हैं। कुचों पर भींगा हुआ वस्त्र है, मानो सोने के वेल के फलों पर वर्फ गिर पड़ी हो। वस्त्र अपने को छिपाना चाहता है। क्यों ? नायिका मुझे और मेरे साथ प्रेम करना छोड़ देगी और ऐसा रस दूसरी जगह नहीं मिलेगा—यह सोचकर वस्त्र रो रहा है और आँसूरूपी जल की धारा गिर रही है। विद्यापति कहते हैं—हे मुरारि ! सुनो; उसकी सुन्दरता देखकर वस्त्र को भी भाव लग गया है—अर्थात् वस्त्र भी प्रेम में आवद्ध होकर उसे छोड़ना नहीं चाहता है।

इसी तरह का वर्णन शिशुपालवध में भी पाया जाता है।

वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः
शुभ्राभ्रद्युतिमिरहासि तैर्मुदेव।
अत्यात्सुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाश्रुस्तुतिमिररोदि तैः शुचेव ॥

शिशुपालवध सर्ग ८ श्लोक ६६

स्त्रियों ने नवीन शुक्ल वस्त्र धारण किये, वे वस्त्र खुशी के मारे हँसने लगे। उनकी हँसी ही वस्त्रों की स्वच्छ कान्ति है। स्त्रियों ने जिन वस्त्रों का त्याग किया वे शोक से व्याकुल होकर रोने लगे। वस्त्रों से जल गिरना ही उनका रोना है।

संस्कृत कवियों में माघ कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। "नैषधे पदलालित्यं भारवेरर्थगौरवम्। उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः"; अर्थात् माघकाव्य में पदसौन्दर्य, अर्थगौरव और उपमा ये तीनों ही गुण विद्यमान हैं। ऐसे महाकवि के साथ जब विद्यापति की तुलना करते हैं तो मालूम पड़ता है कि विद्यापति माघ से कोसों आगे बढ़ गये, माघ के भाव पर ऐसा रंग चढ़ाया है कि वह दूसरा ही बहुमूल्य रत्न मालूम पड़ता है।

माघ कवि इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो गये कि नायिका ने वस्त्र का त्याग किया, वह वस्त्र विरह से व्याकुल होकर रोने लगा और वस्त्र की आँख से जल की बूँदें गिरने लगीं, किन्तु विद्यापति कहते हैं कि उसके रूप में आकर्षण शक्ति है, निर्जीव पदार्थ भी उस रूप का दर्शन पाकर प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई ऐसी नायिका नहीं जहाँ ऐसा रस मिले और जिसके साथ प्रेम किया जाय। इसलिये वस्त्र पहले छिपने की कोशिश करता है। जब वह उपाय विफल हो जाता है तब आसुओं की धारा उमड़ पड़ती है और वह आसुओं के द्वारा ही अपनी विरह-वेदना और रसिकता भी प्रगट करता है। माघ कवि का शोक से वस्त्र को रुलाना और विद्यापति के वस्त्र की रसिकता, नायिका के रूप में आकर्षण शक्ति और रस-भंग के कारण रोने में क्या अन्तर है—यह कविता-प्रेमी ही समझ सकते हैं।

(८)

नहाइ उठल तिरे राइ कमलमुखि
समुखे हेरल वर कान ।१।
गुरुजन संग लाज धनि नत-मुखि
कैसने हेरव बयान ।२।
सखि हे अपरुव चातुरि गोरि
सब जन तेजि कय अगुसरि संचरि
आड़ बदन तँहि फेरि ।४।
तँहि पुनि मोति-हार तोड़ि फेंकल
कहइत हार टुटि गेल,
सब जन एक-एक कए चुनि सँचरु
श्याम-दरस धनि लेल ६।
नयन-चकोर कान्ह-मुख-ससि-वर
कयल अमिय रस-पान ।
दुहु दुहु दरसन रसहु पसारल
कवि विद्यापति मान ।८।

कमलमुखी राधा नहाकर ज्यों ही तट पर आई कि सामने कृष्ण दिखाई पड़े। राधा गुरुजनों के साथ थी, कृष्ण को किस प्रकार देखती ? इसलिये उसने लज्जा से मुँह नीचा कर लिया। हे सखि ! वह गोरी राधिका बहुत चतुर है। सबको छोड़कर वह आगे चली और ओट में जाकर अपना मुँह फेर लिया और मोती का हार तोड़कर चिल्लाने लगी "मोती का हार टूट गया"। सब एक-एक कर मोती के दाने चुनने लगीं और राधा श्याम का दर्शन पाकर कृतार्थ हुई। राधा की आँखें चकोर हैं, कृष्ण का मुँह सौम्य चन्द्रमा है। चकोर ने उसके अमृत-रस का पान किया। विद्यापति कवि कहते हैं कि दोनों के दर्शन से दोनों ने परस्पर रस का बाजार खोल दिया।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में महाकवि-शिरोमणि कालिदास ने शकुन्तला के वल्कल को काँटे में उलझा कर दुष्यन्त-दर्शन का थोड़ा अवसर दिया है। विक्रमोर्वशीय नाटक में राजा पुरुरवस् के जाने के समय उर्वशी कहती है।

"अम्मो लदाविडवे एसा एआवली वैअअन्तिका में लग्गा। (सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती) सहि चित्तलेहे, मोआवेहि दाव णम्"।

लता के वृक्ष में यह एकावली उलझ गई है। सखि, चित्रलेखा ! इसे सुलझा दो।

इन दोनों नाटकों में वस्त्र और एकावली को उलझा कर कवि शकुन्तला और उर्वशी को प्रिय-दर्शन का थोड़ा अवसर देते हैं, पर विद्यापति झाँकी से सन्तुष्ट नहीं होकर मोती का हार तोड़ डालते हैं जिससे राधा की सखियाँ और उसके गुरुजन एक-एक दाना चुनने में व्यस्त हैं और राधा कृष्ण के चिर-दर्शन का आनन्द लूट रही है। मेरी समझ में इस अवसर पर विद्यापति कालिदास से भी ऊँचे उठ जाते हैं और उन से भी अधिक रसिकता का परिचय देते हैं।

दूसरी किंवदन्ती यह है कि सुलतान ने विद्यापति से पूछा "तुम कौन हो ?"। विद्यापति ने कहा "मैं कवि हूँ, और अदृष्ट का दृष्टवत् वर्णन कर सकता हूँ"। सुलतान की आज्ञा से विद्यापति ने उपर्युक्त चार पदों के द्वारा सद्यःस्नाता का वर्णन किया।

---

(१) शकुन्तला तपस्वि-कन्या है। इसलिये वहाँ रत्नमाला का होना असम्भव है। किन्तु उर्वशी के पास रत्नमाला है।

(२) अहो लताविटपे एषा एकावली वैजयन्तिका मे लग्ना। सखि चित्रलेखे मोचय तावदेनाम्।

(३) "एकावल्येकयष्टिका" अमरकोष एक लरके हार को एकावली कहते हैं।

तथापि सुलतान सन्तुष्ट नहीं हुए। विद्यापति लकड़ी के सन्दूक में वन्द कर दिये गये और वह सन्दूक एक कुएँ पर लटका दिया गया। कुएँ के समीप आग फूँकती हुई एक सुन्दरी स्त्री खड़ी की गई। विद्यापति से कहा गया कि ऊपर जो कुछ है उसका वर्णन करो। विद्यापति सन्दूक के अन्दर से गाने लगे—

सर्जान निहुड़ि फुकु आगि
तोहर कमल भमर हम देखल
मदन ठठल जागि।
जों तोहे भामिनि भवन जयवह
अयवह कोनहि वेला।
जों ई संकट सों जी बाँचत
होएत लोचन-मेला।

वादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा शिवसिंह छोड़ दिये गये। विद्यापति ने निम्नलिखित पद की रचना की।

भन विद्यापति चाहथि जे विधि
करथि से से लीला।
राजा सिवसिंह वंधन मोचल
तखन सुकवि जीला।

ठीक इसी तरह की घटनाएँ भोजप्रवन्ध में भी पाई जाती हैं।

राजा भोज एक रात अकेले ही नगर में घूम रहे थे कि उन्होंने देखा कि एक स्त्री वैठी हुई है और उसकी गोद में उसका पति सोया हुआ है। अनन्तर उसका लड़का सोकर उठा और आग की ज्वाला के समीप पहुँच गया। उस प्रतिव्रता ने पति को नहीं जगाया और आग में गिरते हुए लड़के को नहीं पकड़ा। राजा यह आश्चर्यमय घटना देखकर वहाँ खड़े हो गये। अनन्तर उस पतिधर्मपरायणा ने अग्नि से प्रार्थना की "हे यज्ञेश्वर! तुम

सर्वज्ञ हो, तुम जानते हो कि पतिव्रता होने के कारण मैंने आ पुत्र को नहीं रोका। इसलिये दया करो, मेरे पुत्र को जलाओ"। तब वह बालक आग में प्रवेश कर भी नहीं जल पति के उठने पर उस स्त्री ने उस लड़के को उठा लिया। घटना को देखकर राजा चकित होकर बोले "अहा, मेरे स भाग्यवान् कौन है जिसके नगर में इस तरह की पुण्यवती स्त्रि हैं? सवेरे सभा में आकर सिंहासन पर बैठकर राजा कालि से बोले "रात मैंने एक अपूर्व घटना देखी" यह कहकर प लगे "हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः"। कालिदास बोले—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके
न बोधयामास पतिं पतिव्रता
तदाभवत् तत्पतिभक्तिगौरवात्
हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः।

जिस प्रकार इस श्लोक में कालिदास ने आँख से देखी घटना की तरह अदृष्ट घटना का वर्णन किया उसी प्रकार विद्या ने भी लकड़ी के संदूक में बंद रहकर भी आग फूँकती हुई नारि का वर्णन किया। इससे मालूम पड़ता है कि "कवयः कि पश्यन्ति" के अनुसार कवि सर्वद्रष्टा माने जाते थे और स की घटनाओं की तरह परोक्ष की घटनाओं का यथार्थ वर्णन सकना ही महाकवि की अग्नि-परीक्षा थी। महाकवि विद्यापति परीक्षा में योग्यता के साथ (with honours) उत्तीर्ण हो ग

कवियों के दूसरे कड़े परीक्षक थे दुर्जन। कैसा भी उ काव्य क्यों न हो दुर्जन उनकी निंदा कर ही दिया करते थे, काव्यों में थोड़ा बहुत दोष निकाल ही दिया करते थे। जहाँ मेरा अनुमान है कि स्वयं कवि नहीं होकर भी काव्य की

पुकारा करते थे। यह एक किंवदन्ती है कि श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरित' की रचना कर मम्मटाचार्य को उसे दिखलाया था। उस पर मम्मटाचार्य ने कहा कि यदि आप काव्यप्रकाश की रचना के पहले यह ग्रंथ मुझे दिखलाते तो मैं आपका अत्यन्त उपकृत होता क्योंकि मुझे दोषों के उदाहरण खोजने में बड़ी कठिनता हुई थी। यदि आपकी पुस्तक मेरे पास रहती तो सब के सब दोषों के उदाहरण इस में मिल जाते। मेरा बहुत बड़ा उपकार होता। इस पर श्रीहर्ष बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि आज तक तो आप ने एक ही श्लोक बनाया और उसमें और दोषों के अतिरिक्त 'श्रुतिकटु' दोष भी है। (आपकी रचना "ह्लादैकमयीम्" है जिसकी जगह श्रुतिमधुर 'मोदैकमयीम्' हो सकता था)।

यही कारण है कि दुर्जनों की और दुर्जनों की जीभों की तुलना सर्प के साथ की जाती है। किसी कवि का कहना है—

बदने विनिवेशिता भुजङ्गी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः॥

अर्थात् ब्रह्माजी ने दुर्जनों के मुँह में जीभ के बहाने साँपिन रख दी है। यही कारण है कि जिनको वह साँपिन डसती है वे मर जाते हैं (अर्थात् उनका यश नष्ट हो जाता है) और किसी भी मन्त्र से उस का विष दूर नहीं होता है।

वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु ने दुर्जनों की बड़ी निन्दा की है। आपने भी दुर्जनों को सर्पों से भी अधिक क्रूर बतलाया है-

विषधरतोऽप्यति विषमः
खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदय नकुलद्वेषी
स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः।

अर्थात् 'दुर्जन सर्प से भी अधिक क्रूर होते हैं'—विद्वानों का

---

१. काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण श्लोक का एक अंश है।

यह कथन बिलकुल ठीक है क्योंकि सर्प नकुल (अर्थात् नेवला) का शत्रु है, किन्तु दुर्जन अपने कुल का ही।[1]

इसके अग्रिम श्लोक[2] से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि दुर्जन की बुद्धि मलिन कर्तव्य (बुरे कार्यों में अर्थात् दूसरे की समालोचना) में लगी रहती है। कवियों के 'दुर्जन' यदि विद्वान् नहीं होते तो उन से डरने का कोई कारण नहीं था। उनकी दुर्जनता मुझे यही मालूम पड़ती है कि उन में साधारण काव्य-रचना की भी शक्ति नहीं रहती थी तथापि वे दूसरे कवियों की कड़ी समालोचना करते थे। उनकी समालोचना युक्ति-युक्त होती थी। इसलिये उस का महत्त्व भी होता था। विद्यापति ने भी उन के ऊपर थोड़ा आक्षेप कर ही दिया है।

महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्वकलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उअआर मन, दुज्जन नाम मइल्ल॥

अर्थात् भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता, कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है। सज्जन का मन परोपकार में लीन रहता है (किन्तु) दुर्जन का मन (सदा) मलिन होता है।

दुर्जन शब्द का कुछ भी अर्थ हो, विद्यापति की निम्नलिखित रचना से ज्ञात होता है कि दुर्जन विद्यापति की कविता की निन्दा नहीं कर सकते थे।

बालचन्द विज्जावइ भाषा, दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ।

बालचन्द्र और विद्यापति की भाषा पर दुर्जनों की हँसी नहीं

---

१. जो अपने कुल का नहीं हो अर्थात् पराया।

२. अतिमलिने कर्तव्ये भवति खलानामतीव निपुणा धीः।
तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः॥ वासवदत्ता श्लोक ७

लगती (क्योंकि) वह (चन्द्र) शिवजी के मस्तक पर विराजमान हैं और यह (विद्यापति की भाषा) नागरिकों का मन मोहती है— इसमें सन्देह नहीं है।

इस अवसर पर गोविन्द दास के विषय में जो रायबहादुर दीनेशचन्द्र सेन बी. ए. डी. लिट ने 'वङ्ग भाषा ओ साहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है वह मुझे याद आता है। आपका कहना है कि गोविन्द दास की कोमलकान्त-पदावली सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते हैं, अर्थ जानने की इच्छा पीछे होती[1] है। उसी ग्रन्थ में सेन महोदय दूसरी जगह लिखते हैं कि गोविन्द दास के आदर्श विद्यापति थे और ज्ञानदास के आदर्श चण्डीदास थे।

गोविन्द दास स्वयं भी कहते हैं—

कविपति विद्यापति मतिमाने
जाक गीत जगचीत चोरायल गोविन्द-गौरि-सरस-रस-गाने।
भुवने अछि जत भारति वानि
ताकर सार सार-पद सञ्चय बाँधल गीत कतहु परिमानि।
इत्यादि, इत्यादि।

इसलिये गोविन्द दास की कविता में जो गुण हैं वे गुण विद्यापति की कविता में भी हैं। विद्यापति की कविता की कोमल-कान्त पदावली किस कान के लिये कर्णामृत का काम नहीं करती है।

---

१. वङ्गभाषा ओ साहित्य पृष्ठ ३४१।

(१) (क) कमल मिलल दल मधुप चलल घर विगह गहल निज ठामे
अरे रे पथिकजन थिर ने करिय मन वड़ पांतर दुर गामे
आदि आदि।

(ख) कानन कान्ह कान हम सूनल भय गेल आनक आने
चानन चान आँग हम लेपल तैओ वादल अति दापे
आदि, आदि

विद्यापति की तरह जयदेव और जगन्नाथ की भी गर्वोक्ति है। जयदेव कहते हैं—

साध्वी माध्वीक चिन्ता न भवति भवतः, शर्करे कर्कशासि।
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत मृतमसि, क्षीर नीरं रसस्ते
माकन्द क्रन्द, कान्ताधर धरणि-तलं गच्छ यच्छन्ति भाव
यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि।

जब (तक) शृङ्गार रस से ओतप्रोत जयदेव के वचन विद्यमान हैं तब हे माध्वीक (महुए का मद्य) तुझे चिन्ता नहीं होती है, शक्कर, तुम कर्कश हो (कर्कश में रस कहाँ ?) अङ्गूर, अब तुम को कौन देखेगा ? अमृत, तुम मर गये, दूध, तुम्हारा रस पानी है, पक्का आम, तुम रोओ, स्त्रियों का अधर, तुम पाताल चले जाओ (इस संसार में तुम्हारी आवश्यकता नहीं है)।

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विपाको मम।

दूसरे (विद्वानों) की प्रशंसा के समय विद्वद्गण मौन-व्रत धारण कर लिया करते हैं। राजा धन-रूपी मद्य पीकर झूमते रहते हैं, फिर काम से अलस स्वर्गीय अप्सराओं के अधर-माधुर्य को पराजित करनेवाली मेरी वचन-चातुरी किस धन्य मनुष्य के मुँह में शोभा पावेगी।

पण्डितराज को डर था कि उनकी मनोहर कविता का उचित सम्मान नहीं होगा क्योंकि विद्वान् लोग दूसरे की प्रशंसा करना जानते ही नहीं हैं, राजा धन-मद में चूर रहते हैं, फिर सम्मान करेगा कौन ? किन्तु जयदेव को पूरा विश्वास था कि उनकी कविता के सामने दूध, अंगूर और आम की तो बात ही क्या,

अमृत भी मृतक-तुल्य हो जायगा। इसी प्रकार विद्यापति को भी आत्मविश्वास था, उन्हें पूरा भरोसा था कि उन की कविता सुनकर दुर्जन भी मन्त्र-मुग्ध हो जायँगे और निन्दा नहीं कर सकेंगे। जयदेव के कई एक गुणों के होने के कारण ही विद्यापति अभिनय-जयदेव कहलाते थे। इसके अतिरिक्त दोनों में समानता के दो-चार गुण नीचे दिये जाते हैं।

जयदेव और अभिनव जयदेव

मन्त्रमुग्धकारी कोमल-कान्त पदावली का व्यवहार करना दोनों कवियों का विशेष गुण था। उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। गीतिकाव्य के रचयिता दोनों ही हैं। दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि विद्यापति कहाँ तक जयदेव के ऋणी हैं और अभिनव जयदेव कहलाने में उन्हें गौरव क्यों मालूम पड़ता था।

विरही नायक कामदेव से कहता है।

हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि।
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ?

हे काम! विरह वेदना से व्याकुल हृदय को शीतल करने के लिये यह कमल-नाल है, यह सर्पराज नहीं है। गले में नील कमल का हार है, विष नहीं है। यह चन्दन की रज है भस्म नहीं है। इसलिये भूल से शिवजी समझ कर मुझ विरही पर बाण मत चलाओ और क्रोध से व्याकुल होकर मेरी ओर मत दौड़ो। कवि के कहने का उद्देश्य यह है कि शिवजी अर्धनारीश्वर हैं और मैं अपनी प्यारी के विरह में झुलस रहा हूँ—इस ओर भी काम को ध्यान देना चाहिये।

विद्यापति की नायिका कामदेव की मूर्खता पर उनको डाँट रही है।

"कत न वेदन मोहि देसि मदना
हर नहि वला मोहि जुवति-जना।
विभुति-भूखन नहीं चानन क रेनू
वघछाल नहि नेतक वसनू
नहि मोरा जटाभार चिकुर क वेना
सुर-सरि नहि मोरा कुसुम क सेनी
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारू
फनपति नहिं मोरा मुकता-हारू
भनइ विद्यापति सुन देव कामा
एक पय दूखन, नाम मोर वामा"।

रे काम, तू मुझे दुःख मत दे। मैं हर नहीं हूँ, किन्तु युवती हूँ। यह चन्दन की रज है, भस्म नहीं है। यह बाघछाला नहीं है, किन्तु यह मेरी चुनरी है। यह जटा नहीं है, किन्तु बालों की गूँथी हुई वेणी है। मेरे सिर पर गङ्गा नहीं है, किन्तु फूलों की कतार है। यह विष नहीं है, किन्तु कस्तूरी है। यह सर्पराज नहीं है, मोतियों का हार है। विद्यापति कहते हैं कामदेव! सुनो मेरा केवल यही दोष है कि मेरा नाम वामा है (और शिव का नाम बामदेव है)। इसी समानता पर तुम पहचानने में भूल करते हो और मुझे सताते हो।

विद्यापति ने 'हर' शब्द को कैसे अच्छे स्थान में रखा है। हर नहि वला मोहि जुवतिजना अर्थात् मैं तुम्हारे प्राणों का हरण करने वाला शिव नहीं हूँ, किन्तु युवति-जन हूँ। यू धातु का अर्थ है मिलना, इसलिए युवति शब्द का अर्थ है मिलनसार अर्थात् मैं तुम्हारी सहायिका हूँ। जयदेव काम को अनङ्ग कह कर

पुकारते हैं। आप का उद्देश्य है कि तुम को शिव ने जलाया, तुम अनङ्ग हो गये और बदला लेते हो हम से। विद्यापति 'मदन' कह कर पुकारते हैं। आप का अभिप्राय है कि तुम्हारा कार्य है लोगों को प्रसन्न करना इसलिये तुम मदन कहलाते हो। फिर तुम सताते हो और सताते हो किस को? अपनी सहकारिणी युवतियों को। जयदेव ने विरही नायक को खड़ा किया और विद्यापति ने कामवाण से व्याकुल युवती के द्वारा नाम सादृश्य के कारण प्रहार करनेवाले काम की अविवेकिता प्रकट कर अपनी रसिकता का परिचय दिया है।

एक और भी उदाहरण लीजिये।

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथाम्
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कवरीभारोऽपि मारोद्यमम्।

—'गीतगोविन्द'

अर्थात्—भौं-रूपी धनुष पर चढ़ाया हुआ कटाक्ष-रूपी बाण मेरे मर्मस्थानों पर आघात करें। काली और तिरछी गूँथी हुई वेणी काम की सहायता करे।

वेनी विमल विराज
तनु वसु कुसुमावलि-हार।
स्याम भुअंगम देखिकहुँ
कियो काम परहार।
करु परहार मदन सर, बाला
कुटिल कटाख बान कनियाला।
कम्बु कण्ठ मृणाल भुज
वलित पयोधर हार।
कनक कलस रस पूरि रहु
संचित मदन भँणार।

—'विद्यापति'

निर्मल वेणी सोह रही है। शरीर पर फूलों का हार है। काले साँप को देखकर भी काम ने बाण का प्रहार किया। बाला का कुटिल कटाक्ष तीक्ष्ण बाण है। शंख के समान कण्ठ है, मृणाल के समान भुज है और पयोधर हार से युक्त है। कनक-कलश (स्तन) रस से परिपूर्ण है। मदन के भंडार में रस का संचय है।

जयदेव ने वेणीभार को श्याम और कुटिल कहकर उसमें काम के सहायक होने की योग्यता दिखलाई; किन्तु विद्यापति ने उसकी तुलना साँप से की है। उस साँप में भी यह योग्यता नहीं कि काम को बाण चलाने से रोक दे। साथ-साथ उन्होंने नायिका को फूल की माला भी पहना दी है जिससे वह और भी अधिक मर्मव्यथा देती है। युद्ध में विजय हो या पराजय, रसभंग होना स्वाभाविक है। रसभंग होने से सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है। इसलिए विद्यापति कहते हैं कि काम का भंडार रस से भरा है, रसभंग या रस की कमी होने का ज़रा भी भय नहीं है। इस पद में रस का घड़ा उपस्थित कर कवि ने कितनी सरसता दिखलाई है—यह पाठक ही सोचें।

कई जगह विद्यापति ने जयदेव का भाव ज्यों-का-त्यों रख लिया है।

'लोचन अरुन बुझल बड़ भेद
रअनि उजागर गरुअ निवेद'। 'विद्यापति'
रजनि-जनित-गुरु-जागर-राग-कषायितमलसनिवेशम्। 'गीतगोविन्द'
'ततह जाह हरि करह न लाथ
रअनि गमओलह जनिके साथ' 'विद्यापति'
हरि हरि याहि माधव, याहि माधव मा वद कैतववादम्।
तामनुसर सरसीरुहलोचन, या तव हरति विषादम्। 'जयदेव'

इस तरह अनेक ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनमें विद्यापति ने जयदेव का ज्यों-का-त्यों अनुकरण किया है। कहीं-कहीं उसी भाव पर ऐसा रंग चढ़ाया कि वह दूसरा ही प्रतीत होता है।

विद्यापति के पद किस श्रेणी के काव्य हैं?

वर्णनशैली, अलंकार आदि विषयों पर विवेचना करने के पहले यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि विद्यापति की पदावली किस काव्यभेद में रक्खी जा सकती है। मेरी राय में ये पद मुक्तक हैं।

मुक्तक काव्य

अभिनवगुप्ताचार्य ने मुक्तक पद की व्याख्या इस प्रकार की है—"मुक्तम् अन्येन नालिङ्गितम् मुक्तकम्। तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् आगे या पीछे के दूसरे पदों या कविताओं के साथ संबन्ध नहीं होने पर भी जिससे रस टपके उसको मुक्तक काव्य कहते हैं। इसको उद्भट या फुटकर काव्य भी कहते हैं। इन पदों में दूसरे पदों के साथ संबन्ध नहीं रहने के कारण हर एक पद एक काव्य के बराबर है। प्रबन्ध-काव्यों में चरित्र-चित्रण, कथा की रोचकता, उपदेश-प्रद तथा रोचक घटनाएँ—आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिनपर लुभाकर भी पाठक या श्रोता केवल दो-चार श्लोकों के उत्तम होने पर भी उसे काव्य या महाकाव्य कहने में नहीं हिचकते हैं। परन्तु 'एक ही पद को ऐसा रोचक, ऐसा सरस, इस प्रकार अलङ्कार से अलङ्कृत, और गुण से सुशोभित बनाना कि उसके विरुद्ध समालोचकों की कलम से समालोचना का एक शब्द भी नहीं निकल सके'—यह महाकवियों की ही करामात है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में लिखा है—"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य

कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव" (ध्वन्यालोक, उद्योत ३, पृष्ठ १४१) अर्थात् मुक्तक काव्यों में कवि कूट-कूटकर रस भर देते हैं। उदाहरण के रूप में अमरुक कवि के मुक्तकों को लीजिये। उनसे शृङ्गार रस टपक-सा रहा है और उनमें प्रत्येक श्लोक एक-एक प्रबन्ध (ग्रन्थ) के बराबर है। क्या ये शब्द महाकवि विद्यापति के लिये लागू नहीं हो सकते हैं? क्या विद्यापति के पदों में सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों तरह के शृङ्गार रस रसज्ञों को मुग्ध नहीं कर सकते हैं? कोरी बातों से पाठकों का सन्तुष्ट होना असम्भव देख मैं उनके मनोरञ्जनार्थ दो एक उदाहरण ही उद्धृत कर उनके साथ तुलना कर देना उचित समझता हूँ। मैं समझता हूँ कि गोवर्धनाचार्य से सब परिचित होंगे। उनके विषय में गीतगोविन्दकार जयदेव कहते हैं—

शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः

अर्थात् शृङ्गार रस की निर्दोष रचना में आचार्य गोवर्धन के साथ कोई भी स्पर्धा (बराबरी) नहीं कर सकते हैं। इस तरह के शृङ्गार रस के रसिक, आचार्य गोवर्धन मुक्तकण्ठ होकर अमरुक की कविता की प्रशंसा करते हैं। अमरुक का एक-एक श्लोक, उनकी राय में, एक-एक महाकाव्य है। इसलिये सर्वप्रथम अमरुक का एक श्लोक नीचे उद्धृत करता हूँ और विद्यापति के पद के साथ उसकी तुलना करता हूँ।

सखियाँ बारबार मान करने की शिक्षाएँ दिया करती हैं, किन्तु नायक-नायिका में इतना अधिक प्रेम है कि परस्पर दर्शन होते ही मान निभ नहीं सकता। सखियों के प्रश्न करने पर नायिका उनसे कहती है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।

कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि, तनूरोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने।

अमरुशतक, श्लोक २८

उनके सामने आने पर मेरा मान किस तरह निभ सकता है ? भौंहें चढ़ाने पर मेरी दृष्टि (आँखें) और भी अधिक उत्कण्ठा के साथ उनकी ओर देखने लगती है (बल-पूर्वक पिंजरे में रक्खा हुआ पक्षी उड़ कर वहीं जाना चाहता है, जहाँ से वह आया है), मैं बोलना बन्द कर देती हूँ, किन्तु यह मेरा अभागा मुँह मुसकुराने लगता है, मैं अपने मन को कर्कश कर लेती हूँ, किन्तु मेरे शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

विद्यापति की नायिका सखियों से कह रही है—

दुरहि रहिअ, करिअ मन आन
नअन पिआसल हँटल न मान।
हास सुधारस तसु मुख हेरि
बाँधलेंओं बाँध निवी कत बेरि।
कि सखि करब धरब कि गोय
करबि मान जों आइति होय।
घसमस करय रहओं हिय जाँति
सगर सरीर धरब कत भाँति।
गोपहि न पारिअ हृदय उलास
मुनलओ वदन वेकत होअ हास।
भनइ विद्यापति तोर न दोस
मूखल मदन बढ़ावय रोस।

अर्थात् मैं दूर ही में खड़ी हो गई और मन दूसरी ओर ले गई। मैंने अपने मन को रोका, किन्तु प्यासे मन को रोकने में

मुझे सफलता नहीं मिली। उनके मुँह से हँसी-रूपी अमृत-रस टपक रहा था, उसे देखकर वह रुकता कैसे? मेरा नीवीबन्धन शिथिल मालूम पड़ता था, वारबार बाँधती थी, फिर भी वही शिथिलता! मैं क्या करूँ, किस तरह अपने मन का भाव छिपाऊँ? यदि अपने ऊपर मुझे पूरा अधिकार होता तो मैं मान करती (पर वही नहीं)। मैं छाती पर पत्थर रख देती हूँ तथापि मेरा सारा शरीर काँपने लगता है, (मैं नहीं जानती हूँ कि) सारा शरीर किस प्रकार स्थिर रक्खूँ। मैं अपने हार्दिक भाव को छिपा नहीं सकती हूँ, आँखें मूँदने पर भी हँसी प्रकट हो जाती है। विद्यापति कहते हैं, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, कामदेव भूखा है, भूखे को अधिक क्रोध होता है, उसी अतिथि के क्रोध से ये सब उपद्रव हो रहे हैं।

अमरुक की नायिका त्योरी चढ़ाती है जिससे और भी उसकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है। इधर विद्यापति की नायिका दूर ही खड़ी हो जाती है और अपने मन को दूर ले जाती है, किन्तु जो प्यास से छटपटाता है, वह भला पानी देखकर किसी का उपदेश सुन सकता है? या उसके ऊपर किस के उपदेश का प्रभाव पड़ सकता है? यही कारण है कि प्यासे मन ने मुँह की हँसी-रूपी सुधारस देखकर उसकी एक भी नहीं सुनी और वह नायक की ओर बढ़ा। अमरुक की नायिका बोलती ही नहीं है, उसका ख्याल है कि नहीं बोलने पर प्रेम की गति थोड़ी देर के लिये रुक जायगी, पर होता है उलटा, उसका हँसमुख मुँह मुसकराने लगता है। विद्यापति की नायिका चुप रहने से ही सन्तुष्ट नहीं होती। उसे डर है कि नायक के देखने पर उसका मन विचलित हो जायगा। इसलिये वह आँखें मूँद लेती है, किन्तु परिणाम होता है एकदम उलटा। आँखें खुली रहने पर दृष्टि इधर-

उधर कुछ देर तक भटकती तो सम्भव था कि कुछ देर तक वह हँसी रोक सकती थी; किन्तु आँखें मूँदने पर सर्वदा उसके मन में यही विचार उमड़ता रहता है—"मैंने आँखें क्यों मूँदीं ? हृदयेश्वर से अपना प्रेम छिपाने के लिये !" और परिणाम यह होता है कि आँखें मूँदने पर भी नायक का चित्र उसके सामने खड़ा हो जाता है। बस क्या है, वह हँस पड़ती है और अपनी अयोग्यता प्रकट करती है। अमरुक की नायिका मन (हृदय) कठिन करने की कोशिश करती है, किन्तु उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विद्यापति की नायिका हृदय को (हार्दिक भाव को) दबाती है, पर सारा शरीर उसके हृदय का उद्गार प्रकट कर देता है। विद्यापति नायिका की अवस्था के वर्णन से ही सन्तुष्ट नहीं होकर कारण और उपाय भी बता देते हैं। कवि नायिका से कहते हैं कि तुम्हारे घर एक अतिथि अर्थात् मदन भूखे हैं, इसलिये ये उपद्रव हो रहे हैं और व्यञ्जना के द्वारा बतलाते हैं कि उन्हें भर पेट खिला दो, सारे उपद्रव शान्त हो जायँगे। अब रसिक पाठक ही सोचें कि विद्यापति की कविता कैसी है !

एक दूसरा भी उदाहरण लीजिये—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो—
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः।

अमरुशतक, श्लोक ११

अर्थात् हे सखियो, मैं क्या करूँ ? मेरी चोली में सैकड़ों छेद हो गये हैं। मैंने अपनी मान की रक्षा के लिये क्या नहीं किया ? उनकी ओर देखते हुए मैंने अपने मुँह को मोड़ लिया। दृष्टि को पैर की ओर ले गई, मेरे कान उनकी बातें सुनने के लिये

व्याकुल हो रहे थे; किन्तु मैंने उन्हें रोका। मेरे गाल पर पसीना निकल रहा था, मैंने उसको हाथों से पोंछ डाला।

अब विद्यापति का भी पद सुनिये—

अवनत आनन कय हम रहलिहुँ
वारल लोचन चोर ।१।
पिया मुख-रुचि पिवय धाओल
जनि से चांद चकोर ।२।
ततहु सओ हठे हँटि आनल
धएल चरन राखि।
मधुक मातल उड़ए न पारए
तइओ पसारल पाँखि।
माधव बोलल मधुरी वानी
से सुनि मृदु मोजे कान।
ताहि अवसर ठाम वाम मेल
धरि धनु पँचवान।
तनु पसेवे पसाहनि भासलि
तइसन पुलक जागु।
चुनि चुनि भय काँचुअ फाटलि
वाहु वलआ भाँगु।
भन विद्यापति कम्पित कर हो
बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंह रूपनारायन
सामल सुन्दर काय।

मैं मुँह को नीचे की ओर झुकाकर बैठी, चोर की तरह चुपचाप भागनेवाले अपने नेत्रों को रोका (देखो, उस ओर कभी

मत जाना), किन्तु वे मानते हैं कब ? जिस प्रकार चकोर चन्द्र-दर्शन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार लालायित मेरे नेत्र प्रिय का मुखचन्द्र देख दौड़े। उनको जबरदस्ती मैं पकड़ लाई और चरण पर रख दिया। मधु से उन्मत्त (मेरे नेत्ररूपी भौंरे) उड़ नहीं सकते थे। तो भी उन्होंने पंख फैलाये। माधव मधुर वचन बोले। उसे सुन मेरे कान मृदु हो गये। इस अवसर पर मेरे भाग्य ने पलटा खाया, कामदेव बाण का सन्धान कर खड़ा हो गया। शरीर के पसीने से वेशरचना बह गई। चुन-चुन शब्द कर चोली फट गई। हाथ का बाला टूट गया। विद्यापति कहते हैं कि हाथ काँपने लगता है, बोली मुँह से नहीं निकलती है।

अमरुक की नायिका नायक से दृष्टि हटाकर अपने पैर की ओर ले जाती है। विद्यापति ने इसी भाव पर रंग चढ़ाकर इसे कैसा सरस बना दिया है ? विद्यापति की नायिका आँखों की चञ्चलता और चोरी से पूर्ण परिचित है। इसलिये सबसे पहले वह उन्हें रोकती है, किन्तु आँखें रुकती नहीं हैं। इसलिये चोरों की तरह उन्हें पकड़कर वह चरण-रूपी कारागार में रख देती है या पकड़े जाने पर आँखें पैरों पर गिर पड़ती हैं अर्थात् क्षमा के लिये प्रार्थना करती हैं। अमरुक की नायिका के कान नायक के वचन सुनने के लिये व्याकुल हो रहे हैं, किन्तु नायिका जबरदस्ती उन्हें रोकती है। विद्यापति की नायिका नायक की बातें सुनना नहीं चाहती, किन्तु माधव का वचन सुनकर उसके कानों की कर्कशता दूर हो गई, वे मृदु हो गये और वचन सुनने के लिये विवश हो गये। यहाँ मृदु शब्द ने कमाल कर दिया है। अमरुक की नायिका के

---

(१) मधु में चिपक जाने के कारण भागने की इच्छा होने पर भी नेत्र-चोर भाग नहीं सकते।

गाल में थोड़ा पसीना हुआ जिसे वह पोंछकर छिपा लेती है, किन्तु विद्यापति की नायिका के शरीर में पसीने की धारा उमड़ पड़ी है जिसे वह छिपा नहीं सकती है। अमरुक की नायिका कहती है कि उसकी चोली के सैकड़ों टुकड़े हो गये, किन्तु विद्यापति की नायिका कहती है कि वह केवल चोली फटने का चुन-चुन शब्द सुन सकी थी कि उसका बाला टूट गया, हाथ काँपने लगे और उसके मुँह से एक भी बात नहीं निकल सकी। यही कारण है कि अमरुक की नायिका की तरह वह स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कह सकी कि मैं क्या करूँ, किस तरह मान की रक्षा करूँ? इस मौनोक्ति में जो सरसता है वह गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने में कहाँ? अमरुक ने नायिका के पसीना होने का कोई कारण नहीं बतलाया; किन्तु विद्यापति ने धनुष पर पाँच बाणों का सन्धान कर कामदेव को खड़ा कर दिया। अबला के सामने धनुष पर पाँच बाण चढ़ा कर यदि कोई वीर खड़ा हो जाय तो पसीना होना, काँपना, आदि स्वाभाविक है। कवि ही कह सकते हैं कि दोनों में क्या अन्तर है।

एक और भी उदाहरण देना असङ्गत नहीं होगा।

अभिसारिका से उसकी सखी पूछती है—

क प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिको वसति यत्र जनः प्रियो मे।
एकाकिनी वत कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहायः।

'अमरु शतक'

(प्रश्न) आधी रात के निविड़ अन्धकार में तुम कहाँ जा रही हो? (उत्तर) मैं वहाँ जा रही हूँ जहाँ प्राणों से भी अधिक

प्यारा मेरा प्रेमी है। (प्रश्न) तुम अकेली हो, फिर डरती क्यों नहीं हो? (उत्तर) धनुष पर वाण चढ़ाये हुए कामदेव मेरे सहायक हैं।

निसि निसिअरे भम भीम भुअंगम
जलधर बीजुरि उजोर।
तरुन तिमिर निसि तइओ चलसि जासि
बड़ सखि साहस तोर।
सुन्दरि कओन पुरुख धन जे तोर हरल मन
जसु लोभे चल अभिसार।
ओंतर दुतर नरि से कैसे जयवह तरि
आरति न करिय झाँप।
तोरा अछि पँचसर तें तोरा नहिं डर
मोर हृदय वड़ काँप।

'विद्यापति'

रात में निशाचर और भयंकर सर्प घूमते हैं। वादल में विजली चमक रही है, रात में निविड़ अन्धकार है तथापि तुम जा रही हो, यह वहुत वड़ा साहस है। वह धन्य पुरुष कौन है जिसने तुम्हारा मन हर लिया है और जिसके लोभ से तुम संकेत-स्थान जा रही हो? वीच में दुस्तर नदियाँ हैं उनको पार कर तुम कैसे जाओगी? प्रेम मत छिपाओ। पाँच शरवाले कामदेव तुम्हारे सहायक हैं। इसलिए तुम्हें डर नहीं है, किन्तु सहायक नहीं होने के कारण मेरा हृदय वहुत जोर काँप रहा है।

अमरुक 'घने निशीथे' कह सन्तुष्ट होगये, किन्तु विद्यापति ने निशाचर, सर्प, और बिजली बुलाकर रात्रि की भयंकरता और भी बढ़ा दी। अमरुक की नायिका को केवल प्रेमी के पास जाना है, किन्तु विद्यापति की नायिका को दुस्तर नदी भी पार करनी है।

अमरुक का नायक नायिका का प्राणाधिक है, किन्तु विद्यापति के नायक ने नायिका का मन हर लिया है, इसके पास मन ही नहीं, सोचे तो किससे ? मन चुरानेवाले नायक का बदला लेने का सब से उत्तम उपाय उसका भी मन हर लेना है। चोरी करने का सब से उत्तम समय अन्धकार-पूर्ण रात्रि है। इसलिये नायिका की उत्सुकता दिखलाकर कवि ने और भी चमत्कार बढ़ा दिया। अमरुक की नायिका कहती है—"मेरे सहायक पंचबाण हैं"; किन्तु विद्यापति की नायिका से सखी कहती है—"तुम्हारी सहायता के लिये पाँच बाण धनुष पर चढ़े हुए हैं और कामदेव तुम्हारे सहायक हैं, किन्तु मैं असहाय हूँ, मेरा हृदय जोर से काँप रहा है"। इसमें कुछ व्यङ्ग्य अर्थ भी मालूम पड़ता है। सखी के कहने का अभिप्राय यह है, तुम्हारे साथ सहायक हैं, इसलिये तुम जाओ, किन्तु भयभीत होने के कारण मैं नहीं जाऊँगी। इस तरह नायिका को अकेले नायक-मिलन का अवसर देना ही उसका व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। असहाय होने के कारण पति के पास उसे पहुँचा देने का भी इशारा हो सकता है। इन ही अन्तिम पङ्क्तियों ने इस पद को उत्तम काव्य कहलाने का अधिकार दिलवा दिया है।

बस, इन तीन श्लोकों की ही तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि अमरुक कवि का प्रत्येक (१) श्लोक महाकाव्य कहलाने योग्य है तो महाकवि विद्यापति के पदों को भी महाकाव्य कहना अयुक्त और असङ्गत नहीं होगा। इस विषय में काव्यमर्मज्ञ विद्वानों को ही मैं साक्षी रखता हूँ। वे ही बतावें कि विद्यापति की कविता कैसी है और देशी भाषा में लिखी हुई कविताओं में उसको क्या स्थान मिलना चाहिये।

---

(१) अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

विद्यापति और गोवर्धनाचार्य

विद्यापति गोवर्धनाचार्य के भी ऋणी हैं। आर्यासप्तशती, गाथा-सप्तशती, शृङ्गारतिलक, शृङ्गारशतक आदि का प्रभाव विद्यापति के पदों पर अनेक स्थानों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के रूप में आर्यासप्तशती की एक आर्या मैं नीचे उद्धृत करता हूँ—

अगृहीतानुनयां मामुपेत्य सख्यो गता वर्तैकाहम्।
प्रसभं करोषि मयिचेत्त्वदुपरि वपुरद्य मोक्ष्यामि ॥

आर्यासप्तशती, श्लोक ३२

नायिका नायक से कहती है। मैंने मान का त्याग नहीं किया था, सखियाँ मुझे अकेली छोड़कर चली गईं। यदि तुम बलात्कार करोगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। यहाँ श्लेष के द्वारा 'मैं तुम्हारे शरीर पर अपने को गिराऊँगी' यह अर्थ प्रतीत होता है और उस के द्वारा बलात्कार करने का इशारा ही व्यङ्ग्य अर्थ है।

ए हरि बलें जदि परसवि मोय
तिरिवध-पातक लागत तोय।
तुहु रस-आगर नागर ढीठ
हम न बुझिअ रस तीत कि मीठ

'विद्यापति'

हे हरि! यदि तुम जबरदस्ती मुझे छुओगे तो तुम्हें स्त्रीवध का पाप लगेगा। तुम ढीठ, रसिक और नागर हो, मैं तो नहीं समझती हूँ कि रस मीठा होता है या तीता।

अर्यासप्तशती की नायिका आत्महत्या की धमकी देकर बला-त्कार करने से रोकती है, किन्तु वियापति की नायिका उसकी अनुमति के बिना छूने से भी रोकती है और कहती है कि यदि तुमने मेरा स्पर्श किया तो तुम्हें स्त्रीवध का पाप लगेगा। सीधे आत्म-

हत्या की घुड़की की अपेक्षा स्त्री-वध का भय दिखलाने में कितनी अधिक सरसता है—यह सहृदय-हृदय ही समझ सकता है। इसपर यह भी स्पष्ट शब्दों में कह देती है—"तुम रस के समुद्र हो, नागरिक हो और प्रौढ़ हो, इसलिये रस का परिचय देना और अपनी ढिठाई दिखलाना तुम्हारे लिये स्वाभाविक है। मैं तो जानती ही नहीं कि रस क्या है। इसलिये हत्यापराध लग जाने की धमकी देकर अरसिकता प्रकट करना मेरे लिये स्वाभाविक है। यदि मैं अरसिकता प्रकट करना नहीं छोड़ती हूँ तो फिर तुम अपनी रसिकता क्यों छोड़ोगे ?" इस व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा बलात्कार करने का इशारा करती है। श्लेष के द्वारा अस्वाभाविक अर्थ (मैं अपना शरीर तुम्हारे शरीर पर गिरा दूँगी) की कल्पना की अपेक्षा यह व्यङ्ग्य अर्थ रसिक कवियों को कहीं अधिक मीठा और ताजा रस पिलाकर उन्मत्त कर देता है। कोई भी मानिनी अचानक यह नहीं कह सकती है—"मैं तुम्हारे शरीर पर अपना शरीर गिरा दूँगी"। यह सर्वथा अस्वाभाविक है। इसलिये मेरी समझ में यहाँ विद्यापति गोवर्धनाचार्य से कई एक क़दम आगे बढ़ गये हैं।

विद्यापति और शृङ्गारतिलक

शृङ्गारतिलक के रचयिता सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास माने जाते हैं। शृङ्गार-तिलक के दो-एक श्लोकों के साथ विद्यापति के पदों की तुलना कर विद्यापति के पदों की सरसता दिखलाने की कोशिश नीचे की जाती है।

झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।

तव मुखमकलङ्कं वीक्ष्य नूनं स राहु-
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय।

'शृङ्गारतिलक'

अर्थात् प्रिये! तुम वाहर मत रहो, शीघ्र घर में प्रवेश करो। यह चन्द्र-ग्रहण का समय है। कलङ्क से रहित और सुन्दर तुम्हारा मुँह देखकर राहु पूर्णचन्द्र को छोड़कर तुमको निगल जायगा!

लोलुअ वदन-सिरी धनि तोरि, जनु लागिह तोहि चाँदक चोरि।
दरसि हलह जनु हेरहु काहु, चाँद भरम मुख गरसत राहु।
धवल नयन तोर काजर कार, तीख तरल तँहि कटाख क धार।
निरखि निहारि फाँस गुन जोलि, बाँधि हलत तोहि खंजनं बोलि।
सागर सार चोराओल चन्द, ता लागि राहु करय बड़ दन्द।
मनइ विद्यापति होहु निसंक, चाँदहु काँ किछु लागु कलंक।

'विद्यापति'

अर्थात् हे नायिका, तुम्हारी मुखश्री चंचल है। तुम्हें चन्द्रमा की चोरी का कलंक न लग जाय। तुम किसीकी ओर दृष्टिपात मत करो। डर है कि चन्द्रमा के भ्रम से राहु तुम्हारा मुँह निगल न जाय। तुम्हारे स्वच्छ नेत्रों में काला काजल है। उसमें कटाक्ष की तेज और तिरछी धारा है। अच्छी तरह देख-भालकर, तुम को खंजन समझकर व्याध-जाल में फँसाकर बाँध डालेंगे। राहु देवों से इसीलिये लड़ता आ रहा है कि उन्होंने अमृत और चन्द्र चुराये। विद्यापति निर्भय होकर कहते हैं कि चन्द्रमा को कुछ कलंक लगता ही है।

कालिदास नायिका को घर में प्रवेश करने का उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उन्हें डर है कि ग्रहण के समय मुँह को चन्द्रमा समझकर राहु उसे निगल न जाय। मेरे विचार से मुख का

'अकलङ्कम्' विशेषण अच्छा नहीं है, क्योंकि मुँह में कलङ्क नहीं होना ही सीधी पहचान है कि वह चन्द्रमा नहीं है, फिर इस प्रकार की आशंका क्यों ? इस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिये विद्यापति ने मुँह के विरुद्ध चन्द्रमा की चोरी का कलङ्क लगाकर अपनी विदग्धता का परिचय दिया है। विद्यापति कहते हैं कि केवल राहु का ही डर नहीं है। डर है व्याध का भी। इसलिये खञ्जन-रूपी आँखें और चन्द्र-रूपी मुँह छिपाकर रक्खो। विद्यापति ने व्याध को बुलाकर शिकार की उत्तमता पर उसे लुभाकर कामिनी की कमनीयता और भी बढ़ा दी।

एक और भी उदाहरण नीचे दिया जाता है।

किसी नायिका के घर में एक पथिक सोया हुआ है। नायिका पथिक से कहती है।

यामिन्येषा बहुलजलदैर्बद्धभीमान्धकारा
निद्रां यातो मम पतिरसौ क्लेशितः कर्मदुःखैः।
बाला चाहं मनसिजभयात् प्राप्तगाढ़प्रकम्पा
ग्रामश्चौरैरयमुपहतः पान्थ निन्द्रां जहीहि।

शृङ्गारतिलक, श्लोक १३

अर्थात् यह रात है, बादल घिर जाने के कारण भयंकर अन्धकार है। भाग्य-दोष से दुःखी होकर मेरे पति सो गये हैं। मैं बाला हूँ, काम के डर से मेरा शरीर काँप रहा है, इस गाँव में चोरों का उपद्रव है। इसलिये हे पथिक, जागो।

हम जुवती पति गेलाह बिदेस
लग नहि बसय पड़ोसिया क लेश।
सासु दोसरि किछुओ नहि जान
आँखि रतौंधी, सुनय न कान।

जागह पथिक जाह जनु भोर
राति अन्हार, गाम बड़ चोर।
भरमहुँ भौंरि न देअ कोतवार
काहु क केओ नहि करय विचार।
अधिप न कर अपराधहुँ साति
पुरुख महत सब हमरे जाति।

अर्थात् मैं युवती हूँ, पति विदेश चले गये हैं, समीप में कोई पड़ोसी नहीं है, घर में केवल सास है, वह कुछ भी नहीं समझती है, उसे रतौंधी है, वह बहरी भी है। पथिक! जागो, सबेरे मत जाओ, क्योंकि रात अन्धेरी है और यह गाँव बड़ा चोर है। भूल से भी कोतवाल पहरा नहीं देता है। यहाँ कोई किसी का खयाल नहीं करता है; राजा अपराधियों को दण्ड नहीं देते हैं और इस गाँव के महान् पुरुष सबके सब मेरे सजातीय हैं।

शृङ्गारतिलक में पति को सुलाकर व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा पथिक के आह्वान में रसाभास हो जाता है और दोनों को पद-पद पर डर है कि पति उठ न जाय, कोई आ न जाय। विद्यापति ने पति को विदेश भेज दिया, सास को अन्धी और बहरी बना दी, कोतवालों के पहरा देने का या किसी पड़ोसी के आने-जाने का भय दूर कर दिया, राजा या गाँव के प्रधान पुरुषों के द्वारा दण्डित होने की आशंका दूर कर दी। इस तरह निश्चिन्त और निर्भय होकर निर्जन स्थान में, पति की अनुपस्थिति में नायिका को पथिक के जगाने का और घंटों तक आनंद लूटने का अवसर देकर विद्यापति ने शृङ्गारतिलक के रचयिता की अपेक्षा कहीं अधिक रसिकता का परिचय दिया है। शृङ्गारतिलक की नायिका ने "मैं काम के भय से काँप रही हूँ" कहकर स्पष्ट शब्दों में अपनी काम-विह्वलता दिखलाकर अपनी अरसिकता का परिचय दिया है।

विद्यापति की नायिका "हम जुवती" इन ही दो शब्दों में सब भाव प्रकट कर देती है।

कहीं-कहीं पर भाव में विशेषता नहीं दिखलाकर भी केवल शब्दों को बदलकर ही नया रंग चढ़ा दिया गया है। जैसे—

किमपैति रजोभिरौर्वरैवकीर्णस्य मणेर्महार्घता

माघ सर्ग १७, श्लोक २७

अर्थात् धूलि लग जाने पर मणि का मूल्य कम नहीं होता है। विद्यापति ने संयुक्त अक्षरों को एकदम हटा दिया। धूलि की जगह कीचड़ में मणि गिरा दिया, फिर भी वही बहुमूल्य मणि रह गया। विद्यापति का पद सुनिये—

मनि कादो लपटाय रे
तेँ कि तकर गुन जाय रे।

इस तरह अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु विस्तार के भय से यहीं समाप्त कर पाठकों को विद्यापति का दूसरा चमत्कार दिखलाता हूँ।

इस अवसर पर यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थ मूर्ख व्यक्ति से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठाप्राप्त है यही उनकी अमूल्यता है उसी प्रकार बङ्गाल, बिहार और संयुक्तप्रदेश में समान रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का सौभाग्य केवल विद्यापति को ही मिला है।

विद्यापति और उपमा

राय बहादुर डा० दीनेशचन्द्र सेन का कहना है कि विद्यापति की कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त थी। विद्यापति में ईश्वरीय कृपा के

१ ला० भगवान दीन द्वारा सम्पादित दोहावली की भूमिका पृष्ठ ३

साथ पाण्डित्य और शिक्षा का मिलन हुआ था। सौन्दर्य के उपभोग के लिये उन्होंने अलङ्कार-शास्त्र का ज्ञान और ईश्वरप्रदत्त अलौकिक चक्षु—दोनों का ही उपयोग किया था। एक सुन्दर चित्र देखकर उनके मन में अनेक चित्र स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते थे। यही कारण है कि विद्यापति की उपमाओं में इतना सौन्दर्य है।

विद्यापति ने नायिका की सुन्दर आँखों का वर्णन अनेक प्रकार की उपमाओं के द्वारा किया है।

(१) नीर-निरंजन लोचन राता
सिन्दुरमंडित जनि पंकजपाता।

पानी में स्नान करने के कारण आँखें अंजन-हीन और लाल हो गई हैं, मानो कमल के पत्ते सिन्दूर के रंग में रँग गये हों।

(२) लोचन जनु थिक भृंग अकार
मधुक मातल उड़य न पार।

दोनों लोचन भौंरे के समान हैं जो (मुख-कमल का) मधु पीकर उन्मत्त होने के कारण उड़ नहीं सकते।

(३) चंचल लोचन वंक नेहारनि
अंजन सोमन ताय।
जनि इन्दीवर पवने ठेलल
अली भरे उलटाय।

आँखें चंचल हैं, साथ-साथ कटाक्ष भी है, फिर अंजन से उनकी शोभा बढ़ती है। पुतली एक कोने में खिसक गई है। मालूम पड़ता है कि वायु ने भौंरे को कमल के फूल से ढकेल दिया हो।

पृथ्वी के पदार्थों में परस्पर भेद होने पर भी उनमें एक अच्छेद्य सम्बन्ध है। चंपा फूल सूँघने पर भी विहाग रागिणी याद आ सकती है। इस सम्बन्ध का निर्णय करना विज्ञान की

शक्ति के बाहर है। यह मन की एक विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा उस एकत्व की प्रतीति होती है। आँख, कान आदि की तरह उस शक्ति का कोई नाम नहीं है। केवल उपमा के द्वारा उस शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। विद्यापति की यह इन्द्रिय बहुत तीक्ष्ण थी। जिस प्रकार साधारण तृणपल्लव से उत्कृष्ट औषधि का आविष्कार किया जाता है उसी प्रकार विद्यापति ने भी चराचर दृश्य जगत् से सौन्दर्य का आविष्कार किया था। भारतवर्ष में उपमा के यश के लिये कालिदास का एकाधिपत्य है। यदि कवि-संसार को आपत्ति नहीं हो कि इसमें कालिदास के अतिरिक्त किसी दूसरे कवि को भी थोड़ा हिस्सा मिले तो इस अवसर पर विद्यापति का नाम लेना अर्थात् विद्यापति को भारतवर्ष में उपमा का द्वितीय सिद्धहस्त कवि कहना असङ्गत नहीं होगा।

उपमा के कुछ उदाहरण

(१) कनक लता सन सुन्दरि सजनी गे
विहि निरमायोल आनि।
(२) गेलि कामिनि गजहु गामिनि
(३) नील निचोल झँपवि निज देह
जनि घन भीतर दामिन-रेह।
(४) चिकुर-निकर तम-सम
पुनु आनन पुनिम-ससी।
(५) कुच-जुग चारु चकेवा।
(६) वदन पोछल परचूरे
माँजि धयल जनि कनक-मुकुरे।
(७) पलटि बैसाओलि कनक-कटोरा।

---

(१) बङ्गभाषा और साहित्य।

इस तरह के अनेक उदाहरण और-और अध्यायों में दिये गये हैं जिनका रसास्वाद पाठक उन ही स्थानों पर करें।

विद्यापति और सौन्दर्य

विद्यापति शृङ्गारी कवि थे। शृङ्गार रस सौन्दर्य्य की खान है। विद्यापति ने स्वभावतः सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन किया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि विद्यापति ने सौन्दर्य की सृष्टि की। विद्यापति के सौन्दर्य-वर्णन के दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

वयःसन्धि का वर्णन

खने खन नयन कोन अनुसरइ
खने खन वसन-धूलि तनु भरइ।
खने खन दसन-छटा छुट हास
खने खन अधर आगे गहु वास।
चौंकि चलय खने, खन चलु मन्द
मनमथ-पाठ पहिल अनुबन्ध।
हिरदय-मुकुल हेरि-हेरि थोर।
खन आँचर दय, खन होय भोर
बाला सैसव-तारुन भेट
लखय न पारिअ जेठ कनेठ।

अर्थात् क्षण-क्षण में आँखें कटाक्ष करती हैं, क्षण-क्षण में अंचल (धूलि में गिरकर) शरीर को धूलि से भरता है, क्षण-क्षण में नायिका हँस पड़ती है जिससे दाँत चमक उठते हैं, क्षण-क्षण में चकित होकर चलती है, कभी-कभी मन्द गमन का भी आश्रय लेती है। कामदेव के पाठ की यह पहली भूमिका है,

कभी-कभी हृदय की कली अर्थात् कुच की ओर जरा देख लेती है, कभी आँचल से ढाँक लेती है और कभी-कभी वेसुध हो जाती है। अभी बचपन और जवानी का मिलन हुआ है। दोनों में कौन बड़ी और कौन छोटी है यह नहीं जाना जाता है अर्थात् नायिका के तारुण्य और बाल्य इन दोनों में से कौन प्रबल है यह जानना कठिन हो गया है।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक याद पड़ता है जो विद्यापति के इस पद का आधार मालूम पड़ता है।

क्षणं सरलवीक्षणं क्षणमपाङ्गसंवीक्षणम्
क्षणं रजसि खेलनं क्षणमतीव भूषादरः।
क्षणं द्रुततरा गतिः क्षणमतीव मन्दा गतिः
क्षणक्षणविलक्षणं जयति चेष्टितं सुभ्रुवः॥

अर्थात् कभी सीधी दृष्टि, कभी कटाक्ष, कभी धूल में खेलना, कभी गहनों का प्रेम, कभी तेज चलना, कभी मन्द गमन इस प्रकार सुन्दर भौं वाली नायिका की प्रतिक्षण नया रूप धारण करनेवाली चेष्टाओं की जय हो।

विद्यापति ने इसी भाव में स्तन की उत्पत्ति, कभी उसका ढँकना, कभी खोलना, कभी वेसुध होना, बाल्य और तारुण्य का मिलन आदि मिलाकर और भी रोचकता बढ़ा दी है।

एक और भी वयःसन्धि का वर्णन सुन लीजिये—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
बचनक चातुरि, लहु लहु हास
धरनिय चाँद कयल परगास
मुकुर लई अब करइ सिंगार
सखि पूछइ कैसे सुरत-बिहार।

निरजन उरज हेरय कत वेरि
हसइ से अपन पयोधर हेरि।
पहिल बदरि-सम पुन नवरंग
दिन-दिन अनँग अगोरल अंग।
माधव पेखल अपुरव वाला
सैसव जोवन दुहु एक भेला।

अर्थात् तारुण्य और वाल्य का मिलन है, आँखों ने कटाक्ष करना आरम्भ किया है, वचन में चतुरता आ गई है। मधुर मुसकान देखकर मालूम पड़ता है कि पृथ्वी पर चाँदनी छा गई है। अब आईना देखकर शृङ्गार करती है। सखियों से सुरत-विहार के विषय में प्रश्न करती है, एकान्त स्थान में जाकर वार-वार स्तन देखती है, और उसे देख हँसती है, स्तन बेर के फल के समान थे, फिर नारंगी की तरह हो गये हैं। माधव ने अपूर्व वाला देखी, शैशव और यौवन दोनों का मेल हुआ।

वयःसन्धि के कुछ अंश नीचे भी उद्धृत किये जाते हैं—

केलि रभस जव सूने अनतय हेरि ततहि देइ काने।
इये यदि केओ करय परचारी, कांदन मांखि हँसी दय गारी।

अर्थात् केलि कौतुक की वातें जव सुनती है, तो कान उस ओर देकर दूसरी तरफ देखने लगती है। इस समय यदि किसी ने छेड़ा तो रोना और हँसना मिलाकर गाली देने लगती है।

सौन्दर्य वर्णन

सजनी, अपुरव पेखल रामा
कनकलता अवलम्वन ऊअल
हरिन-हीन हिमधामा।
नयन-नलिन दुओ अंजन रंजइ
भौंह विभंग विलासा।

चकित चकोर-जोर विधि बांधल
केवल काजर-पासा ।
गिरिवर-गरुअ पयोधर-परसित
गिम गज-मोतिक हारा ।
काम कम्बु भरि कनक-सम्भु पर
ढारत सुरसरि-धारा ।
पैसि पयाग जाग-सत जागइ
सोइ पावय बहुभागी ।

अर्थात् हे सखी, मैंने एक अपूर्व नारी देखी है। आकाश में चन्द्रमा का उदय होना स्वाभाविक है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि रमणी की (अङ्गयष्टिरूप) कनक-लता पर चन्द्रमा का उदय हुआ है। इस मुखचन्द्र में हरिण (कलङ्क की कालिमा) नहीं है। कमलरूपी दो नेत्रों में अंजन लगा हुआ है, उनपर भौंहों की विचित्र भावभंगी है। चकोर चन्द्रमा से अत्यन्त प्रेम रखता है, सम्भव है कि नेत्र-चकोर मुख-चन्द्र की ओर दौड़ पड़े। इसलिये नेत्रचकोरों को अंजन की रस्सी से बाँध डाला। गले की मोती की माला पर्वतोन्नत पयोधर को छू रही है; मालूम पड़ता है कि कामदेव (ग्रीवा-रूपी) शंख में (मुक्ताहार-रूपी) गंगाजल भर (गौरपयोधररूपी) स्वर्णमय शिवजी के ऊपर डाल रहे हों। प्रयाग में जो सौ यज्ञ करते हैं उन ही भाग्यवानों को ये मिलते हैं।

इसमें अनेक विचित्रताएँ हैं—कनकलता पर चन्द्र का उदय, चञ्चल चकोर का बन्धन, चन्द्र में कालिमा का अभाव आदि। कामदेव रमणियों को सताया करते हैं, किन्तु इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर काम शिवजी की तरह इसके पयोधरों की पूजा करते हैं। रमणी की रमणीयता का इससे बढ़कर प्रबल प्रमाण क्या हो सकता है? इसके अतिरिक्त कनकलता के साथ शरीर

की, शंख के साथ गले की, गङ्गाजल के साथ हार की, स्वर्णमय शम्भु के साथ गौर पयोधर की उपमा कितनी मनोहर है—यह पाठक ही सोचें। इसमें अनुप्रास तो प्रायः प्रत्येक चरण में है। अतिशयोक्ति, रूपक और उत्प्रेक्षा भी स्पष्ट हैं।

नायिका के अनेक अंगों का संक्षिप्त वर्णन नीचे देकर यह प्रसङ्ग समाप्त किया जाता है।

जहाँ जहाँ पगजुग धरइ। तहिं तहिं सरोरुह झरइ।
जहाँ जहाँ झलकत अंग। तहिं तहिं विजुरि तरंग।
कि हेरल अपरुब गोरि। पैसल हियमधि मोरि।
जहाँ जहाँ नयन-विकास। तहिं तहिं कमल प्रकास।
जहाँ लहु हास सँचार। तहिं तहिं अमिअ-विकार।
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख। ततहिं मदन-सर लाख।

जहाँ दोनों पैर रक्खे जाते हैं वहाँ अमृत की वर्षा होने लगती है। जहाँ राधा के अंग चमकते हैं, वहाँ विजली चमक उठती है।

मैंने अपूर्व गौरवर्णा नायिका को देखा। वह मेरे हृदय के अन्दर घुस गई है। जहाँ उसकी आँखें पड़ती हैं वहाँ कमल खिल उठता है। जहाँ उसकी मृदु मुसकान होती है वहाँ अमृत की छींटें पड़ जाती हैं। जहाँ उसके तिरछे कटाक्ष पड़ते हैं वहाँ काम के लाखों वाण गिरने लगते हैं।

विद्यापति और विरह-वर्णन

मर्मस्पर्शी स्थलों का पहचानना ही कवि की भावुकता की परीक्षा है। विरह एक मर्मस्पर्शी घटना है। विरह से प्रेम की परिपुष्टि होती है। विरह एक तरह का पुट है। विना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। विना विरह के प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं

१. न विना विप्रलम्भेन संयोगः सुखमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागः प्रवर्द्धते—साहित्यदर्पण।

है। इसी तरह विना प्रेम के विरह का अस्तित्व नहीं है। प्रेम की आग को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेमदीपक की बाती को यह विरह ही उसकाता रहता है। विरह की वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। इसीलिये विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थान ऊँचा है। किसी कवि ने ठीक कहा है।

सङ्गमविरह-विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गे सैव यदेका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

अर्थात् तुलना करने पर सङ्गम की अपेक्षा विरह ही मुझे अच्छा मालूम पड़ता है; क्योंकि मिलन में वह अकेली मिलती है, किन्तु विरह में त्रिभुवन उसी (प्रेमिका) के रूप में परिणत हो जाता है।

विद्यापति के महाकवि कहलाने का एक प्रधान कारण यह भी है कि विरह और विरह के बाद मिलन के वर्णन में विद्यापति का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेम में बँधी हुई नायिकाओं के चित्रपटों ने एकाएक जीवन का चाञ्चल्य दिखलाया। उपमा और कविता के सौन्दर्य ने आँख के जल में भींगकर नया लावण्य धारण किया!

श्रीहरि मथुरा जायँगे यह सुन राधा मर रही थी, श्रीकृष्ण के आने पर सिर पर हाथ रखकर विना कुछ कहे ही जैसे राधा ने अपना दुःख प्रकट किया और कहा "मेरे मस्तक पर हाथ रखकर बोलो कि तुम नहीं जाओगे" वैसे ही कृष्ण ने शपथ की। राधा ने कृष्ण के उन वचनों पर वेदवाक्य की तरह विश्वास कर लिया। इसीलिये विद्यापति ने भक्ति और प्रेम का संमिश्रण कर गाना गाया है।

विद्यापति-वर्णित राधिका सबला और अनभिज्ञा है। कृष्ण

चले गये, राधा शुष्क और शीर्ण फूल की तरह जमीन पर लोट रही है, सखियाँ कृष्ण के आने की आशा दिलाकर आश्वासन दे रही हैं। मुमूर्षु राधिका कातर होकर बोलती है।

अंकुर तपन-ताप जदि जारव
कि करव वारिद मेहे।
ई नव जौवन विरह गमाएव
कि करव से पिआ-नेहे।
हरि हरि की इह दैव-दुरासा।
सिन्धुनिकट जदि कंठ सुखाएव
के दुर करव पिआसा
चंदन तरु जब सौरभ छोड़व
ससधर बरिखव आगि
चिन्तामनि जब निज गुण छोड़व
की मोर करम अभागि।
साओन माह घन-बिन्दु न बरखिय
सुरतरु बाँझ कि छांदे।

अर्थात् यदि अंकुर सूर्य की किरणों से जल ही जायगा तो जल देनेवाले बादल से क्या लाभ ? यदि यह नई जवानी विरह में ही बिताई जायगी तो प्रियतम से प्रेम कर क्या लाभ हुआ ? अहा ! किस तरह मेरी आशा पर पानी फिर गया ! समुद्र के निकट भी यदि गला सूखे तो प्यास कौन दूर करेगा ? यदि चन्दन का वृक्ष सुगन्ध छोड़ दे, चन्द्रमा अग्नि की वर्षा करे और चिन्तामणि अपना गुण छोड़ दे तो (यही समझना पड़ेगा) मेरा भाग्य खोटा है। इसी प्रकार सावन के महीने में बादल नहीं बरसे (यह आश्चर्य है)। कल्पवृक्ष किस प्रकार बाँझ (इच्छानुरूप फल नहीं देनेवाला) हो गया ?

कृष्ण के प्रति चिरविश्वासमयी मुग्धा राधा की मृत्यु-यातना अनुराग-माधुर्य के द्वारा हमलोगों को मोहित करती है। विरह-कथा मर्मान्तिक होने पर भी विश्वास-मधुर है और मृत्यु का भय दूर करती है। "(श्रवणहुँ) सामनाम करु गान। जपइत निकसत कठिन परान" आदि पद कैसे मीठे हैं। 'नारायणं तनु-त्यागे' यह चरणार्ध भक्तों के कानों में अमृतवर्षण करता है। क्या कविता के रूप में यह उसीका रूपान्तर नहीं है?

प्राकृतिक नियम है कि दुःख के बाद सुख होता है। विरह-दुःख के अन्त में मिलन होता है। मिलन के वर्णन में विद्यापति के पदों में जो प्रेम का हार्दिक उद्गार पाया जाता है पद्य-साहित्य में खोजने पर भी वह विरले ही कहीं मिलता है। विरह से व्याकुल राधिका चन्द्रकिरण के स्पर्श से या कोयल की बोली सुनकर पगली-सी हो जाती थी। वही राधिका प्रियमिलन होने पर कहती है—

सेइ कोकिल अब लाख डाकहु
लाख उदअ करु चन्दा।
पाँचबाण अब लाखबाण हउ
मलय पवन बहु मन्दा।

अर्थात् वही कोयल (जो मुझे सताती थी) लाखों बार बोले, पाँच वाण अर्थात् काम के लाखों वाण हो जायँ और मलयाचल की वायु धीरे-धीरे बहे (मुझे जरा भी परवा नहीं, मैं उनका हृदय से स्वागत करती हूँ)।

"आज कृष्ण आनेवाले हैं, आज प्राणबन्धु के दर्शन होंगे" —इस आशा में राधा फूली नहीं समाती है।

"कि कहब हे सखि आनन्द ओर
चिर दिन माधव मन्दिर मोर।

पाप सुधाकर जत दुख देला
पिय मुख दरसन तत सुख भेला।
आँचर भरि जँ बड़ निधि पाव
तइओ न पिअ दुर देस पठाव।
सीतक ओढ़नि, ग्रीसमक वायु
बरस क छत, पिय दुर जनि जाउ।
भन विद्यापति सुनु वर नारि
सुजनक दुःख दिवस दुइ चारि।

अर्थात् मैं इस असीम आनन्द का वर्णन किस प्रकार करूँ? अनेक दिनों के बाद माधव मेरे घर आये हैं। पापी चन्द्रमा ने जितना दुःख दिया था प्यारे कृष्ण के दर्शन से उतना ही सुख अभी मिलता है। रत्नों से आँचल भर जाने की संभावना में भी मैं अपने प्रिय को विदेश नहीं भेजूँगी। मेरा प्रेमी, जो जाड़े के लिये रजाई है, ग्रीष्म-ऋतु में वायु के समान सुखदायक है और वर्षा-ऋतु का छाता है, दूर नहीं जायगा। विद्यापति कहते हैं—हे सुन्दरी, सुनो! सज्जनों का दुःख केवल दो चार दिनों तक ही ठहरता है।

यह पद पढ़कर महाप्रभु चैतन्य पहरों पागल की तरह नाचा करते थे!

विरह से व्याकुल राधिका 'कृष्ण-कृष्ण' रटती हुई कृष्णमय हो जाती है। कृष्ण का राधा-विरह, और राधा का कृष्ण से विरह—ये दोनों कष्ट एक ही राधा को सहने पड़ते हैं; क्योंकि वह कभी कृष्ण हो जाती है और कभी राधा।

अनुखन माधव माधव रटइत
राधा भेल मधाइ।

ओ निज भाव सुभावहिं विसरल
अपने गुन लुबुधाइ।
माधव, अपरुब तोहर सिनेह
अपने विरह अपन तनु जरजर
जीवन भेल सँदेह।
भोरहिं सहचरि कातर दिठि हेरि
छल-छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि।
राधा सों जब पुन तेहि माधव
माधव सँय जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त बिरह क बाधा।
दुहु दिस दारु-दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान।

अर्थात् प्रतिक्षण माधव, माधव रटती हुई राधिका माधव हो गई अर्थात् इतना तन्मय हो गई कि अपने को भी माधव समझने लगी। वह भूल गई कि वह राधा है और (अपने को माधव समझ कर) राधा के गुण पर लुभा गई। माधव, तुम्हारा प्रेम अद्भुत है। अपने ही विरह से अपना शरीर जल रहा है, जीवन-मरण की समस्या है। सवेरे राधा ने सखी को कातर दृष्टि से देखा, और उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी। वह प्रतिक्षण 'राधा, राधा' रट रही है, किन्तु (प्रेम से विह्वल होने के कारण) आधा ही वचन मुँह से निकलता है (आधा वचन तो प्रेम ही निगल जाता है)। वह राधा से माधव बन जाती है और फिर कुछ देर के बाद माधव से राधा हो

जाती है। प्रेम भयंकर रूप धारण करता है और उसका अभी अन्त ही नहीं होता है। परिणाम यह होता है कि विरह की वेदना और भी बढ़ जाती है। जिस प्रकार दोनों ओर आग रहने पर एक कीट उसी ज्वाला से मर मिटता है उसी प्रकार राधा को एक ओर राधा की विरहाग्नि और दूसरी ओर कृष्ण की विरहाग्नि है। इन दोनों अग्नियों की ज्वाला से राधा (जो कभी कृष्ण और कभी राधा हो जाती है) जलती है।

इस पद में विरह का कैसा उत्कृष्ट वर्णन है, प्रेम में कैसी तन्मयता है कि राधा अपने को भी भूल जाती है और अपने को कृष्ण समझकर उनके विरह से व्याकुल हो जाती है। चन्द्रमा, कोयल और काम को खरी खोटी बातें सुनाना, चन्दन, चाँदनी, शिरीष, मृणाल आदि में गरमी पैदा करना, विरह से व्याकुल होकर उस पवित्र वेदी पर आत्मबलि देने के लिये यमराज का निमन्त्रण आदि वर्णन तो हर एक कवि के विरह-वर्णन में पाया जाता है, किन्तु इस तरह विरह में मिलन और मिलन में भी विरह विद्यापति की ही करामात है। विद्यापति का प्रेम ही निराला है, जिसने उस प्रेम का एक प्याला पी लिया है, उसको प्रतिक्षण संसार में, उसके प्रेमी में, नये-नये परिवर्तन होते दिखाई पड़ते हैं। विद्यापति स्वयं कहते हैं—

से हो पिरीति अनुराग बखानिअ
तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल
तइओ न तिरपित भेल।
....
लाख लाख जुग हिय हिय राखल
तइओ हिय जुड़ल न गेल।

अर्थात् वही प्रेम अनुराग कहलाता है जो हर एक तिल (क्षण) में नया होता रहता है। राधा कहती है कि जनम से मैं कृष्ण का रूप देखती आ रही हूँ, किन्तु मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ है। सन्तोष होता कैसे? यदि एक ही कृष्ण बार-बार दिखाई देते तो सम्भव था कि उनके दर्शन से राधा ऊब जाती और फिर उन्हें देखने की जरा भी इच्छा नहीं होती, किन्तु प्रेम कृष्ण को प्रतिक्षण बदलता रहता है। जो कृष्ण एक घंटा पहले थे, वह अभी नहीं हैं। फिर नये कृष्ण के दर्शन के लिये उत्सुकता, सन्तोष का अभाव स्वाभाविक है। यही कारण है कि उसने अनन्त काल से अपने हृदय में कृष्ण का हृदय रक्खा, किन्तु हृदय शीतल नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में प्रेम वही है जो प्रतिक्षण नायिका और नायक में नवीनता लाता रहता है।

प्रेम की परिभाषा करना सीधा काम नहीं है। नारद मुनि ने भक्ति-सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है 'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम् मूकास्वादनवत्' अर्थात् जैसे गूँगा स्वादिष्ठ पदार्थ खाकर उसका स्वाद बतला नहीं सकता है उसी प्रकार प्रेमी ही प्रेम का रस चखता है, किन्तु उसकी परिभाषा करना उसके लिए असम्भव है।

करुणारसाचार्य भवभूति की भी परिभाषा

सुन लीजिये।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

१ तदेव रूपं रमणीयतायाः क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति।

सत्यनारायण का अनुवाद

सुख-दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम-स्थल ।
सब विधि सों अनुकूल, विसद लच्छनमय अविचल ॥
जाहु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरठाई ।
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन सघन सुन्दर सुखदाई ॥
जो अवसर पर संकोच तजि परवत-दृढ़, अनुराग-सत ।
जग-दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत ॥

जिस प्रेम की परिभाषा करने में नारद ने असमर्थता प्रगट की और महाकवि भवभूति ने एक लम्बा चौड़ा व्याख्यान दे डाला विद्यापति ने 'तिल तिल नूतन होय' इन इने-गिने शब्दों में उस प्रेम की मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही परिभाषा की सृष्टि कर कमाल कर दिया। यही नहीं प्रेम की कसौटी विरह है। विद्यापति का विरह-वर्णन पाठक सुन ही चुके हैं। जिन्होंने और-और कवियों के विरह-वर्णन सुने होंगे और उन ही नमूनों का विरह-वर्णन सुनना चाहते हों उन पाठकों के लिये एक पद नीचे उद्धृत कर यह अंश समाप्त किया जाता है।

लोचन-नीर तटिनि निरमाने
करय कमलमुखि ततहि सनाने ।
सरस मृणाल करइ जपमाला
अहनिस जप हरि नाम तोहारा ।
वृन्दावन बनि तप करइ
हृदय–वेदि मदनानल वरइ ।
जिव कर समिध समर कर आगी
करति होम वध होएवह भागी ।

अर्थात् दूती कृष्ण से कहती है कि नायिका तप कर रही है। यदि वह सुकुमारी मर गई तो हत्या का पाप तुम्हारे सिर मढ़ा

जायगा। आँसुओं की नदी में स्नान कर, मृणाल की जपमाला ले राधा दिन-रात हरि-नाम जपती है। हृदय की वेदी पर काम की आग धधक रही है, प्राण लकड़ी है, सुलगाने के लिये कृष्ण का स्मरण आग की चिनगारी है। विरह से व्याकुल होकर राधा इस प्रकार होम करती है।

विद्यापति और उत्तम ध्वनि काव्य

काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण बतलाकर काव्य के तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) अधम। उत्तम काव्य का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है।

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः"

अर्थात् यदि व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो तो वह उत्तम काव्य कहलाता है और उसी का नाम 'ध्वनि' है। पण्डितराज जगन्नाथ अपने 'रसगङ्गाधर' में बताते हैं—"उत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कार-जनक अर्थ को अभिव्यक्त करे अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से समझावें"। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता ही उत्तम काव्य का लक्षण है।

व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता और वाच्य अर्थ की अप्रधानता के उदाहरणस्वरूप विद्यापति के अनेक पद अमरुक के साथ तुलना करते समय उद्धृत किये जा चुके हैं। इस समय नीचे केवल एक और पद उद्धृत किया जाता है। साथ-साथ पाठकों से अनुरोध है कि यदि उन्हें ध्वनि काव्य का अध्ययन अभीष्ट हो तो एक बार विद्यापति के पदों को अवश्य पढ़ें।

कर धरु, करु मोहे पारे
देव हम अपुरब हारे कन्हैया।

सखि सब तेजि चल गेली
न जानु कोन पथ भेली।
हम न जाएव तुअ पासे
जाएव ओघट घाटे।

राधा नदी के उस घाट पर पहुँचती है जहाँ पानी कम है। कोई भी सखी उसके साथ नहीं है। एकाएक माधव को देखकर वह माधव से प्रार्थना करती है—"मेरा हाथ पकड़ लो, नदी पार कर दो, मैं उसके बदले तुम्हें हार दूँगी, सखियाँ मुझे छोड़ कर चली गईं, मुझे मालूम नहीं कि वे किस रास्ते से गईं। मैं तुम्हारे पास नहीं जाऊँगी। मैं अवघट घाट जाऊँगी।"

व्यङ्ग्य अर्थ

स्त्रियों के हाथ पकड़ने का अधिकार केवल पति को है; किन्तु राधा स्वयं हाथ पकड़ने के लिये प्रार्थना कर आत्मसमर्पण करती है। माधव को गले का हार देकर गले का हार ही बनाना चाहती है। सखियों का साथ न होना और उनका अज्ञात पथ से जाना व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा सूचित करता है कि सखियों के आने की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ लोग आते-जाते हैं, यह एकान्त स्थान नहीं है, यही कारण है कि आत्मसमर्पण करने पर भी मैं तुम्हारे पास जाना नहीं चाहती हूँ। मैं अवघट जा रही हूँ, वह निर्जन स्थान है। चलो, हम दोनों वहाँ एकान्त स्थान में क्रीड़ा करें।

यहाँ रति का आलम्बन विभाव नायक है, एकान्त स्थान—आदि उद्दीपन हैं, हाथ पकड़ना अनुभाव है, लज्जा और औत्सुक्य व्यभिचारी भाव हैं। इनके संयोग से रति (स्थायी भाव) की

अभिव्यक्ति होती है या यों कहिये कि दोनों का प्रेम प्रतीत होता है।

इस तरह सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु विस्तार के भय से यहीं समाप्त करता हूँ।

मेरी इच्छा थी कि प्राचीन (संस्कृत) तथा अर्वाचीन (अँगरेजी) समालोचकों के मत दिखलाकर मैं विद्यापति के पदों की समालोचना करता; किन्तु विस्तार के भय से यहीं समाप्त करना पड़ता है। यदि पाठकों ने प्रोत्साहित किया तो आशा है कि दूसरी बार उनकी सेवा में कुछ और भी निवेदन करने का सौभाग्य मिलेगा।

विद्यापति और अलङ्कार

काव्य के लक्षण में अनेक तर्क-वितर्क हुए, विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन कर 'रसात्मकं वाक्यम् काव्यम्" का ढिंढोरा पीटा, किन्तु मैथिल आचार्य इनके विचार से सहमत नहीं मालूम पड़ते हैं। महामहोपाध्याय गोविन्द ठाकुर और महामहोपाध्याय केशव मिश्र के ग्रन्थ मैंने देखे हैं। इन दोनों मैथिल आचार्यों की राय में काव्य में रस या अलंकार इन दोनों में किसी एक का होना आवश्यक है। केशव मिश्र ने 'अलङ्काररसान्यतरवत्त्वम्' काव्य का लक्षण किया है। गोविन्द ठाकुर ने कहा है—"जहाँ रस नहीं है या अलंकार भी स्पष्ट नहीं है, तो बताइये, वहाँ चमत्कार कैसे होगा? चमत्कार ही काव्य का सार है, यदि वही नहीं रहा तो उसे काव्य कहा ही कैसे जायगा? इसलिये रस

(१) वयं तु पश्यामः नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतोरसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा।.....................................। नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलंकारः स्यात्तत्किङ्कृतश्चमत्कारः स्यात चमत्कार-सारं हि काव्यम्।

और अलंकार—इन दोनों में से किसी एक से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिये।" रसगङ्गाधर में इसी मत का विकाश 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के रूप में हुआ है। जो कुछ हो, इसमें सन्देह नहीं कि मैथिल आचार्यों की राय में रस की तरह काव्य में अलंकार की भी प्रधानता थी। विद्यापति भी मैथिल थे। इसलिये इनकी कविता में रस और अलङ्कार की प्रधानता होना स्वाभाविक है।

इस पुस्तक के द्वितीय भाग में अलङ्कार की उत्पत्ति, उन्नति और विद्यापति की पदावली पर अलङ्कार शास्त्र का प्रभाव आदि विषयों के विशद विवेचन करने का विचार है। इसलिये अन्यान्य विषयों का विशेष विचार नहीं कर केवल इने गिने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

गहना पहनकर कुरूप नारियाँ भी सुन्दरी मालूम पड़ती हैं। सुन्दरी नारियों के गहने तो सोने में सुगन्ध का काम करते हैं। विद्यापति की श्रुतिमधुर कविता अलंकार से सुसज्जित होकर किस पद्यप्रेमी पाठक का मन नहीं हर लेती है।

पहले शब्दालंकारों के दो तीन उदाहरण दिये जाते हैं, अनन्तर अर्थालंकारों के भी कुछ उदाहरण दिये जायँगे।

शब्दालंकार

अनुप्रासः-(१) कमलें मिलल दल मधुप चलल घर विहग गहल निज ठामे।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन वड पाँतर दुर गामे।

---

(१) एक या अनेक व्यञ्जन वर्णों की समानता अनुप्रास है।

(२) कमल बंद हो गया, भौंरे घर चले, पक्षिगण अपने-अपने स्थान की ओर चले। रे पथिको! अपना मन स्थिर करो। बहुत बड़ा मैदान है, गाँव बहुत दूर है।

(२) दुहुक दुलह दुहु दरसन मेल

यमकः—(१) सारँग नयन, वयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग केलि करथि मधु-पाने।
(२) नयन नयँन दुहु वयन वयान।
दुहु गुन दुहु गुन दुहु जन जान।

अर्थालंकार

अनन्वय-(१) जौं श्रीखँणड-सौरभ अति दुरलभ तौं पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीस निसाकर तौं पुन एक हि पच्छ उजोर।
मनि-समान औरो नहिं दोसर तनिकर पाथर नामे।
तोहर सरिस एक तोहें माधव मन होइछ अनुमाने।

अतिशयोक्ति-(१) कनँक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

---

(१) दोनों के दुर्लभ दर्शन दोनों को मिले।

(२) हरिण के समान आँखे हैं, वचन कोयल के समान है। काम वाण का संधान करता है, मुख-रूपी कमल पर भौरें—रूपी वाल लटक रहे हैं जो मधुपान कर केलि कर रहे हैं।

(३) वियोग के वाद परस्पर मिलन होने पर दोनों की आँखे परस्पर मिल गईं। परस्पर वातें होने लगी और दोनों का गुणगान दोनों करने लगे।

(४) यदि उपमान और उपमेय एक ही रहे तो अनन्वय अलङ्कार होता है।

(५) चन्दन की सुगन्धि उत्तम होती है, किन्तु वह लकड़ी है, और उसमें कठोरता है। चन्द्रमा जगदोश हैं, किन्तु उनकी चाँदनी एक ही पक्ष तक रहती है। मणि के समान दूसरी और चीज नहीं है, किन्तु वह पत्थर है। उससे मालूम पड़ता है कि हे माधव, तुम्हारे समान तुम ही हो।

(६) उपमेय की जगह उपमान का ही उल्लेख अतिशयोक्ति है।

(७) जाँघ पर कमर है, और उसपर उभड़ी हुई छाती है।

विरोधाभास (१) मेरु उँपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।

इसमें उपमा, रूपक और विरोधाभास का संकर है (२) चिकुरनिकँर तम-सम, पुनु आनन पुनिम-ससी।
नयन-पंकज के पतिआओत एक ठाम रहु वसी

अर्थान्तरन्यास—(१) पुनि फिँरि सोइ नयन जदि हेरवि
पाओव चेतन नाह।
भुजंगिनि दंसि पुनहि जदि दंसय
तवहि समय विष जाह।

(२) कहहु पिसुन सत अवगुन सजनी
तनि सम मोहि नहि आन।
कतेक जतनसँ मेटिय सजनी
मेटय न रेख पखान।

यथासंख्य— वते देखल ततँ कहिअ न पारिअ

---

(१) विरुद्ध की तरह मालूम पड़े, किन्तु बात हो ठीक।

(२) मेरु (छाती) पर दो कमल (कुच) खिले हुए हैं। मृणाल के बिना उसकी शोभा बढ़ रही है।

(३) केश अन्धकार के समान हैं, और मुँह पूर्णिमा का चन्द्रमा है, आँखें कमल हैं। कौन विश्वास करेगा कि एक जगह चन्द्रमा, कमल और अन्धकार रह सकते हैं।

(४) जहाँ दूसरे अर्थ से प्रकृत अर्थ का समर्थन किया जाय उसको अर्थान्तर-न्यास अलंकार कहते हैं।

(५) फिर यदि तुम उसीको देखोगे तो तुम्हारे होश-हवाश ठिकाने आ जायेंगे। यदि साँपन काटकर फिर दुवारा काटती है तो विष दूर हो जाता है।

(६) संख्या के अनुसार क्रमश: अन्वय 'यथासंख्य' कहलाता है।

(७) जितना मैंने देखा है उतना मैं नहीं कह सकता हूँ नयन के रूप में हरिण, मुँह के रूप में चन्द्रमा, कमल के रूप में सुगन्ध, गमन में करिणी, शरीर की कान्ति में सोना, सुन्दर बोली में वह कोयल है।

छओ अनुपम एक ठामा।
हरिन, इन्दु, अरविन्द, करिनि, हेम
पिक बूझल अनुमानी।
नयन, बदन, परिमल, गति,
तनुरुचि अओ अति सुललित बानी।

परिकर[1]— तुहु रस-आगर नागर ढीठ
हम न बुझिअ रस तीत को मीठ।

तिरस्कार[2]— जौं श्रीकण्ठक सौरभ अति दुरलभ
(अनन्वय का उदाहरण देखिए)

व्यतिरेक[3]—(१) अधर[4] विम्ब अध आई।
भौंह भमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।

(२) कवँरी-भय चामरि गिरि[6] कन्दर
मुख-भय चाँद अकासे

---

(१) जहाँ विशेषण सार्थक हों उसे 'परिकर' अलंकार कहते हैं।

(२) जहाँ किसी प्रकार का दोष मानकर उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु का भी तिरस्कार किया जाय वहाँ तिरस्कार अलंकार होता है।

(३) उपमान से उपमेय की उत्कृष्टता का वर्णन 'व्यतिरेक' कहलाता है।

(४) होंठ की लाली देखकर विम्बफल (कुँदरू का फल) फीका मालूम पड़ता है, भौंह भ्रमर के समान काली है, सुन्दर नथना देखकर तोता लज्जित होता है।

(५) गूँथी हुई वेणी के डर से चमरी पहाड़ की कन्दरा में छिप गई, चन्द्रमा मुँह के डर से आकाश में चला गया। आँख के डर से हरिण, स्वर (बोली) के डर से कोयल और गति के डर से हाथी वन चले गये। तुम्हारे डर से ये दूर भाग गये हैं, तुम फिर किससे डरती हो?

(६) यहाँ प्रतीप और अनुप्रास अलङ्कार भी हैं।

हरिन नयन-भय, सरमय कोकिल
गति-भय गज बनवासे
तुअ डर ई सब दुरहि पड़ाएल
तोहें पुनि काहि डरासि।

एकावली— सरसिज¹ बिनु सँर, सर बिनु सरसिज।
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन
की जौवन पिअ-दूरे।

मीलित⁴— देह जोति⁵ ससि किरन समाइल
के विभिनावए पार।

पर्यायोक्ति—(६) मरमक⁷ वेदन मरमहि जान
आनक दुख आन नहि जान।

---

(१) पूर्व-पूर्व कथित विशेष्य का उत्तरोत्तर विशेषण होना एकावली है।

(२) यहाँ विनोक्ति और अनुप्रास भी है।

(३) तुलना कीजिये—न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तदलीन-षट्पदम्। 'भट्टिकाव्य'।

(४) जहाँ दो पदार्थों के समान होने पर एक पदार्थ दूसरे से मिल कर ऐसा विलीन हो जाय कि भिन्नता ज्ञात न हो वहाँ मीलित अलंकार होता है।

(५) नायिका के शरीर की शोभा चाँदनी में मिल गई। कोई उसे अलग नहीं कर सकता है।

(६) जहाँ एक ही बात प्रकारान्तर से दुबारा कही जाय वहाँ 'पर्यायोक्ति' अलंकार होता है।

(७) मर्म की व्यथा वे ही जानते हैं जिन्हें मार्मिक दुःख का अनुभव हुआ है।

(२)	जावे रहै¹ धन अपना हाथे, तावे आदर कर सँग साथ। धनिक क आदर सब ठँह होय निरधन बापुर पुछय न कोय।
आक्षेप²—	बालम विनु कइसे जीठव सजनी गे आब जिवन कोन काज
स्मृति³—	से सब सुमरि कान्ह भेल आकुल
विनोक्ति⁴—(१)	मनमथ मन मथ तनि बिनु सजनी देह दहय निसि चन्द।
(२)	राहि दरस विनु निकस परान
दृष्टान्त⁵—(१)	जँइओ⁶ तरनि जल सोखय सजनी कमल न तेजय पाँक। जे जन रतल जाहिसों सजनी कि करत विधि भय बाँक।

---

(१) जबतक धन अपने हाथ में रहता है तब ही साथी भी आदर करते हैं। धनियों का आदर सब जगह होता है, बेचारे निर्धन को कोई नहीं पूछता है।

(२) जहाँ विवक्षित अर्थ का किसी प्रकार निषेध हो वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।

(३) जब किसी प्रकार पहले की घटना का स्मरण हो तो 'स्मृति' अलंकार होता है।

(४) जहाँ किसीके विना कोई वस्तु अच्छी या बुरी मालूम पड़े वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।

(५) जहाँ उपमेय वाक्य को उपमान वाक्य के साथ दृष्टान्त दिया जाय वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

(६) सूर्य पानी सोख लेते हैं, किन्तु कमल कीचड़ नहीं छोड़ता है। जो मनुष्य जिसके साथ अनुरक्त है वहाँ प्रतिकूल भाग्य भी कुछ नहीं कर सकता है।

(२) जकर हिरदय[1] जतही रातल
से धसि ततही जाय।
जइओ जतन बाँधि निरोधिअ
नीमन नीर थिराय।

विषम[2]—(१) पिआ विसलेखं[3] अनल जों वरखिय
के बोल सीतल चंदा।

(२) मधु[4] सम वचन कुलिस सम मानस
प्रथमहि जानि न भेला

अपन्हुति[5]— गरुअ[6] कुम्भ सिर थिर नहिं रह
तें उधसल केसपासे।
सखिजन सँ हम पाछाँ पड़लिहुँ
तें भेल दीव निसासे।
विनु विचार वेभिचार बुझयवह
सासू करतिह रोसे।

(१) जिसका हृदय जिससे अनुरक्त है वह वहीं जाता है। प्रयत्न के साथ रोकने पर भी पानी नीची ही जमीन पर जाकर ठहरता है।

(२) जहाँ विपमता का वर्णन हो वहाँ विषम अलंकार होता है।

(३) प्रियविरह में अग्नि की वर्षा करनेवाले चन्द्रमा को शीतल कौन कहेगा?

(४) मैंने पहले नहीं जाना कि तुम्हारा वचन मधु के समान है, किन्तु मन वज्र के समान है।

(५) जहाँ किसी बात को छिपाकर दूसरी बात की स्थापना हो।

(६) यदि तुम बिना सोचे विचारे व्यभिचार का दोषारोपण करोगे तो सास बिगड़ जायगी। घड़ा भारी था। वह सिर पर स्थिर नहीं रह सकता था। इसलिये बाल बिखर गये हैं। मैं पीछे पड़ गई। इसलिये लम्बी साँस निकल रही है।

अप्रस्तुतप्रशंसा[1]— भमरा[2] भेल घुरय सब ठाम
तोहें बिनु मालति नहि बिसराम।

तद्गुण[3]— अनुखन माधव माधव रटइत
सुन्दरि भेलि मधाई

असंगति[4]—(१) मानस विवस, खसय निवि-बंध
(२) दिठि[5] अपराध परान पय पीड़सि
से तुअ कौन विवेक ?

विशेष[6]— कनक-लता[7] बनि संचर रे
महि निर अवलंब।

काव्यलिङ्ग[8]— कुच[9]जुग अरविन्द

---

(१) जहाँ अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ का बोध हो वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

(२) भौंरा (कृष्ण) सब जगह घूमता है, किन्तु हे मालती (राधा), तुम्हारे बिना उसे चैन नहीं।

(३) जहाँ अपना गुण त्याग कर दूसरे का गुण-ग्रहण किया जाय वहाँ तद्गुण अलंकार होता है।

(४) कारण रहे कहीं, किन्तु कार्य हो दूसरी जगह।

(५) आँखों ने अपराध किया और तुम सताते हो मेरे प्राणों को—यह कौन सा विचार है।

(६) यदि आधार के बिना आधेय रहे तो विशेष अलंकार होता है।

(७) पृथ्वी पर निराधार सोने की लता चल रही है।

(८) जहाँ ज्ञापक कारण के द्वारा कार्य का समर्थन हो वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है।

(९) दो स्तन कमल हैं। अब प्रश्न उठता है कि ये खिलते क्यों नहीं ? सामने मुख-रूपी चन्द्रमा है। चन्द्रमा के रहते कमल कैसे खिल सकता है ?

विगसित नहिं किछु कारन रे
सोझाँ मुख-चन्द।

सन्देह[1]—

कनकलता[2] अरविन्दा
मदनाँ मौंजरि उगि गेल चन्दा।
केओ कहे सैवल छपला
केओ बोले नहिं नहि मेघें झँपला।
केओ बोले भमय भमरा
केओ बोल नहिं नहि चरय चकोरा।

श्लेष[3]—(१) अहँनिस जप हरि नाम तोहारी।

(२) अतयँ चलह सखि भीतर कुंज
जहाँ रह हरि महाबल पुंज।

अलंकारों की भरमार

पहले भी अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जिनमें अनेक अलंकारों का सकर या संसृष्टि है। नीचे भी कुछ ऐसे ही उदाहरण दिये जाते हैं—

---

(१) जहाँ निश्चय नहीं होने के कारण उपमेय का अनेक रूपों में वर्णन किया जाय और संशय बना ही रहे वहीं सन्देह अलंकार होता है।

(२) कनकलता (नायिका के शरीर) पर कमल (मुँह) है। उसपर बिखरे हुए बाल हैं। कोई कहता है सेवार से वह छिप गया है, कोई कहता है कि मेघ ने ढक लिया है, कोई कहते हैं भौंरे घूम रहे हैं और कोई बोलते हैं कि चकोर चलते हैं।

(३) जहाँ एक शब्द से दो अर्थ ज्ञात होते हैं वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

(४) हरिनाम के दो अर्थ हैं–१ ईश्वर का नाम। २ हे कृष्ण, तुम्हारा नाम

(५) हरि = सिंह और कृष्ण।

जुगल सैलसिम हिमकर देखल एक कमल दुइ जोति रे।
फुललि मधुरि फुल सिंदुरे लोटाएल पाँति बइसलि गजमोति रे।

इसमें अतिशयोक्ति, विरोधाभास और अनुप्रास अलङ्कार हैं।

एकावली के उदाहरण में विनोक्ति, अनुप्रास, और एकावली ा होना और विरोधाभास के उदाहरण में उपमा, रूपक और रोधाभास का संकर पहले बताया जा चुका है। विस्तार के ाय से अधिक उदाहरण नहीं दिये गये हैं।

विद्यापति का सम्प्रदाय

सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि साहित्यिक-दृष्टि से ाद्यापति के सम्प्रदाय पर विचार करना लाभदायक है या नहीं। ाद्यापति की विचार-धारा पर अनेक मत हैं—कोई विद्यापति ; पदों को कीर्तन का गाना मानते हैं, अनेक विद्वानों का मत है ह ये पद रहस्यवाद से परिपूर्ण हैं अर्थात् ये पद पति-रूप में श्वर की उपासना की ओर संकेत करते हैं और महामहोपाध्याय ाप्रसाद शास्त्री के सदृश विद्वानों की राय है कि ये शृङ्गार की विताएँ हैं। इस तरह तर्क-वितर्क की प्रचुरता ने इसे जटिल

(१) दो कुचों पर मुँह देखा। एक कमल अर्थात् मुँह की दो ज्योतियाँ दो आँखें) हैं फुली हुई माधुरी (फूल) सिन्दूर से ओतप्रोत है। उसके ऊपर ामुक्ता की पंक्ति (दाँत) है।

(२) १३४१ फसली के फाल्गुन की 'उदयन' नामक मासिक पत्रिका में ागोपालकृष्ण राय बतलाते हैं—"विद्यापति के हृदय में चिरकाल से विरह-दुःख राजमान था। उसी विरह से कातर होकर विद्यापति ने पदों की रचना की। ाके हृदय में विफल प्रेम का हाहाकार मच रहा था, एकाएक इन पदों को ाट कर उन्होंने सान्त्वना प्राप्त की।" लखिमा देवी के साथ अनुराग की कथा प्रवाद से अपने वक्तव्य का समर्थन किया है।

चना दिया है। विद्यापति शैव, शाक्त, वैष्णव या पञ्चदेवोपासक थे। इसके निर्णय होने पर ही इन पदों की सृष्टि कीर्तन के लिये हुई या नहीं इसका भी निर्णय निर्भर है। इसलिये संक्षेप में अनेक विद्वानों का मत प्रकट कर अपनी भी कुछ सुनाऊँगा।

विद्यापति के सम्प्रदाय में विभिन्न मत

(१) विद्यापति शाक्त थे

१९३६ के जनवरी मास की 'माधुरी' में पं० श्रीभागवत शुक्ल 'पाथोद' का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसका शीर्षक 'विद्यापति का निजी मत या सम्प्रदाय' था। आपने विद्वत्तापूर्ण समालोचना के अन्त में विद्यापति को शाक्त प्रमाणित किया है। आपके प्रमाण ये हैं—

(१) पुरुषपरीक्षा के मङ्गलाचरण में विद्यापति ने आदिशक्ति को शिव की पूज्या, विष्णु की ध्येया और ब्रह्मा की प्रणम्या बतलाया है। वह श्लोक नीचे उद्धृत किया जाता है—

ब्रह्मापि यान्नौति नुतः सुराणां यामर्चितोऽप्यर्चयतीन्दुमौलिः।
यां ध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुस्तामादिशक्तिं शिरसा प्रपद्ये ॥

(२) विद्यापति के पदों में "हरि-विरञ्चि-महेश शेखर-चुम्ब्यमानपदे" और "जगतिपालन-जननमारणरूप-कार्य-सहस्र कारण" शक्ति का विशेषण, "हरिहर ब्रह्म पुछइत भमे। एकओ न जान तुअ"—आदि शक्ति के वर्णन विद्यापति के शाक्त होने के साक्षी हैं।

(३) मिथिला के विद्वान् इस समय भी शाक्त होते हैं और उस समय भी शाक्त होते थे। इसलिये विद्यापति का शाक्त होना स्वाभाविक है।

आपका कहना है कि विद्यापति शाक्त होकर भी कट्टर शिव-

भक्त थे। 'भल हर भल हरि तुअ पद कला' आदि पदों से निर्विवाद सिद्ध होता है कि विष्णु के प्रति उनकी वैसी ही श्रद्धा थी जैसी शिव के प्रति।

(२) विद्यापति वैष्णव थे

चैतन्यदेव के वैष्णव धर्म में दो मत हैं। (१) 'गोस्वामी' मत (२) और सहजिया। 'गोस्वामी' मतवाले वेद मानते हैं, किन्तु वेद-पाठ नहीं करते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करते है, किन्तु श्रीमद्भागवत उन लोगों का सबसे प्रधान ग्रन्थ है। वे उसका दसवाँ और ग्यारहवाँ स्कन्ध बड़े चाव से पढ़ते हैं और उन स्कन्धों की अनेक प्रकार की व्याख्याएँ कर अपने मत का प्रचार करते हैं। सहजिया—मतावलम्बियों का संस्कृत पढ़ने की ओर विशेष ध्यान नहीं था। उनका मत था कि शरीर में सारा विश्वब्रह्माण्ड है और शरीर की सेवा करना ही परमार्थ है। वे स्त्री के प्रेम के द्वारा विश्वप्रेम में जाने की चेष्टा करते थे। उनकी राय में सात रसिक भक्तों में विद्यापति भी एक थे। जिस तरह प्रधान रसिक भक्त विल्वमङ्गल चिन्तामणि-नामक वेश्या के प्रेम में उन्मत्त होकर कृष्ण प्रेम में लीन हो गये उसी प्रकार विद्यापति पहले लखिमा देवी के प्रेम में लीन थे और पीछे उन्होंने कृष्ण-प्रेम में लीन होकर राधा-कृष्ण-पदों की रचना की।

माधव मभु परिनाम निरासा
तोहें जगतारन दीन दयामय
अतय तोहर विसवासा

डा० ग्रियर्सन का कहना है "They are nearly all Vaishnava hymn's or Bhajanas." अर्थात् करीव-करीब सब

---

(१) कीर्तिलता की प्रस्तावना महामहोपाध्याय डा० हरप्रसादशास्त्री द्वारा सम्पादित।

पद वैष्णव भजन हैं। बाबू ब्रजनन्दन सहाय विद्यापति को वैष्णव-कवि चूड़ामणि कहते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास 'हिन्दीभाषा और साहित्य' नामक पुस्तक में लिखते हैं—"परन्तु विद्यापति पर माध्व सम्प्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निम्बार्काचार्य के मतों का भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में और न माध्वमत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करनेवाली अनेक गोपियों में राधा भी हो सकती है, पर कृष्ण की चिर-प्रेयसी के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य की ही भाँति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधा-कृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णु स्वामी के ही समकालीन निम्बार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृन्दावन में निवास कर गोपालकृष्ण की भक्ति की थी। निम्बार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता के साथ राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर निवास करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है उसपर विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।"

प्रो० विमान विहारी मजुमदार एम्० ए०, पी० आर० एस० महोदय का एक लेख गत जुलाई मास के 'सर्चलाइट में प्रकाशित' हुआ था। आपने यह सिद्ध किया था कि विद्यापति वैष्णव थे। धनी होने पर भी दूसरों से नहीं लिखवाकर विद्यापति ने स्वयं भागवत की पुस्तक लिखी—यही इसका अखंड प्रमाण है। यह पुस्तक अभी तक दरभंगा राजपुस्तकालय में है।

(२) विद्यापति शैव या त्रिदेवोपासक थे

बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त तथा बाबू रामवृक्ष शर्मा 'वेनीपुरी' विद्यापति-पदावली की भूमिका में लिखते हैं कि विद्यापति शैव थे; कारण—

(१) विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर शैव थे और 'कपिलेश्वर' नामक शिव की उपासना के बाद विद्यापति का जन्म हुआ था।

(२) किंवदन्ती है कि विद्यापति की भक्ति से प्रसन्न होकर शिव (उगना या उदना नाम से प्रसिद्ध) विद्यापति के घर नौकर थे। भेद खुलने पर वे अदृश्य हो गये और उनके वियोग से व्याकुल होकर विद्यापति ने अनेक पदों की रचना[1] की।

(३) विद्यापति स्वयं भी कहते हैं—

आन चान गन हरि कमलासन सम परिहरि हम देवा।
भक्तवछल प्रभु बान महेसर जानि कयल तुअ सेवा॥

लोग चन्द्रमा, गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की उपासना करते हैं (मालूम पड़ता है कि चान की जगह कोई दूसरा शब्द होगा; क्योंकि चन्द्रमा की उपासना की प्रथा मिथिला में एकदम नहीं है), किन्तु हे बाण-नामक शिव, आपको भक्तों के प्रति दयालु जानकर मैं आप की ही सेवा करता हूँ। विद्यापति के गाँव के उत्तर भेड़वा-नामक गाँव में बाणेश्वर शिव हैं। सुना जाता है कि विद्यापति उन्हीं के उपासक थे।

इन सब प्रमाणों से मालूम होता है कि विद्यापति शैव थे, किन्तु विष्णु-द्रोही नहीं थे। विद्यापति स्वयं कहते हैं—

---

(१) उदना रे मोर कतय गेलाह, इत्यादि—

मल हरि मल हर मल तुश्र कला।
खन पितवसन खनहिं बघछला।२।
खन पंचानन खन भुज चारि
खन संकर खन देव मुरारि ।४।
खन गोकुल भय चरावथि गाय
खन मिखि माँगथि डमरु बजाय ।६।
खन गोविन्द भय लेथि महादान
खनहि भसम करु काँख ओ कान ।८।
एक सरीर लेल दुइ वास
खन वैकुण्ठ खनहिं कैलास ।१०।

विद्यापति ने जिस प्रकार दुर्गा का वर्णन किया है उससे मालूम होता है कि विद्यापति शाक्त भी थे। सारांश यह कि विद्यापति समान श्रद्धा से शिव, विष्णु और चण्डी की उपासना करते थे। इस समय के मैथिलों के सिर पर सफेद चन्दन, भस्म और सिन्दूर की टीका या लाल चन्दन देखकर भी अनुमान किया जा सकता है कि मैथिल त्रिदेवोपासक होते हैं। संभव है कि पहले भी यही प्रथा हो।

(३) विद्यापति पञ्चदेवोपासक थे

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की राय है कि विद्यापति स्मार्त थे और स्मृति के अनुसार सूर्य, गणपति, अग्नि (विष्णु), दुर्गा और शिव—इन पाँचों देवों की उपासना करते थे।

---

(१) 'काख वो कान' पाठ नगेन्द्रनाथ गुप्त, पुस्तक भण्डार और प्रो० जनार्दन की पुस्तकों में पाया जाता है 'वोकान' शब्दका कुछ अर्थ नहीं हो सकता है। संभव है कि वो और कान दो शब्द थे। लेखक के दोष से दोनों मिल गये हैं।

(४) विद्यापति एकेश्वरवादी थे

प्रोफेसर जनार्दन मिश्र एम्० ए०, पी० एच्० डी०, महाशय 'विद्यापति' नामक पुस्तिका में लिखते हैं—

"दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म निराकार, निर्गुण और चिन्मात्र है। वह माया और गुण का स्रष्टा है। दिक् और काल अनन्त और अप्रमेय मालूम पड़ते हैं। 'कहाँ से और कब से इनका आरम्भ हुआ तथा कहाँ और कब इनका अन्त होगा' इसकी कल्पनामात्र से ही मन के समान द्रुतगामी शक्ति भी थक जाती है; पर, ये भी उसी की सृष्टि हैं और उसीकी कृपा-कटाक्ष पर इनका अस्तित्व है। इसकी विभूतियाँ मूर्त-जगत् में धन, विद्या आदि नाना रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हीं दार्शनिक सिद्धान्तों का आश्रय लेकर पौराणिकों और कवियों ने ईश्वर के नाना रूपों की कल्पना की है; पर इन रूपों का अन्तःस्थ सिद्धान्त एक ही था। इसमें किसी प्रकार का विभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रधानता है। किसी-किसी उपपुराण में दुर्गा को भी प्रधानता दी गई है। सरसरी तौर से इन पर ही एक दृष्टि डाल लेने से हमारा प्रस्तुत उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

ब्रह्म की इच्छा से, माया और गुणों के संयोग से ही किसी आकृति का आरम्भ होता है। सत्व, रज और तम में एक-एक गुण को प्रधान मानकर ब्रह्मा विष्णु, महेश और दुर्गा के रूप में ब्रह्म की कल्पना की गई है—

संसार में सब से पहले महाकाश की नीलिमा हमें दिखलाई पड़ती है। इसलिये विष्णु की आकृति 'गगन सदृशम्' 'मेघवर्णम्'

इत्यादि कहा गया है। विष्णु शब्द का अर्थ है 'व्यापक'। सर्व-व्यापक आकाश के द्वारा इनकी व्यापकता का अनुमान किया जाता है। असंख्य रूपों से जगत् का संहार करनेवाला काल सहस्र-मुख शेप है। सीमा-रहित दिशा का बोधक पृथ्वी है। संसार की दो वड़ी शक्तियाँ सरस्वती (ज्ञान) और लक्ष्मी (धन) इनकी गृह-देवियाँ हैं।

शङ्कर के स्वरूप में कल्पना करते समय आदि ब्रह्म को देवाधि-देव, महादेव, इत्यादि कहा गया है। इनकी मूर्ति का अनुमान करना कठिन है, तो भी कहा जा सकता है कि ये व्योम-केश हैं। आकाश की नीलिमा ही इनके वाल है। दृश्य जगत् का सबसे सुन्दर रत्न चन्द्रमा इनका शिरोभूपण है; इसलिये ये चन्द्रशेखर हैं। इनकी शक्ति के सामने, भयङ्कर काल-रूपी सर्प की कोई गणना ही नहीं है। इसलिये वह कभी जटा में खेलता है, कभी कलाई पर झूलता है और कभी यज्ञोपवीत वन जाता है। अनन्त-विस्तार-वाला दिक् भी इतना तुच्छ है कि वह अच्छी तरह इनकी कमर भी नहीं ढँक सकता। वह इनकी कमर की साधारण लँगोटी (अम्बर) मात्र है। इसलिये ये दिगम्बर हैं। सती पार्वती महा शक्ति माया है। उनके विपय में कहा गया है कि—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदन्ततम्।

अर्थात् माता, नित्य, जन्म-मरण रहित है। संसार ही उनकी मूर्ति है। उन्हीं ने यह सृष्टि फैला रक्खी है। तम, रज और सत्व का आश्रय लेकर महाकाली, महालक्ष्मी, और महासरस्वती के रूप में उनका वर्णन किया गया है।

इन सिद्धान्तों का मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साकार के अनेक रोचक स्वरूपों के रहते हुए भी सनातन-हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है, तथा निराकार और साकार को अभिन्न

समझकर दोनों की समान श्रद्धा से उपासना करता है। वैदिक और पौराणिक साहित्य के अध्ययन करने से इस सिद्धान्त के विषय में कोई भ्रम नहीं रह जाता।

विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। इनकी वृत्ति पठन-पाठन थी। शास्त्र-पुराणादि की चर्चा का प्रसङ्ग सर्वदा उपस्थित रहता था। इसलिये आर्य-सिद्धान्तों के इन गूढ़ रहस्यों से ये पूर्णतः परिचित थे। यही कारण है कि हठ-धर्म ने इनके हृदय में स्थान नहीं पाया था। हिन्दू देवी-देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण उनके किसी विशेष रूप की ओर उनका भेद-भाव वा पक्षपात नहीं था। समान श्रद्धा से ये सबकी उपासना करते थे। शङ्कर और विष्णु के अभिन्न स्वरूप का इन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

मल हरि मल हर मल तुअ कला।
खन पित वसन खनहि बघछला इत्यादि······

उसी प्रकार मातृ-रूप में ब्रह्म का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती।
एकानेक सहस को धारिनि अरिरंगा पुरनन्ती।
कजल-रूप तुअ काली कहिअठ, उजल रूप तुअ बानी।
रवि-मण्डल परचंडा कहिये, गंगा कहिये पानी
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये, हर घर कहिये गौरी।
नारायण घर कमला कहिये के जान उतपति तोरी।

इन अवतरणों से विद्यापति के धर्म-भाव का स्पष्टी-करण हो जाता है।

विद्यापति के कुछ आलोचकों ने इन्हें पञ्चदेवयाजी सिद्ध

करने की चेष्टा की है। मैथिल-समाज की आन्तरिक अवस्था पर एक दृष्टि डालने से उनका यह भ्रम भी दूर हो जायगा।

प्राचीन काल से ही मिथिला संस्कृत पठन-पाठन का केन्द्र रही। इसलिये विशुद्ध वैदिक धर्म का सच्चा स्वरूप यहाँ सर्वदा वर्त्तमान रहा। विद्वत्समाज रहने के कारण वैदिक-धर्म के सम्बन्ध में उन्हें भ्रम नहीं होता था और न अपने पथ से लोगों को विरक्ति ही होती थी। इसलिये प्राचीन काल से ही धर्म का एक निश्चित-स्वरूप अबाध-गति से अपना कार्य कर रहा है। इसमें सम्प्रदाय वा फिरका कभी पैदा न हुआ।

भारत के जिस प्रान्त की ऐसी अवस्था न थी वहाँ किसी विशेषकाल में कोई समर्थ उत्पन्न हुआ, और ईश्वर के जिस रूप की ओर उसकी रुचि हुई उसी को ग्रहण कर उसने प्रचार करना आरम्भ किया। इससे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की प्रधानता रही, पर मिथिला में ऐसा कभी नहीं हुआ। अपनी ठोस विद्या-बुद्धि के बल से यह अबाध मन्थर गति से अपना कार्य करता रहा। यही कारण है कि मैथिल समाज में देव-देवियों के भेद से किसी प्रकार की कट्टरता का प्रचार नहीं हुआ, और इस समय भी इनकी यही मनोवृत्ति है। किसी मैथिल को पूजा करते हुए देखकर यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है। जिस समय एक मैथिल पूजा करने बैठता है उसके सामने एक सिंहासन रहता है, जिसपर शालग्राम, नर्मदेश्वर, गणेश, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ रक्खी रहती हैं। निकट ही चाँदी का बना हुआ गौरीपट्ट नर्मदेश्वर की पूजा के लिये पड़ा रहता है। मृत्तिका का पार्थिव बनाया जाता है, गौरी बनाई जाती हैं और समान श्रद्धा से सबकी पूजा होती है। यह उदारता

मैथिल-समाज की विशेषता है और ऐसी धार्मिक भावनाओं को वे सनातनधर्म कहा करते हैं।

इसके विरुद्ध जिस-किसी धार्मिक सिद्धान्त का प्रचार किया गया है, उसका प्रभाव उनपर कुछ भी नहीं हुआ है। प्राचीन काल में, शैव और वैष्णव धर्म की कट्टरता यहाँ जड़ न जमा सकी। वर्त्तमान समय में आर्य-समाज तथा ब्राह्मसमाज ने भारत में धार्मिक क्रान्ति फैलाने की चेष्टा की और जहाँ-तहाँ वे सफल भी हुए; किन्तु मिथिला और मैथिल-समाज में उनका अस्तित्व नाम मात्र को भी नहीं है। किसी प्रान्त में घोर आन्दोलन के कारण, जब कभी कोई धार्मिक भाव, छलकता हुआ इस समाज में आकर गिरा तो उसकी गति जल की रेखा के समान हुई। विद्यापति इस मैथिल मनोवृत्ति की प्रतिमूर्त्ति थे। देवताओं के सभी स्वरूप के लिये उनका हृदय-द्वार उन्मुक्त था।"

समालोचना

पहले प्रमाण के साथ यह बतलाया जा चुका है कि विद्यापति पुराण-साहित्य के विशेषज्ञ थे और उन्होंने अनेक स्मृतिग्रन्थों की भी रचना की थी।

पुराणों के अनुसार पञ्च-देवों (सूर्य, गणेश, दुर्गा, अग्नि और शिव) की पूजा करने के बाद ही इष्ट-देव की पूजा करने का अधिकार प्राप्त होता है। यथा—

गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम्।
सम्पूज्य देवषट्कञ्च सोऽधिकारी च पूजने॥

ब्रह्मवैवर्त, प्रकृतिखण्ड।

उसी पुराण में उसका कारण भी बतलाया गया है।

गणेशं विघ्ननाशाय, निष्पापाय (आरोग्याय) दिवाकरम्।
शिवं ज्ञानाय ज्ञानेशं, शिवाञ्च बुद्धिवृद्धये॥

संभव है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के बाद हमें ज्ञात हो जाय कि पञ्चदेवों की पूजा क्यों की जाती है और उससे क्या प्रत्यक्ष लाभ है। सूर्य की आराधना की उपयोगिता की ओर वैज्ञानिकों की दृष्टि अब गई है। व्यायामों में सूर्यनमस्कार को एक प्रधान स्थान मिला है। जल-चिकित्सा के चिकित्सकों की दृष्टि में सूर्यस्नान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो चुका है। दिल्ली के डा० अग्रवाल नेत्रचिकित्सा के विशेषज्ञ हैं। १९३५ ई० के फरवरी मास में पटना विश्वविद्यालय के ह्वीलर सिनेट हौल में आपका व्याख्यान हुआ था, आपने चश्मा व्यवहार करनेवाले सज्जनों से कहा था कि वे चश्मा का व्यवहार नहीं कर सूर्य की किरणों का व्यवहार करें। उन्होंने अनेक सुलभ उपाय बतलाये और अनेक सरल विधियों का वर्णन किया। यह केवल लम्बा चौड़ा व्याख्यान ही नहीं था। उन्होंने पुराने नेत्ररोगी पर अपनी सूर्य-चिकित्सा का गुण दिखला कर उसकी उपयोगिता भी सिद्ध कर दी। पटना हाईकोर्ट के बैरिस्टर श्रीमान् सच्चिदानन्द सिंहजी लगातार १६, १७ बरसों से चश्मा का व्यवहार करते आये हैं। आपने बतलाया कि सूर्यचिकित्सा से आपको बड़ा लाभ हुआ है, इस समय आप चश्मा के बिना भी पढ़ सकते हैं।

इसी प्रकार यह भी निर्विवाद है कि शक्ति विभिन्न रूपों में हमें दिखलाई पड़ती है, किन्तु उस जगद्व्यापी महती प्राकृतिक-शक्ति से संसार की उत्पत्ति हुई है और उसी शक्ति (energy) पर संसार निर्भर है। हमलोग (तान्त्रिक या वैदिक) दुर्गा, गायत्री, काली, तारा आदि के रूप में उसी शक्ति की उपासना करते हैं।

शक्ति के विषय में बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त के द्वारा दूसरी फरवरी १९३५ को दिये गये व्याख्यान के कुछ अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

"A fitting conclusion of a tribute of appreciation however inadequate to the poet will be the recital of his invocation to the goddess of energy, an ode to the great Sublimity—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती
एकानेक सहस को धारिनि अरि-रंगा पुरनन्ती।
कज्जलरूप तुअ काली कहिअो, उजल रूप तुअ बानी
रविमण्डल परचण्डा कहिये, गङ्गा कहिये पानी
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये, हरघर कहिये गौरी
नारायण घर कमला कहिये, के जान उतपति तोरी।

Manifest thyself, goddess, with glorious thick tresses manifest thyself. Thou art many in one, containing thousands and filling the battlefield of the enemy. Thy dark from is known as Kali, thy bright shape is Saraswati.

In the mimbus of the sun, thou art called Prachanda, the fierce, and as water thou art known as the Ganges. In the house of Brahma, thou art called Brahmani and Gauri in the house of Shiva. In the house of Narayana, they call thee. Kamala, but who knows thy origin or whence thou comest.

The allusion in the second line is the allegory in which the Goddess, Kali in the form of Chandika destroyed the demon leader, Shumbha and the demon army. It is related in Markandeya chandi that armed warriors by the thousands issued from the shape of the goddess, as Minerva sprang full-armed from the brow of jupiter and slaughtered the demon army. Afterwards as this phantom army was disappearing whence it had come, the goddess, who

was about to slay the demon chief with her own hands, said to him 'O wicked one, I am alone in this universe; who is second one beside me.'' "दुष्ट, एकैव हि जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" । This is the explanation of the whole poem. Shakti or energy is multi-manifest but is one without a second in essence. The antithesis between the dark and bright forms does not imply diffrent entities. The prismatic hues of the rain bow, visibly different, proceeded from a single source. Shut out the sun's rays and the rain-bow with its variegated colours will disappear. Notable skill has been displayed in the arrangement of the various manifestations of the goddess, Shakti. Each one is antithetic of the other and so the group is divided two by two. To begin with, there are the two forms, one dark and the other bright, one destroying evils and the other the source of all artistic creation. Next follow the fierce energy to be found in fire and the sun side by side with the gentle spirit that moves on the waters. We next find two Shaktis respectively behind Brahma, the Creator, and the Shiva, the Destroyer. Finally there is Shakti behind Narayana, the nourisher and the sustainer. Different peoples in different parts of the world realised for themselves either independently or in subtle spiritual sympathy with one another, the existence of a supreme and the first Creator of the Universe, who set the wheel of the law in motion and they have called him God, the Father. In the progressive and the latter stages of spiritual thought, Aryans conceived another and a gentler phase of the unresting activity in Nature

and realised by intuition of faith what has now been established by the patient enquiry of Science, the existence of a single dominant energy, out of which all things proceed and which manifests itself in many conflicting, mutually antegonistic forms. on this foundation rest the allegories, some full of beauty and others full of dread of the many named and multiformed goddess, who represents the female principal in the law of Creation and to whom millions in India bow down as god, the mother."

From

A lecture by Babu N. N. Gupta in the Patna Senate Hall on 2-2-35.

संभव है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के बाद पञ्चदेवों में और-और देवों की पूजा की उपयोगिता भी सिद्ध हो जाय।

मिथिला में इस समय भी प्रथा है कि किसी तरह की पूजा हो, शैव, वैष्णव या शाक्त कोई भी पूजक हों, पहले पञ्चदेवता की पूजा कर ली जाती है। संभव है, विद्यापति के समय में भी यही प्रथा हो। हर एक देव की पूजा में आरोग्य, विघ्न का नाश, बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। इनकी प्राप्ति के लिये इन पाँचों देवों की पूजा पहले की जाती है। ये (पाँच) किसी के इष्ट-देव नहीं होते थे और न हैं। गुरु का सम्मान इसलिये किया जाता है कि उनसे ज्ञान प्राप्त होता है और उपासना के रहस्य ज्ञात होते हैं। यही कारण है कि इष्टदेव की तरह गुरु का सम्मान करना बतलाया गया है और यही कारण है कि इष्टदेव की पूजा के पहले इन पाँच देवों की पूजा की जाती है। मुझे जहाँ तक मालूम है किसी भक्त या कवि ने किसी ग्रन्थ में

स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बतलाया है कि आप के उपास्य पाँचो देव हैं। इसलिये विद्यापति को पञ्चदेवतोपासक मानना तो मुझे एकदम नहीं जँचता है।

विद्यापति पुराणों के विशेषज्ञ थे। इसलिये पुराणों में शिव और विष्णु तथा लक्ष्मी और पार्वती में कैसा सम्बन्ध था, इस विषय पर कुछ बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पुराणों में विष्णु और शिव को एक बतलाया है और उसी प्रकार लक्ष्मी और पार्वती भी एक ही देवी के दो रूप मानी गई हैं

पार्वत्युवाच

ये त्वां[1] निन्दन्ति मद्भक्ताः त्वद्भक्ताश्चापि मामपि।
कुम्भीपाके च पच्यन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ।

ब्रह्मवैवर्त, कृष्णखण्ड

विष्णुरुवाच

अतस्त्वं[2] च विधाता च तथाहमपि न पृथक्।

कालिकापुराण

रुद्र उवाच

अहं ध्यायामि[3] तं विष्णुं परमात्मानमीश्वरम्।

गरुड़पुराण द्वितीय अध्याय

देवीभागवत में बतलाया गया है विष्णु के शाप से लक्ष्मी घोड़ी हो गई और शिव और विष्णु में अभेद बतानेवाले विष्णु के उपदेश से लक्ष्मी ने शिव की उपासना की। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के गणेश खण्ड में शिव हरिमन्त्र जपते बतलाये गये हैं। इस तरह

---

(१) जो मेरे भक्त तुम्हारी निन्दा करते हैं और तुम्हारे भक्त मेरी निन्दा करते हैं वे जब तक चन्द्रमा और सूर्य का अस्तित्व रहता है तबतक कुम्भीपाक में कष्ट भोगते हैं।

(२) इसलिये तुम, ब्रह्मा और हम अलग नहीं हैं अर्थात् एक हैं।

(३) मैं (शिव) परमात्मा और प्रभु विष्णु का ध्यान करता हूँ।

पुराणों में अनेक वचन हैं और अनेक कथाएँ हैं जिनसे एक ही देव के शिव और विष्णु ये दो रूप हैं—यह प्रमाणित होता है। उन दोनों में ऐक्य भाव इतना प्रबल हो उठा कि दो रूप मानना भी अच्छा नहीं मालूम होने लगा। दोनों का एक रूप मानकर उपासना करने की ओर पुराणों की प्रवृत्ति हुई। वामन पुराण के ५९ वें अध्याय में विष्णु और शिव का एक रूप हरिहर मान लिया गया और उसी पुराण के ६४ वें अध्याय में 'हरिहर' के उपासक निरामय-नामक एक गण की सृष्टि हुई। देवी-भागवत में इस हरि-हर पूजा का विशेष फल भी बतला दिया गया और साथ-साथ एक नवीनता भी लाई गई। विष्णु के रूप में शिव की पूजा और शिव के रूप में विष्णु की पूजा की अनुमति मिली।

अथवा विष्णुरूपेण पूजयेच्छङ्करं सदा
शङ्करं वामभागस्थं सर्वकाममवाप्नुयात्

देवीपुराण १२ अध्याय

"इस तरह की उपासना की उत्पत्ति कहाँ हुई" इसके निर्णय में बराह पुराण से कुछ सहायता मिल सकती है। बराह पुराण में सोनपुर (B. N. W. Ry Station) के पास इस नये देव का नया तीर्थ भी बनाया गया। पहले यह हरिक्षेत्र था, कुछ दिनों तक नन्दी-सहित शिवजी के रहने के कारण इसका नाम हरिहर-क्षेत्र हो गया जो स्थान विद्यापति के घर से दूर नहीं था। मिथिला ही संस्कृत विद्या और उपासना का केन्द्र थी। इसलिये सम्भव है कि मिथिला के प्रभाव से उस स्थान की सृष्टि हुई या उस स्थान से मिथिला प्रभावान्वित हुई। जो कुछ हो, मिथिला में दोनों एक माने जाते थे—इसमें संदेह नहीं।

---

१ या विष्णु के रूप में सर्वदा शिव की पूजा करनी चाहिये, और शंकर को बाईं ओर रखना चाहिये। इस तरह सब मनोरथ पूर्ण होते हैं।

विद्यापति और हरि-हर की एकता

"विष्णु और शिव एक हैं" यह पौराणिक सिद्धान्त ही विद्यापति का सिद्धान्त था। गङ्गावाक्यावली और विभागसार में विद्यापति ने यह स्पष्ट शब्दों में वताया है।

स्वस्त्यस्तु वस्तुहिनरश्मिभृतः प्रसादादेकं वपुः स्थितवतो हरिणा समेत्य।

'गङ्गावाक्यावली' और 'विष्णुपूजा-कल्पलता'

इसमें शिव विष्णु के साथ मिलकर एक रूप धारण करनेवाले वतलाये गये हैं। विभागसार में विष्णु और शिव में विवाद खड़ा किया गया है। दोनों ही गङ्गा को 'अपनी' कहकर अपनाते हैं और ब्रह्मा को साक्षी मानते हैं। ब्रह्माजी हँस देते हैं, झट इन दोनों को आत्मज्ञान हो जाता है, वे समझ जाते हैं कि हम दोनों एक हैं, वस, इन दोनों के विवाद का अन्त हो जाता है।

गङ्गा मेऽसौ प्रथय कथमसौ वैष्णवीति प्रसिद्धेः
किन्नाम्ना मेस्ति भोगः स तु भवतु तथा भेदभाजः प्रमाणम्।
भिन्नोऽहं कोऽत्र साक्षी विधिरिति विधिना सस्मितं वीक्ष्यमाणौ
पायास्तां निर्विवादौ सपदि हरिहरौ व्यङ्ग्यमात्रोत्तराक्षः।

'विभाग-सार'

विष्णुं[1] केऽपि निवेदयन्ति गिरिजानाथश्च केचित्तथा
ब्रह्माणं प्रभुमुल्लपन्ति भुवने नाम्नैव भिन्नस्महः।
निर्णीतम्मुनिभिः सतर्कमतिभिश्चेद्विश्वमेकेश्वरं
तच्चिन्तापरमानसे त्वयि पुनर्भिन्ना कुतो भावना।

'पुरुषपरीक्षा'

---

(१) कोई विष्णु को मानते हैं, कोई शिव और कोई ब्रह्मा को मानते हैं। इस संसार में केवल एक ईश्वर है। मुनियों ने तर्क-वितर्क कर यह निश्चय कर डाला है। फिर तुम चिन्तित क्यों हो ? यह भेदभाव क्यों ?

पदावली में भी दोनों के नाम साथ-साथ पाये जाते हैं—जैसे 'हरि-हरि शिव-शिव तावे जाइअ जिव, जावे न उपजु सिनेह', आदि।

अब देखना है कि दोनों को एक मान कर भी विद्यापति किस रूप में उपासना करते थे,—शिव के रूप में या विष्णु के रूप में।

विद्यापति शैव थे

(१) उपर्युक्त गङ्गावाक्यावली के श्लोक में दोनों को एक मान कर भी शिव की ही कृपा की अभ्यर्थना की गई है। विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। पाणिनि के 'द्वन्द्वे घि' सूत्र के अनुसार "हरहरि" शब्द नहीं हो सकता है। इसलिए "हरिहरौ" शब्द का व्यवहार किया है न कि 'हरहरी'।

(२) उदना की किंवदन्ती प्रसिद्ध है। विद्यापति के द्वारा स्थापित बाणेश्वर शिव वर्तमान हैं।

(३) विद्यापति के पूर्वज शैव थे। किंवदन्ती है कि उनके पिता, गणपति ठाकुर ने 'कपिलेश्वर' नामक शिव की उपासना कर विद्यापति के सदृश पुत्र-रत्न को प्राप्त किया था। विद्यापति के अन्य पूर्वज भी शैव थे। उदाहरण के रूप में चण्डेश्वर का एक श्लोक मैं नीचे उद्धृत करता हूँ।

विश्वेषां स्थितिहेतवे यदगिलत्तत्कालकूटं पुरा
तज्ज्वालोपशमाय मूर्धनि धृता गङ्गाऽपि वाराम्भवे।
उत्तंसेऽपि कृते तुषारकिरणे तप्तान्तरः पातु वः
शर्वाणीमुखपङ्कजाधरसुधापानेन सुस्थो हरः।

'कृत्यचिन्तामणि'

शिवस्य भेदं यो विष्णो र्न करोति महामतिः।
शिवभक्तः स विज्ञेयोमहापाशुपतश्च सः।

चण्डेश्वर-कृत "शैवमानसोल्लास"

अर्थात् संसार की रक्षा के लिये विष निगल गये, उसकी ज्वाला दूर करने के लिये गङ्गा को सिर पर रखा, हिमकर चन्द्र के शिरोभूषण होने पर भी अन्तर्दाह दूर नहीं हुआ। इसलिये गौरी का अधरामृत पीकर शिव ने शान्ति प्राप्त की। ऐसे स्वस्थ शिव हमारी रक्षा करें।

—'कृत्यचिन्तामणि'

जो महामति शिव और विष्णु में भेदभाव नहीं मानते हैं वे शिवभक्त और महापाशुपत हैं।

'शैवमानसोल्लास'

(४) विद्यापति के आश्रयदाता राजा शैव थे। यथा—

(१) "वाग्वत्यां भवसिंहदेवनृपतिस्त्यक्त्वा शिवाग्रे वपुः" पुरुषपरीक्षा

(२) 'समाचरितचन्द्रचूड़चरणसेव' वीरसिंह का विशेषण कीर्तिलता

(३) 'चन्द्रचूड़-प्रतिदिन-समाराधनैकाग्रचित्ता' विश्वासदेवी का विशेषण शैवसर्वस्वसार

(४) शिवभक्तिपरायणमहाराजाधिराजश्रीमद्वीरसिंह" सेतुदर्पणी

(५) "भवभक्तिपरायण-श्रीहरिनारायणसमलङ्कृत-महाराजाधिराज श्रीमद्भैरवसिंह" रुचिपत्युपाध्यायकृतानर्घराघवटीका।

(६) भवानीभवभक्तिमात्रनपरायण-रूपनारायण-महाराजाधिराज श्रीशिवसिंहदेवपादाः" ताम्रशासनपत्र

(५) विद्यापति की चिता पर अभी तक शिवमन्दिर विद्यमान है। वैष्णवों की चिता पर शिव की स्थापना, शिवलिङ्ग की उत्पत्ति होना-आदि कहीं भी नहीं सुना जाता है।

(६) विद्यापति ने पुरुष-परीक्षा में धर्म का मार्मिक विवेचन किया है, किन्तु जब उपासन की बारी आई तब संसार से विरक्त रत्नाङ्गद राजा से शिव की उपासना की प्रतिज्ञा करवाई है।

इसके अतिरिक्त वहाँ (तात्त्विक कथा में) सब देवों को एक मानकर भी उदाहरण के रूप में बोधिनामक कायस्थ की कथा कहते समय उनको भी 'शिवपूजा-परायणः' बतलाया है।

रत्नाङ्गद की कथा का सारांश नीचे उद्धृत किया जाता है।

राजा रत्नाङ्गद अन्यायी और नास्तिक थे। इसलिए वे राज्य-च्युत कर दिये गये। वन में जाकर लवङ्गिका-नामक वेश्या के साथ रहने लगे। जाड़ा आया, राजा के पास एक ही कम्बल बच गया था। उससे दोनों का गुजारा नहीं चलता था। लवङ्गिका से यह कष्ट नहीं सहा गया, उसने राजा को बहुत धिक्कारा। अन्त में राजा ने चोरी कर कम्बल लाने का निश्चय किया। रात में सेंध काट कर, वहीं अपना कम्बल रख रत्नाङ्गद घर में घुसे और ज्योंही ब्राह्मण का कम्बल खींचने लगे त्योंही उसकी नींद टूट गई, सबके सब जाग गये। रत्नाङ्गद भागे। परिणाम यह हुआ कि अपना कम्बल भी वहीं छूट गया। उनके ऊपर इस घटना

---

१ राजा और मुनि का संवाद—

राजा—मीमांसक, नैयायिक-आदि का विरुद्ध मत देख धर्म के विषय में सन्देह होता है।

मुनि—वैदिक धर्म सबसे श्रेष्ठ है। आप अपने कुल-धर्म का अनुसरण करें।

राजा—उसमें कोई विष्णु को, कोई शिव को मानते हैं। इसलिये मेरा संशय दूर नहीं होता है।

मुनि—विष्णु, ब्रह्मा या शिव कुछ भी नाम हो, ईश्वर एक है। सबमें अभेद बुद्धि कर ईश्वर की उपासना कीजिये।

इसके बाद बोधि-नामक शिवपूजापरायण मैथिल कायस्थ की कथा कह मुनि ने अपने वक्तव्य का समर्थन किया है। —पुरुष-परीक्षा की तात्त्विक कथा।

का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने समझ लिया कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की चेष्टा निरी मूर्खता है। ईश्वर जो चाहते हैं, वही होता है। इसलिये ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार विद्यापति जब विरक्त रत्नाङ्गद को तपस्या करने के लिये ले जाते हैं तब उनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं।

"अद्यारभ्य ततश्चराचरगुरोः शम्भोः पदाम्भोरुहे
चेतः षट्पदयन् तमो विरमयन्नेष्यामि शेषं वयः"

अर्थात्–आज से लेकर स्थावर और जंगम (संसार) के पूजनीय शिवजी के चरणरूपी कमल में अपने मन को भौंरा बनाता हुआ, और अज्ञान-रूपी अन्धकार दूर करता हुआ, मैं अवशिष्ट जीवन विताऊँगा।

(७) विद्यापति-रचित महेशबानी प्रसिद्ध है। शिव-मन्दिरों में शिवरात्रि-आदि शिवपर्वों के अवसर पर ये पद गाये जाते हैं। इनमें शिव की प्रार्थना, पार्वती-विवाह, विवाह के समय मेनका की उदासीनता, शिव के लिये गौरी की उत्सुकता—आदि का वर्णन है।

उपर्युक्त विवरणों से विद्यापति के शैव होने में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता है। सब देवों को एक बताकर भी जब उपासना की बारी आती है तब शिव की उपासना का निर्देश किया जाता है। इस सम्बन्ध में मुझे एक संस्कृत श्लोक याद आता है।

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
रमेश्वरे वा जगदन्तरात्मनि
तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।

अर्थात् विष्णु और शिव में मुझे जरा भी भेदभाव नहीं है, किन्तु मेरे हृदय में भक्ति का उद्रेक शिवजी के रूप में ही होता है। यही बात विद्यापति के साथ भी थी।

यही कारण है कि संस्कृत में विद्यापति ने शिवपूजा के विषय में 'शैवसर्वस्वसार', शिवजटावलम्बिनी गङ्गा के विषय में "गङ्गावाक्यावली" और शिव की अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा की पूजा के विषय में 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी' लिखी, किन्तु विष्णु की आराधना पर किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की।

विद्यापति के समय में मिथिला में तान्त्रिक उपासना की प्रबलता थी। विद्यापति के ऊपर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सम्भव है कि जबतक विद्यापति अपनी उपासना का रूप स्थिर नहीं कर सके थे तबतक शक्ति के उपासक थे और ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी शक्ति की उपासना करवाते थे। उस समय भारतवर्ष में विशिष्टाद्वैत मत का भी पूर्ण प्रचार हो चुका था। उसके अनुसार विष्णु-लक्ष्मी, राधा-कृष्ण आदि युगल मूर्ति की उपासना की धारा बह चली थी। विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिवजी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावान्वित होने के कारण केवल शिवजी को अपना इष्टदेव नहीं रखकर युगलमूर्ति 'गौरीशङ्कर' को अपना इष्टदेव बनाया। यह मेरा निरा अनुमान ही नहीं है। विद्यापति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है।

"लोढ़ब कुसुम तोड़ब बेलपात
पूजब सदाशिव गौरि क सात"

विद्यापति ने किसी दूसरे पद में, किसी दूसरे देव की प्रार्थना में स्पष्ट शब्दों में पूजा या उपासना शब्द का व्यवहार नहीं किया है। विद्यापति के उपास्य देव का चित्र विद्यापति के शब्दों में ही नीचे अंकित किया जाता है।

---

(१) पुरुष-परीक्षा का मङ्गलाचरण श्लोक पहले उद्धृत किया जा चुका है।

जय जय शङ्कर, जय त्रिपुरारि
जय अध पुरुस, जयति अध नारि ।१।
आध धवल तनु, आधा गोरा
आध सहज कुच, आध कटोरा ।२।
आध हड़माल, आध गजमोती
आध चानन सोहे, आध विभूती ।३।
आध चेतन मति, आधा भोरा ।
आध पटोर, आध मुंज डोरा ।४।
आध जोग, आध भोगविलासा ।
आध पिधान, आध नगवासा ।५।
आध चान, आध सिंदुरसोभा ।
आध विरूप, आध जगलोभा ।६।
भने कविरतन, विधाता जाने ।
दुइ कपल बाँटल एक पराने ।७।

दिक्पाताः शिवयोरभिन्नवपुषोर्विघ्नं विनिघ्नन्तु वः। 'मणिमञ्जरी'

हिन्दी साहित्य का इतिहास भी मेरा ही साथ दे रहा है।

"विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिये।"

—पं० रामचन्द्रशुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ६०

प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापक बाबूराम सक्सेना एम्० ए० कीर्तिलता की भूमिका में लिखते हैं :—

"विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि वह बड़े शृङ्गारी कवि थे……………। इन पदों को राधा-कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पदपदार्थ के प्रति अन्याय है।"

बताया जा चुका है कि शैवसर्वस्वसार लिखने के पहले विद्यापति ने पुराणों के वचनों का संग्रह किया था जिसका नाम "शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराण-संग्रह" है। उस समय विद्यापति को सब पुराणों पर सूक्ष्म दृष्टि डालनी पड़ी होगी। सम्भव है कि इसी उद्देश्य से अनेक लेखकों के होते हुए भी अन्यान्य पुराणों के संग्रह में उनके व्यस्त होने के कारण विद्यापति को अपने हाथ से श्रीमद्भागवत लिखना पड़ा।

हाल ही में मुसलमानों की एक धार्मिक पत्रिका में एक मुसलमान विद्वान् ने यह सिद्ध किया था कि भविष्य पुराण में महमद का वर्णन है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ में भी मुसलमान धर्मसुधारक का नाम और वर्णन मुसलमान जाति के लिये गौरव की बात है उसी प्रकार वैष्णव-ग्रन्थ, श्रीमद्भागवत में भी यदि शिवजी का वर्णन या उनकी उपासना का वर्णन हो तो शैवों के लिये वह गौरव की बात होगी और शिवपुराण के वचनों की अपेक्षा श्रीमद्भागवत के वचनों का और भी अधिक महत्त्व होगा—इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर विद्यापति का श्रीमद्भागवत लिखना भी युक्तिसङ्गत मालूम पड़ता है।

पहले बताया जा चुका है कि जिस प्रकार राम के अनन्य-भक्त होने पर भी गोस्वामी तुलसीदासजी ने लोक-रीति के अनुसार अपने ग्रंथों में गणेशवन्दना की है उसी प्रकार शैव होने पर भी विद्यापति ने लोक-रीति के अनुसार ग्रंथों के आरम्भ में गणेश, विष्णु, गङ्गा आदि देवों की भी वन्दना की।

उपर्युक्त प्रमाणों से विद्यापति के गौरी-शङ्कर के उपासक होने में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता है।

(१) इसका विशद वर्णन 'विद्यापति का पाण्डित्य' शीर्षक में पहले हो चुका है।

विद्यापति की विचारधारा

इस विषय में प्रधानतः दो मत हैं। एक मत यह है कि विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद अन्योक्ति एवम् रहस्योक्ति से परिपूर्ण हैं। कृष्ण का अर्थ है परमात्मा, राधा का अर्थ है जीवात्मा और दूती का अर्थ है मार्ग-प्रदर्शक गुरु। अर्थात् गुरु की सहायता से जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त ईश्वर को पति और अपने को पत्नी समझकर पति के रूप में ईश्वर की उपासना करता है। हिन्दीसाहित्य में इसी का नाम माधुर्य भाव है। इस प्रकार उपासना करनेवालों का समाज सखीसमाज कहलाता है।

इस मत के नेता डा० ग्रिअर्सन हैं। मैथिली क्रेस्टोमेथी की भूमिका में आप लिखते हैं :—

It now remains to consider the matter of Vidyapati's poems. They are nearly all Vaishnava hymns or bhajanas, and as such belong to a class well known to students of modern Indian literature. They cannot be judged by European rules of taste, and must not be condemned too hastily as using the language of the brothel to describe the soul's yearnings after God. Now that the Aphorisms of

(१) वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥ 'उज्ज्वल नीलमणि

Saundilya have been given in an English dress by Mr. Cowell, no one pleads ignorance of mysteries of the Indian doctrine of faith. "God is love" is alike the motto of the Eastern and of the Western worlds, while the form of Love proposed is essentially different. The people of a colder Western clime, have contented themselves with comparing the inaffable love of God to that of a father to his children, while the warmer climes of the tropics have led to the seekers after truth to compare the love of the worshipper for the worshipped to that of supreme mistress Radha for her supreme Lord Krishna. It is true that it is hard for a Western mind to grasp the idea, but let us not therefore hastily condemn it; the glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu with as little of the baser part of human sensuousness, as the song of Solomon is by the christian priest.

Introduction to a chrestomathy of the Maithili of language, Page 36 (Extra Number to Journal Asiatic Society Bengal Part I, 1882)

अर्थात् अब विद्यापति की कविता पर विचार करना है। वे लगभग सब के सब वैष्णव पद या भजन हैं। इसलिये वे साहित्य के ऐसे अङ्ग हैं जिनसे भारतीय नवीन साहित्य के सब छात्र परिचित हैं। यूरोप की रुचि के अनुसार उसपर विचार नहीं किया जा सकता है और शीघ्रता में उसपर यह दोष नहीं लगाना चाहिये

कि आत्मा और परमात्मा का प्रेम-वर्णन करने के लिये व्यभि-चारियों की भाषा का प्रयोग किया गया है। कोवेल साहेब ने जब शाण्डिल्यसूत्र का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित कर दिया है तब कोई भी नहीं कह सकता है कि मैं भारतीय भक्तिस्वरूप नहीं जानता। "ईश्वर प्रेममय हैं" यह पूर्व और पश्चिम दोनों देशों का सिद्धान्त है। परन्तु इनके रूप में वास्तविक भेद है। पश्चिम के ठण्ढे देश के निवासी ईश्वर-प्रेम को पिता और पुत्र के अटूट प्रेम का रूप देकर सन्तुष्ट रहे; किन्तु गर्म देश के सत्यान्वेषियों ने पूजक और पूज्य के प्रेम को देवी राधा और भगवान् कृष्ण का रूप दिया है। यह सच है कि पाश्चात्य चित्तवृत्ति के लिये यह समझना कठिन है, पर इसलिये इसे झटपट बुरा कह देना ठीक नहीं है। जिस तरह सोलोमन के गीतों को क्रिस्तान पादड़ी पढ़ा करते हैं उसी प्रकार भक्त हिन्दू विद्यापति के चमकीले पदों को पढ़ते हैं और जरा भी काम-वासना का अनुभव नहीं करते हैं।"

ग्रिअर्सन साहब के इसी कथन के अनुसार बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने २-२-१५ को पटना सिनेट हौल के अपने व्याख्यान में कहा था कि विद्यापति की राधा-कृष्ण-पदावली का सारांश यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रहे हैं और एकान्त स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिन्तित हैं। संसार ईश-प्रेम से परिचित नहीं है। इसलिये वह भक्त के मार्ग में अड़चन डालता है। यह देख ईश्वरान्वेषी भक्त संसार छोड़ शान्तिमय वन में जाकर एकान्त स्थान में निवास करता है। इसी विषय का वर्णन विद्यापति ने दूसरे शब्दों में किया है। मूसलधार वृष्टि हो रही है, और भयानक शब्द करता हुआ वज्र गिर रहा है, किन्तु राधा को जरा भी भय नहीं। वह साँपों को पैरों से कुचलती हुई अपने प्रेमी श्रीकृष्ण के घर पहुँच जाती है।

रयनि काजर बम, भीम भुअङ्गम
कुलिस पड़ए दुरवार।
गरज तरस मन, रोसे वरिस घन
संसय पड़ अभिसार[2]।
चरन वेधल फनि हित कय मानल घनि
नेपुर न करए रोल[1]।
सुमुखि पुछो तोहि सरूप कहसि मोहि
सिनेह कतए दुर ओल।

अर्थात् रात्रि अन्धकारपूर्ण है, दुर्निवार्य वज्र गिर रहा है, मेघ का गरजना मन में भय का संचार करा रहा है, बादल बिगड़कर बरस रहा है, अभिसार में सन्देह हो रहा है, पैर में साँप लिपट गये हैं जिसे नायिका मङ्गल ही समझती है; क्योंकि साँप के लिपटने से नूपुर का बोलना बन्द हो गया है। दूती पूछती है—हे सुन्दरी, सच-सच बताओ तुम्हारा प्रेम किस सीमा तक पहुँच गया है।

भोगविलास में लीन साधारण स्त्री इस बात को नहीं समझ सकती है कि जिस प्रकार चुम्बक दूसरे लोहों को खींच लिया करता है उसी प्रकार ईश्वर अर्थात् ईश-प्रेम भक्तों को अपनी ओर खींच लेता है। प्रेम के द्वारा मनुष्य साहसी बनता है। प्रेम में आवद्ध मनुष्य मरना स्वीकार करता है न कि प्रेम छोड़ना।

पूर्णिमा की रात है, दूती राधा से सङ्केत-स्थान में जाने के लिये कह रही है।

---

१ मुझे मालूम पड़ता था कि रोल की जगह बोल शब्द होना चाहिये। किन्तु कीर्तिलता में भी इसी अर्थ में रोल शब्द का व्यवहार किया गया है। न जाने यह शब्द किस भाषा का है!

२ नायक अथवा नायिका का सङ्केत स्थान में गमन।

आज पुनिमा तिथि जानि मोहि अयलहुँ
उचित तोहर अभिसार।
देहे जोति ससि किरन समाइति
के विभिनायव पार।
सुन्दरि अपनहुँ हृदअ विचारि
आँखि पसारि जगत हम देखल
के जग तुअ सन नारि।
तोहें जनि तिमिर हित कए मानह
आनन तोर तिमिरारि।
सहज विरोध दूर परिहरि धनि
चलु उठि जतए मुरारि।
दूती-वचन हित कए मानल
चालक भेल पँचवान।
हरि अभिसार चललि वर कामिनि
विद्यापति कवि भान।

अर्थात् आज पूर्णिमा तिथि है। आज प्रिय-मिलन के लिये सङ्केतस्थान जाना उचित है। तुम्हारे शरीर की ज्योति और चन्द्रमा की चाँदनी को अलग-अलग कौन कर सकता है अर्थात् तुम्हारा शरीर और चन्द्रमा की चाँदनी दोनों का एक ही रंग है। इसलिये चाँदनी रात में तुम्हारे जाने पर किसी को नहीं मालूम होगा कि कोई नायिका जा रही है। हे सुन्दरी, मैंने आँख खोलकर सारा संसार देख डाला है कोई भी दूसरी नायिका तुम्हारे समान

१ जुवति जोन्ह में मिलि गई नेकु न होति लखाई।
सोंधे के टोरी लगी, अली चली सँग जाई॥ 'बिहारी'

इसमें उन्मीलित अलङ्कार है। विद्यापति में मीलित अलङ्कार है।

सुन्दरी नहीं हैं। (यदि तुम्हें मेरी बातों पर विश्वास नहीं हो तो) तुम ही अपने मन में सोच-विचारकर देखो कि तुम्हारे समान कौन है। तुम्हारा मुँह तिमिरारि (अन्धकार का शत्रु) अर्थात् चन्द्रमा है। इसलिये अन्धकार को तुम अपना हितैषी मत समझो। स्वाभाविक विरोध छोड़कर वहाँ चलो जहाँ मुरारि हैं। नायिका ने दूती के वचनों को अपने हित के लिये समझा, क्योंकि कामदेव चलानेवाला था। विद्यापति कवि कहते हैं कि हरि के अभिसार के लिये कामिनी चली।

इस पद में भी राधा की अदृश्यता, उसका जगद्व्यापक चन्द्रिका में लीन होना—आदि व्यङ्ग्य अर्थों से उसी प्रेम की सूचना मिलती है। इसी तरह सब पद, सारी पदावली व्यङ्ग्यार्थ से परिपूर्ण है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि चैतन्यदेव पर इस पदावली का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने कौमार-व्रत धारण कर लिया। इसलिये इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इस पदावली में भक्ति-रस प्रधान है न कि शृङ्गार-रस।

इन दोनों विद्वच्छिरोमणियों के अनुयायी, डा० जनार्दन मिश्र एम्० ए०, पी० एच० डी० महोदय 'विद्यापति' नामक पुस्तक में ग्रिअर्सन साहब की उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत कर लिखते हैं कि विद्यापति अपने को पत्नी (राधा) समझकर ईश्वर (कृष्ण) की उपासना पति के रूप में करते थे। आपका कहना है कि यह भजन—पदावली आध्यात्मिक विचार, और दार्शनिक गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण है। इसमें प्रमाण ये हैं :—

(१) वैष्णवगण पूजा के समय विद्यापति की पदावली और जयदेव के "गीतगोविन्द" का पाठ करते थे।

(२) विद्यापति के समय में रहस्यवाद का जोरों से प्रचार था। स्त्री और पुरुष के रूप में जो जीवात्मा और परमात्मा की

उपासना का प्रवाह वह रहा था विद्यापति ने अपने को भी उसी प्रवाह में वहा दिया। निर्गुणवादी सन्त जीवात्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप में देखते थे। किन्तु वह स्वरूप व्यक्तिविशेष-द्योतक नहीं था। विद्यापति के वर्णन में यह विशेषता है कि उन्होंने शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण आदि व्यक्ति विशेष का अवलम्बन कर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध का वर्णन किया है। डा० महोदय ने अपने विचार के अनुकूल दो-चार शिव-पार्वती-पदों की व्याख्या कर दादूदयाल और कवीर के पदों के साथ विद्यापति के पदों की तुलना की है। आप अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं कि सब पदों में ईश्वर की पति-रूप में उपासना वतलाई गई है।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री एम्० ए०, सी० आई० ई० महाशय कीर्तिलता की प्रस्तावना में लिखते हैं—"यह वड़े आश्चर्य की वात है कि संस्कृतभाषा में लिखे हुए विद्यापति के स्मृतिग्रन्थों में शिव, गङ्गा और दुर्गा हैं, किन्तु कृष्ण का नाम कहीं भी नहीं है। परन्तु विद्यापति ने मैथिली में जो कविताएँ कीं उनमें शिव, पार्वती और गङ्गा का वर्णन है, किन्तु अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण ही पाये जाते हैं। विद्यापति जव पण्डित होकर लिखते हैं तव कृष्ण का नाम नहीं लेते हैं, किन्तु जव मैथिली में कविता करते हैं तव राधा-कृष्ण की ही अधिकता पाई जाती है। इसका क्या कारण है?

मुझे तो इसका एक ही अर्थ मालूम पड़ता है कि विद्यापति जब आदि (शृङ्गार) रस का गाना लिखते थे तव राधा-कृष्ण का नाम विशेष रूप से स्वयं आ जाता था। यह स्वाभाविक है। इस समय भी यह प्रथा है। एक दिन दस कैदियों को साथ लिये एक सिपाही जेल की ओर जा रहा था। रास्ता निर्जन था, दिन-

भर काम करने के कारण सब-के-सब थक गये थे। अतः मन बहलाने के लिये एक सिपाही ने एक कैदी से गाना गाने के लिये कहा। एक कैदी गाना गाने लगा और उसके साथ और कैदी भी गाना गाने लगे। गाना मुझे अच्छी तरह याद है क्योंकि मैं भी पीछे-पीछे जा रहा था। गाना यह था :—

आज के यदि थाकृत आमार श्याम
धान आनूते गिये यखन पड़त माथार घाम
आंचल दिये मुछिये दित करत कत काम

इस पद में श्याम सुनकर मुझे निश्चय हो गया कि भारतीय कवि गाना लिखने के समय राधा-कृष्ण की दुहाई देते हैं। यह प्रथा-सी हो गई है कि कवि अपना नाम या किसी दूसरी नायिका या नायक का नाम नहीं देकर राधा-कृष्ण के नाम पर ही अपने हृदय का भाव प्रकट करते हैं। गाने और बजानेवालों में भी यह प्रथा चल पड़ी है। सम्भव है कि उज्ज्वल-नीलमणि, भक्ति-रसामृतसिन्धु—आदि ग्रन्थों के प्रचार होने के बाद रस-शास्त्र का पूरा प्रचार हुआ और उसी समय अर्थात् विद्यापति के करीब-करीब २०० वर्ष बाद कीर्त्तन की सृष्टि हुई। विद्यापति के पद कीर्त्तन के लिये नहीं बनाये गये थे। नगेन्द्र बाबू ने बड़ा अन्याय किया कि कीर्त्तन के अनुरोध से विद्यापति के पदों का क्रम-परिवर्त्तन कर डाला। जिस क्रम से उन्हें विद्यापति के पद उपलब्ध हुए थे, उसी क्रम से प्रकाशित करना उचित था। विद्यापति राजकवि और राजसभासद थे। उन्हें जिस तरह का गाना बनाने के लिये फरमाइश मिलती थी उसी तरह का गाना बनाते थे और राजा को प्रसन्न रखने के लिये राजा और राज-परिवार के नाम भी उसमें जोड़ दिये जाते थे। अनेक समय विद्यापति ने फरमाइश करनेवाले राजा को श्याम और उनकी प्रिय पत्नी को राधा मान-

कर आदि-रस का गाना लिखा। विद्यापति कीर्त्तन लिखने के लिये नहीं बैठे थे, राधा-कृष्ण के प्रेम पर पुस्तक लिखने के लिये नहीं बैठे थे; उन्होंने भिन्न-भिन्न समयों पर, भिन्न-भिन्न स्थानों में, भिन्न-भिन्न राजाओं की आज्ञा के अनुसार गाना लिखा था। इस समय के वैष्णवों ने कीर्त्तन के अनुरोध से विद्यापति के पदों की क्रम-रचना की है। उन्होंने विद्यापति को केवल वैष्णव ही नहीं सहजिया भी बना डाला है। अनेक गानों में राधा-कृष्ण का नाम नहीं मिलता है। जैसे—

कामिनि करए सनाने
हेरितहिं हृदय हनए पँचवाने।२।
चिकुर गरए जलधारा
जनि मुखससि डर रोअए अन्हारा।४।
कुच जुग चारु चकेवा
निअ कुल मिलि आनि कोन देवा।६।
तें संका अे जे भुजपासे
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे।८।
तितल वसल तनु लाग
मुनिहु क मानस मनमथ जाग।१०।
मनहि विद्यापति गावे
गुनमति धनि पुनमत जन पावे।१२।

इस गाने में राधा-कृष्ण का नाम कहीं भी नहीं है। तथापि नगेन्द्रबाबू मानते हैं कि यह माधव की उक्ति है। वस्तुतः स्नान करती हुई सुन्दरी रमणी को देखकर कवि ने इस पद की रचना की। इसमें जरा भी राधा-कृष्ण का भाव नहीं दिखाई पड़ता है।

---

(१) किंवदन्ती है कि विद्यापति ने सुलतान को प्रसन्न करने के लिये इसकी रचना की थी।

आज मोहि शुभदिन भेला
कामिनि पेखल सनानक बेला ॥ २ ॥
चिकुर गरए जलधारा
मेह बरिस जनु मोतिमहारा ।। ४ ॥
बदन पोछल परचूरे
माँजि धएल जनि कनक-मुकूरे ॥ ६ ॥
तें उदसल कुच जोरा
पलटि वैसाओल कनक-कटोरा ॥ ८ ॥
नीविबन्ध करल उदेस
विद्यापति कह मनोरथ सेस ॥१०॥

इस पद में भी राधा-कृष्ण का नाम नहीं है। तथापि यह माधव की उक्ति मानकर कीर्त्तन का गाना मान लिया जाता है। इसके बाद के पद में मुरारि पद है। यदि केवल 'मुरारि' पद रहने के कारण यह राधा-कृष्ण का प्रेम-गान मान लिया जाय तो मुझे जरा भी आपत्ति नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाद के दो पदों में राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन है। प्रथम दो पदों में राधा-कृष्ण का नाम एकदम नहीं है, तीसरे पद में मुरारि का नाम है, किन्तु सम्भव है कि वह भी राधा-कृष्ण का वर्णन नहीं हो। अन्तिम दो पदों में राधा का स्नान और राधा-कृष्ण के परस्पर निरीक्षण का वर्णन है। इन दोनों में रूप-वर्णन नहीं है। केवल नायक और नायिका की चातुरी और उनके मानसिक भाव का वर्णन है। तथापि पाँचों को राधा-कृष्ण का कीर्त्तन मान लेना आग्रह नहीं तो क्या है? भारतवर्ष में नायिका को राधा और नायक को कृष्ण मानकर वर्णन करने की प्राचीन प्रथा है। सब कवि इस प्रकार नायक और नायिका का वर्णन करते हैं। यदि कोई कहे कि ये पाँचों पद शृङ्गाररस के पद हैं,

राधा-कृष्ण का अर्थ नायिका और नायक है तो किसी को जरा भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु मैं तो इतना ही कहता हूँ कि इन पाँचो पदों में तीन शृङ्गार रस के पद हैं और अन्तिम दो राधा-कृष्ण विषयक पद हैं। इन पाँचो में किसी राजा या रानी का नाम नहीं पाया जाता है। इसलिये यह कह सकते हैं कि ये पद किसी की फरमाइश से नहीं बने थे। विद्यापति ने स्वयं जिन पदों की रचना की है वे सब-के-सब शृङ्गार रस के पद हैं—राधा-कृष्ण के पद या वैष्णवों के पद नहीं हैं।

नगेन्द्र बाबू ने कीर्त्तन के ८४० पदों का प्रकाशन किया है। मैंने गिनकर देखा है उनमें ३३७ पदों में राधा-कृष्ण का नाम नहीं है। अवशिष्ट ५०३ पदों में भी अनेक स्थानों में पद के अन्त में मुरारि या हरि शब्द पाया जाता है। इससे दृढ़तापूर्वक यह नहीं कह सकते हैं कि ये सब राधा-कृष्ण के पद हैं। मुझे तो हरि या मुरारि केदियों के श्याम ही मालूम पड़ते हैं। संस्कृत के अलङ्कार-ग्रन्थों में जितनी कविप्रौढ़ोक्तियाँ हैं, जितनी प्रचलित उपमाएँ हैं विद्यापति ने अपने पदों में उनका यथेष्ट व्यवहार किया है। हालसप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुशतक, शृङ्गारतिलक—आदि के भावों का संग्रह विद्यापति के पदों में किया गया है। कई जगह विद्यापति ने रंग चढ़ाया है और अनेक स्थानों में उसी भाव का वर्णन और भी स्पष्टरूप से किया है।

शैशव जौवन दरसन मेल
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल ॥ २ ॥
मदन क भाव पहिल परचार
भिन जन देल भिन्न अधिकार ॥ ४ ॥
कटिक गौरव पाओल नितम्ब
एकक खीन अओक अवलम्ब ॥ ६ ॥

प्रकट हास अब गोपत भेल
उरज प्रगट अब तन्हिक लेल ॥ ८ ॥
चरन चपलगति लोचन पाव
लोचनक धैरज पदतल जाव ॥१०॥
नव कविसेखर कहइत पार
भिन भिन राज भिन्न वेवहार ॥१२॥

बाल्य और यौवन का संगम हो रहा है। मदन दोनों को (शैशव और यौवन को) रास्ता दिखा रहा है—एक से कह रहा है 'जाओ' और दूसरे से कह रहा है 'आओ'। मदन का यह पहला आगमन है। उनके आने से अधिकार में हेर-फेर हो गया है। कटि की मोटाई नितम्ब को मिली और नितम्ब का पतलापन कटि को मिला है। पहले वह खूब हँसती थी, पर अब हँसना गुप्त हो गया है। उसकी जगह स्तन जो अब तक छिपा हुआ था प्रकट हो गया है। पहले पैरों में चञ्चलता थी, किन्तु अब वह चञ्चलता आँखों में आ गई है और आँखों की स्थिरता पैरों को मिली है। विद्यापति कहते हैं कि भिन्न-भिन्न राजाओं के भिन्न-भिन्न व्यवहार होते हैं।

इस प्रकार विद्यापति के अनेक उदाहरणों के द्वारा शास्त्रीजी ने समझाया है कि जिन्होंने संस्कृत-साहित्य का अच्छी तरह अनुशीलन किया है उनके लिये विद्यापति के पदों में कोई भी नवीन विषय नहीं है। विद्यापति ने कीर्तन का गान नहीं लिखा है तोभी विद्यापति के पद कीर्तन में मिला लिये गये हैं। विद्यापति वैष्णव नहीं थे, किन्तु पञ्चदेवतोपासक थे, विद्यापति सौन्दर्य के कवि थे, उन्होंने सौन्दर्य की सृष्टि की है। आदि

---

(१) तुलना कीजिये—नव नागरि तन मुलक लहि जोवन आमिल जोर।
घटि वढ़िते वढ़ि घटि रकम करी और की और ॥ 'विहारी'

१—किंवदन्ती है कि विद्यापति ने सुलतान को प्रसन्न करने के लिये इसकी रचना की थी।

रस सौन्दर्य की खान है। उस रस में विद्यापति ने अनेक गाने लिखे। आदिरस में राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। इसलिये विद्यापति ने उसका यथेष्ट रूप से व्यवहार किया है। अनेक जगह राधा-कृष्ण का नाम यों ही दे दिया गया है, शृङ्गार रस ही उस का प्रधान लक्ष्य है। मिथिला की राजसभा का सभासद होकर पवित्र तथा संयत भाव दिखलाना अत्यन्त आवश्यक है। विद्यापति ने संयत भाव खूब दिखलाया। किन्तु राजसभा में गाना, बजाना, कविता करना, हँसी-दिल्लगी करना तो एक साधारण बात है—

उस समय के लोगों को काव्य से कितना प्रेम था इसका पता निम्नलिखित श्लोक से मिलता है।

गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे।
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः॥

—"म. म. हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित कीर्तिलता की भूमिका"

समालोचना

विद्यापति की पदावली रहस्यवाद से परिपूर्ण है अर्थात् पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर संकेत करती है या वह शृङ्गार रस की कविता है—इसके निर्णय करने में विद्यापति के समय की मिथिला की परिस्थिति पर विचार करने से बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है।

विद्यापति का युग दार्शनिक युग था। उस समय स्वनामधन्य म० म० पक्षधर मिश्र थे और कुछ समय के बाद केशव मिश्र आदि अनेक विद्वान् हुए। यदि विद्यापति उस समय की परिस्थिति के प्रतिकूल किसी भी नवीन भक्तिमार्ग का प्रचार करना चाहते तो

समसामयिक दार्शनिक मैथिल विद्वानों के द्वारा उस मत की गवेषणा-पूर्ण समालोचना अवश्य होती। परन्तु समालोचना की बात तो दूर रहे मिथिला की किसी पुस्तक में (संस्कृत या मैथिली में) पति के रूप में ईश्वर की उपासना की चर्चा भी नहीं है। विद्यापति के समय से लेकर आज तक मिथिला को यह भी मालूम नहीं है कि इस तरह का भी एक भक्तिमार्ग है। जिस प्रकार उदना की कथा किंवदन्ती के रूप में मिथिला में प्रसिद्ध है उसी प्रकार यदि विद्यापति पति के रूप में ईश्वर के उपासक होते तो उनकी उपासना, उसका प्रतिवाद, समर्थन आदि की कथा भी प्रसिद्ध रहती। एक नामी पुरुष के व्यवहार में यदि कुछ भी नवीनता आ जाती है तो उसके प्रचार या समालोचना में ज़रा भी देर नहीं होती है।

मिथिला में नवीन भक्तिमार्ग, तान्त्रिक उपासना का खूब प्रचार हुआ था। फलस्वरूप जिस वंश में सिद्ध तान्त्रिक थे, उस वंश में उस सिद्ध तान्त्रिक की उपास्य देवी का मन्त्र ग्रहण करना, और उसी इष्टदेवी की उपासना करने की प्रथा इस समय भी है। यदि विद्यापति नवीन भक्तिमार्ग के अनुयायी होते तो उन के वंश में उसका थोड़ा भी अनुकरण इस समय तक भी पाया जाता। परन्तु उसका लेशमात्र भी नहीं पाया जाता है।

विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर संकेत नहीं पाया जाता है।

विद्यापति की संस्कृत रचना का ही दो-एक नमूना लीजिये—

स्वस्त्यस्तु वस्तुहिनरश्मिभृतः प्रसादादेकं वपुः स्थितवतो हरिणा समेत्य।

"गङ्गावाक्यावली"

शशिभानुबृहद्भानुस्फुरन्त्रितयचक्षुषः।
वन्दे शम्भोः पदाम्भोजमज्ञानतिमिरद्विषः ॥१॥
कल्पान्तस्थितकीर्तिसम्भ्रमसखी सा भारती पातु वः ॥२॥

पितरुपनय महाक्षाकनया मृणालम् ।
नहि तनय ! मृणालः किन्त्वसौ सर्पराजः ॥
इति रुदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शम्भौ ।
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः ॥३॥

"कीर्तिलता"

यदि यह भी मान लिया जाय कि केवल मैथिली के कवि इस भक्तिमार्ग के अनुयायी होते थे तो भी बारबार अनुसन्धान करने पर भी ऐसा मैथिल कवि कोई भी नहीं मिलता है जिसने इस भक्तिमार्ग का अनुसरण किया हो। विद्यापति के बाद म० म० उमापति हुए। आपने देशी भाषा में सर्व-प्रथम नाटक की रचना की। आपका नाटक कई सम्पादकों के द्वारा सम्पादित हो चुका है। इस नाटक के आरम्भ में विष्णु की स्तुति की गई है, बीच-बीच में विष्णु को अन्तर्यामी माना है और हरिहरदेव को विष्णु का दसवाँ अवतार माना है। इस नाटक का आधार भी पौराणिक कथा है। इसलिये निर्विवाद यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद या पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर सङ्केत इस ग्रन्थ में नहीं है। दूसरे कवियों के ग्रन्थों के अध्ययन से भी इसी परिणाम तक हम पहुँचते हैं कि पति के रूप में ईश्वर की उपासना का प्रचार करना किसी भी मैथिल कवि का उद्देश्य नहीं था।

अब देखना है कि विद्यापति की रचना स्वतन्त्र है या किसी दूसरे प्राचीन काव्यों के आधार पर हुई थी। म० म० हरप्रसाद शास्त्री की राय है कि हालासप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुशतक, शृङ्गारतिलक, शृङ्गारशतक, शृङ्गाराष्टक—आदि ग्रन्थों से विद्यापति ने भावसंग्रह किया है। दूसरे अध्याय में श्लोकों के साथ पदों की तुलना कर यह दिखलाया जा चुका है कि मजमून संस्कृत का है, विद्यापति ने केवल रंग चढ़ाया है।

कृष्ण के रूप में नायक का वर्णन और राधा के रूप में नायिका का वर्णन करने की प्रथा प्रथम शताब्दी में ही आरम्भ हुई। गाथा-सप्तशती की रचना प्रथम शताब्दी में हुई थी। उसके दूसरे श्लोक में ग्रन्थकर्त्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि वह शृङ्गार रस का काव्य है काव्य-प्रकाशकार ने ध्वनि काव्य के उदाहरण के रूप में आर्याओं को उद्धृत कर जो व्यङ्ग्यार्थ दिखलाये हैं उससे भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह शृङ्गार रस का काव्य माना जाता है। उसमें भी इस प्रकार का वर्णन पाया जाता है। जैसे—

मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणँ बलवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥

गाथासप्तशती आर्या ८९

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥

संस्कृत अनुवाद

अर्थात् हे कृष्ण! तुम अपने मुँह की हवा से राधा की आँख की धूल दूर कर (उसके बहाने राधा को चूमकर) दूसरी स्त्रियों का अभिमान दूर करते हो या उनका गोरापन दूर करते हो अर्थात् वे दुःख से काली हो जाती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि यहाँ कृष्ण का अर्थ नायक और राधा के अर्थ नायिका है। यह प्रथा प्राचीन है। जिन काव्यों से भाव संग्रह किया गया है, जिन काव्यों में से इस प्रकार राधा-कृष्ण के वर्णन करने की शैली ली गई है उन सब कविताओं को शृङ्गाररसामृत-वाहिनी तरङ्गिणी मानने में यदि किसी को आपत्ति नहीं तो फिर मेरी समझ में नहीं आता कि उन्हीं के आधार पर रची गई उन की ही प्यारी पुत्री पदावली को मधुर रस की स्रोतस्विनी बनाने का प्रयत्न क्यों किया जा रहा है। यदि इस प्रकार सुधार की धारा बही तो मुझे डर है कि अभिज्ञान—

शाकुन्तल आदि शृङ्गाररस-प्रधानक ग्रन्थों में भी शकुन्तला को जीवात्मा, और दुष्यन्त को परमात्मा मानकर उसमें भी पति के रूप में ईश्वर की उपासना की कल्पना कर शृङ्गार रस दुनिया से निकाल ही न दिया जाय।

इस संवन्ध में एक और भी प्रश्न उठता है। मिथिला में विद्यापति के पदों का गान किस अवसर पर होता है? जहाँ तक मुझे मालूम है मिथिला में विद्यापति के पद दो श्रेणियों में विभक्त हैं—(१) शिव, दुर्गा, गङ्गा आदि की प्रार्थना और (२) राधा-कृष्ण पद। गङ्गा के तट पर, शिवजी के मन्दिर में, किसी मङ्गलाचरण के समय प्रथम श्रेणी के पद गाये जाते हैं और द्वितीय श्रेणी के अर्थात् राधा-कृष्ण संवंधी पदों का उपयोग विवाह के समय पर प्रधानतः किया जाता है। इसका कारण मुझे यह मालूम पड़ता है कि मिथिला में वह दर्शनिक युग था। उस समय दर्शन-शास्त्र और व्याकरण के समान कठिन तर्क-वितर्कमय विषय पढ़कर, छात्र-जीवन समाप्त कर स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। दर्शन-शास्त्र के प्रगाढ़ पण्डित उस स्नातक के मन में शृङ्गार-रस के लिये स्थान नहीं, रमणी के कोमल हृदय का भाव समझने के लिये उसमें रसिकता नहीं, उस भाव से वह जरा भी परिचित नहीं। इधर पुत्री के सुखमय गार्हस्थ्य जीवन के लिये माता-पिता अत्यन्त चिन्तित रहा करते थे और इस समय भी रहते हैं। पिता वर को पसंद कर ले आते थे किन्तु मिथिला में प्रथा है कि "पड़िछनि" होता है अर्थात् माता अपने पति के निर्णय से ही सन्तुष्ट नहीं रहकर स्वयं भी परीक्षा कर लिया करती है। "पड़िछनि" शब्द परीक्षण (परीक्षा) का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। विवाह के बाद मुग्धा के मुग्ध हृदय से परिचय दिलाना और उसके लिये कुछ शिक्षा देना आवश्यक समझकर

विवाह के बाद सास दामाद को कुछ दिनों के लिये (कम-से-कम ७ दिनों के लिये) रख लिया करती थी और फिर भी कुछ दिनों के ही बाद 'मधुश्रावणी' नामक पर्व के बहाने एक बार और भी बुला लिया करती थी। अब तक यह प्रथा जारी है। चतुर्थी के अवसर पर नववधू स्नान करती है और स्त्रियाँ गाती हैं—

कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदअ हनए पचबाने॥
... ...
... ...
गुनमति धनि पुनमत जन पावे।

वर छात्रजीवन समाप्त कर आया है। संभव है कि वह समझता हो कि हम मुनि हैं। इसलिये सुना दिया जाता है—

मुनिहु क मानस मनमथ जागू।

गाने के बहाने स्त्रियाँ यह भी सुना देती हैं कि आप बड़े भाग्यवान् हैं कि आपको इस तरह की गुणवती स्त्री मिली है "गुनमति धनि पुनमत जन पावें।" यदि यह पद इसी खास अवसर पर उपयोग करने के लिए नहीं बनाया गया होता तो इस अन्तिम पद का और पदों के साथ कोई भी संबन्ध ही नहीं होता।

आपके समान छात्रों को कौन पूछे, शिवजी के समान ज्ञानि-शिरोमणि देव को भी विवाह करना पड़ा और पत्नी के कारण शिवजी को भी—

'हम नहिं आज रहब एहि आँगन
जों बुढ़ होएत जमाई'

आदि भर्त्सनाएँ और समालोचनाएँ सह्य करनी पड़ीं—इत्यादि समझाने के लिये शिवपार्वती-विवाह की कुछ घटनाओं का वर्णन गाने के रूप में अवश्य सुना दिया जाता है। कौतुक-गृह (कोहवर) से आने और जाने के समय रमणीसमाज

विद्यापति के पदों के द्वारा श्रृङ्गार रस की रसमय शिक्षा देकर उस नवीन गृहस्थ के हृदय में श्रृङ्गार रस अङ्कुरित करता है। उस शिक्षा का प्रभाव चिरस्थायी हो इसलिये मधुपर्क के समय, खाने के समय, अनेक तरह की सामाजिक रीतियों के समय और-और घर की स्त्रियाँ भी बुलाई जाती हैं। इस अवसर के लिए जिन-जिन विषयों की आवश्यकता है उन सब विषयों का विद्यापति की पदावली में पूर्ण रूप से समावेश है। उसमें उदासी, बटगबनी, योग, उचिती मलार, बरहमासा, मानिनी का मान, मानभङ्ग, सखी-शिक्षा, मुग्धा की मुग्धता, प्रौढ़ा की प्रौढ़ता आदि सब ही उपयोगी विषय पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में विद्यापति ने पदावली में स्त्रियों के हृदय का पूरा खाका खींच डाला। यही कारण है कि मिथिला की स्त्रियों ने ही विद्यापति के पदों को अपनाया। पुरुष-समाज में इनका प्रचार नहीं के बराबर है। इसलिए सम्भव है कि पदावली की रचना का प्रधान उद्देश्य इस अवसर पर शिक्षा देना ही हो।

प्रोफेसर जनार्दन मिश्र का कहना है कि पूजा के समय इन पदों का उपयोग होता है। यदि आप प्रमाण के साथ यह बतलाने की कृपा करते कि मैथिल-समाज में पूजा के समय राधा-कृष्ण पदों का गान कब और कहाँ होता था तो मैं आपका बड़ा ही उपकार मानता और सदा के लिये कृतज्ञता प्रकट करता।

अब जरा सोचिये और विचारिये कि पदावली के रचयिता मैथिल विद्वान् विद्यापति के समाज में विवाह, (विवाह, चतुर्थी, मधुपर्क, कोहबर आना जाना आदि के अवसर पर जिस पदावली का सरस गान हो, पूजा, पाठ आदि अवसरों पर उसका कभी भी उपयोग नहीं हो, और श्रृङ्गार रस से ओत-प्रोत अनेक पदों में राधा या कृष्ण किसी का भी नाम नहीं हो, उस पदावली

को शृङ्गाररस की कविता नहीं मानकर पति रूप में ईश्वर की उपासना की कल्पना करना निरी खींचातानी है या नहीं।

पुरुष-परीक्षा और कीर्तिपताका के अध्ययन से भी यही प्रमाणित होता है। उनके निम्नलिखित विवरणों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि साहित्य-शास्त्र (अलंकार, रस, नायक-नायिका-भेद) के बारीक से बारीक विशद विवेचन से विद्यापति पूर्ण परिचित थे। किसी भी भक्त कवि का ऐसा सूक्ष्म विवेचन नहीं पाया जाता है।

(१) काम-कथा में शृङ्गार रस, काम और कामी का लक्षण और अनुकूल, दक्षिण आदि कामियों के भेदों[4] का और स्वकीया और परकीया आदि नायिका-भेदों का वर्णन।

(२) दक्षिण-नायक-कथा में पद्मिनी, चित्रिणी, श्यामलता, हस्तिनी आदि जन्म-गुण से नायिका-भेद, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका आदि अवस्था-भेद से नायिका-भेदों का वर्णन।

(३) विदग्ध-कथा में केतकी और जातकी—दो वेश्याओं का परस्पर कलह और दोनों के घर जाकर, दोनों की मार्मिक परीक्षा कर विक्रमादित्य का निर्णय करना कि केतकी उत्तम स्त्री है।

---

(१) स्थायिभावो रतिर्यस्य पुरुषप्रमदे परम्। शृङ्गारः स रसः प्रोक्तः।

(२) कामः शृङ्गारजं सुखम्।

(३) त्रिवर्गेषु परः कामः फलं धर्मार्थयोरपि। तत्रासक्तो भवेद्यस्य स कामी कथ्यते पुमान्।

(४) अनुकूलो दक्षिणश्च विदग्धो धूर्त एव च। मत्सरश्च समाख्याताः कामिनः पञ्चधा बुधैः।

(५) सम्पत्तौ च विपत्तौ च मरणेपि न मुञ्चति। नतस्वकीयाम्प्रति प्रेम जायते पुण्यकर्मणः।

(४) विद्यापति की निम्नलिखित कविता और कविता का अंश :—

(क) मुद्दे पौरस्त्रीणां मनसिजकथा-कौतुकजुषाम् ।

(ख) नृत्यद्भ्रूलतमुद्गतस्मितमुखीकुर्वन् त्रपाविभ्रमं
नेत्रोपान्तनिताऽन्तवान्त-धवल श्यामश्रियामभ्रुवः ।
एतस्या वदनं विभाति वलितग्रीवं समालोकितं
स्वर्गस्तस्य कियान् कियत्यमरता किं राज्यमम्भोनिधेः ।

(ग) तौ कामास्त्रव्यसन-चतुरौ तौ कलानां विदग्धौ
सत्प्रेमाणौ सपदि शिवयोस्तौ तुलामासवन्तौ ।
जातौ वंशे महति किल तौ धर्मशृङ्गारिणौ तौ
प्राणान्तेऽपि न त्रुटति ययोरावयोः प्रेमतन्तुः । "पुरुषपरीक्षा"

(५) संसाररत्नं मृगशावकाक्षी रत्नं च शृङ्गार-रसो रसानाम्
तं चानुभूयाश्चिरमर्जुनेन्द्रः पुरानुभूतं मधुसूदनेन ।
तद्यथा रामेण रामजन्मनि सीताविरह-दग्धमानसेन तत्खेदा
पनोदाय कृष्णावतारेण गोपकुमारेण सुन्दरीसहस्र-साहित्य
सुमुपजात- कुतुकेन...... ...कामिनीभिः...... ।

"कीर्तिपताका"

प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापक बाबूराम सक्सेना एम्. ए. कीर्तिलता की भूमिका में लिखते हैं—"विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता लगता है कि वह बड़े शृङ्गारी कवि थे। इन पदों में उन्होंने हृदय के उन भावों का खूबी के साथ वर्णन किया जिनकी भावना भी साधारण कवि नहीं कर सकते। इन पदों को राधा-कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है। पर टीका-टिप्पणीकारों की दौड़ को कौन रोक सकता है? कवि विद्यापति के रसिक होने का परिचय उनके प्रथम ग्रन्थ कीर्तिलता पढ़ने से ही हो जाता है। जौनपुर की

वेश्याओं का और वहाँ की वनिनियों का जो वर्णन उन्होंने किया है वह उनके रसिक शृङ्गारी होने का पूर्ण परिचायक है। राधा-कृष्ण का प्रेम भक्ति-रूप रहा सो हो सकता है। पर इधर आकर कवियों ने उस प्रेम का जो वर्णन किया है उस के शब्दों में भक्तिभाव का लेशमात्र भी भासित नहीं होता।"

विद्यापति के ग्रन्थ-रचना-क्रम से भी यही मालूम पड़ता है। राज-दरबार में आकर सब से पहले उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना की जिनमें भी कीर्तिसिंह के वर्णन के अवसर पर वीर रस के साथ शृङ्गार रस का संमिश्रण पाया जाता है। अनन्तर देवसिंह और शिवसिंह को उपदेश देने के लिये भूपरिक्रमा (नीति और भूगोल) और पुरुषपरीक्षा (नीति और इतिहास) की रचना हुई। देवसिंह केवल नाम के लिए राजा थे। राज्य की बागडोर शिवसिंह के ही हाथ में थी। शिवसिंह और विद्यापति समवयस्क थे और इन दोनों में बड़ी घनिष्ठता थी। शिवसिंह की धर्मपत्नी लखिमा देवी उच्चकोटि की विदुषी थी। विद्यापति की कविता उनके यहाँ भी पहुँचा करती थी। गुणग्राही राजा-रानी पाकर विद्यापति ने शृङ्गाररस की सरिता बहा दी। वही मुक्तक काव्य पदावली के नाम से प्रसिद्ध है। मालूम पड़ता है कि शिवसिंह की मृत्यु के बाद विरक्त होकर विद्यापति ने शृङ्गार रस की कविता करना छोड़ दिया। इसलिये पुरादित्य के घर जाकर लिखनावली लिखी। अनन्तर अपने उपास्य देव शिवजी, उनकी अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा, और उनकी जटाव-लम्बिनी गङ्गा के विषय में "शैव-सर्वस्वसार" "दुर्गाभक्तितरङ्गिणी" और "गङ्गावाक्यावली" लिखी। यदि विद्यापति पति के रूप में ईश्वर के उपासक होते तो उनके अन्तिम ग्रन्थ, दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में उस भक्तिमार्ग की प्रौढ़ता उपलब्ध होती, किन्तु अन्तिम ग्रन्थ

में उसका लेशमात्र भी नहीं है। उस समय की मैथिली की प्रार्थना में दुर्गा को माता कहकर संबोधन किया गया है।

विद्यापति कवि तुअ पदसेवक
पुत्र विसरु जनि माता।

न कि किसी देव को पति कहकर।

बाबू नगेन्द्रनाथ सेन गुप्त का कहना है कि चैतन्यदेव पर विद्यापति के पदों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने कौमार व्रत धारण कर लिया। जहाँ तक मुझे मालूम है चैतन्यदेव के दो विवाह हुए थे। भक्तशिरोमणि चैतन्यदेव में भक्तिभाव का इतना आधिक्य था कि गया में विष्णुपद का दर्शन कर और पुरी जाने पर जगन्नाथ की जगह जग-जग कहते हुए आवेश में आ गये थे और उन्हें मूर्च्छा हो गई थी। इसी प्रकार संभव है कि विद्यापति के पदों में शृङ्गार रस की प्रधानता होने पर भी केवल राधा-कृष्ण का नाम सुनकर उनका भक्तिभाव जाग्रत हो जाता था और उन्हें मूर्च्छा हो जाती थी।

इस विषय में म० म० डा० हरप्रसाद शास्त्री से हम सहमत हैं कि विद्यापति के २०० वर्षों के बाद कीर्तन की सृष्टि हुई थी। कीर्तन के उद्देश्य से पदों की रचना नहीं हुई थी। इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति की कविता शृङ्गार रस की कविता है। कीर्तिलता के आरम्भ में विद्यापति ने सरस्वती को 'शृङ्गारादिरस—प्रसादलहरी' बतलाया है। इसलिये मालूम पड़ता है कि विद्यापति को शृङ्गार रस से विशेष प्रेम था।

डा० जनार्दन मिश्र का कहना है कि विद्यापति के समय में रहस्यवाद का जोरों से प्रचार था। स्त्री और पुरुष के रूप में जो जीवात्मा और परमात्मा की उपासना का प्रवाह बह रहा था

---

१ चैतन्य-चरितामृत।

विद्यापति ने उसी प्रवाह में अपने को वहा दिया। अब यह देखना है कि रहस्यवाद का विद्यापति के ऊपर प्रभाव पड़ा होगा या नहीं। सूफी मत का सूत्रपात बहुत पहले हो चुका था। पहले पहल मुसलमान भी इस धर्म के अनुयायियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। आत्मा और परमात्मा के ऐक्य मानने के कारण सूफी मंसूर सूली पर चढ़ा दिया गया था। धीरे-धीरे यह मत लोकप्रिय होने लगा, किन्तु प्रेममार्गी कविता का मङ्गलाचरण संवत् १५५८ में कुतबन ने 'मृगावती' लिखकर किया। उस के बाद 'मुग्धावती' 'प्रेमावती' आदि की रचना हुई। संवत् १५९७ में जायसी ने पद्मावत की रचना की। उसके बाद और और काव्य भी रचे गये। अनेक विद्वानों की राय है कि कबीर के उपदेश से सूफी मत के स्थिर होने में बड़ी सहायता मिली। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान की एकता के लिये भरपूर उद्योग किया और बारबार जनता को समझाने की चेष्टा की कि परमेश्वर एक हैं, केवल अज्ञानवश हमलोग नामभेद से अल्लाह और राम को भिन्न समझ रहे हैं। धार्मिक विवाद व्यर्थ है। सब मतों के अनुयायी एक ही जगह जाते हैं। इसी का विकसित रूप सूफी-मत है। सूफी-मत में प्रेमपन्थ के द्वारा, प्रेममय ईश्वर की उपासना के द्वारा व्यावहारिक जीवन में भी एकता स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इससे मालूम पड़ता है कि विद्यापति के समय में इस मत को प्रौढ़ता नहीं मिली थी और यह राजधर्म नहीं था। यदि सूफी मत राजधर्म भी होता तो भी उसका विद्यापति के ऊपर जरा सा भी प्रभाव नहीं पड़ता। विद्यापति और राजा शिवसिंह में बड़ी घनिष्ठता थी। घनिष्ठता तब ही होती है जब कि दोनों की मनोवृत्तियों में समानता होती है। मुसलमान बादशाह के कर नहीं देने के कारण एक बार शिवसिंह कैद कर

लिये गये थे। राज्यगद्दी के बाद यवनसेना के साथ उन्हें युद्ध करना पड़ा था जिसका विस्तृत वर्णन विद्यापति ने किया है। अन्त में यवन-सेना के साथ युद्ध में ही उनकी मृत्यु भी हुई। इसलिये इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि शिवसिंह मुसलमानों के कट्टर शत्रु थे। इस तरह यवनों के महाशत्रु शिवसिंह के हार्दिक मित्र, विद्यापति के ऊपर यवन-धर्म का प्रभाव पड़ा होगा यह विश्वास करने योग्य नहीं है। मिथिला की विद्वन्मण्डली यवन-धर्म से प्रभावान्वित नहीं हुई थी, किन्तु अपने धर्म पर अटल थी। विशेषतः इस परिस्थिति में रहनेवाले संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् विद्यापति के ऊपर सूफी मत का प्रभाव पड़ा होगा यह सम्भव नहीं है। प्रो० जनार्दन मिश्र ने भी स्वीकार किया है कि भारतवर्ष में अनेक धार्मिक क्रान्तियों के होने पर भी मिथिला में किसी धार्मिक क्रान्ति का प्रभाव नहीं पड़ा (विद्यापति पृष्ठ २३)।

रहस्यवाद के रहस्य से परिपूर्ण पुस्तकों में यह प्रथा देखी जाती है कि ग्रन्थ के आरम्भ या अन्त में रहस्य का उद्‌घाटन कर दिया जाता है; जैसे जायसी ने पद्मावत के अन्त में कहा है—

"तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल, बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेइ पन्थ देखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥

---

(१) तस्य श्रीशिवसिंहदेव-नृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रन्थिलदण्डनीति-विषये विद्यापतिर्व्यातनोत्।

पुरुषपरीक्षा से पता लगता है कि दोनों में बड़ी घनिष्ठता थी; क्योंकि सम्मान दिखलाने के लिये राजा किसी कवि को 'मित्र' कह कर संबोधन कर सकता है, किन्तु राजा को 'मित्र विद्वान्' कहकर सम्बोधन करने का साहस कवि को तब ही हो सकता है जब दोनों में अत्यन्त घनिष्ठता होगी।

नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहुँ।
बुझिलेहु जों बुझै पारहु॥"

नीचे बाबू रामचन्द्र शुक्ल-कृत व्याख्या उद्धृत की जाती है।

"रत्नसेन का पद्मावती तक पहुँचानेवाला प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा में ले जाकर मिलानेवाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास है। प्रेम-पथिक रत्नसेन में सच्चे साधक भक्त का स्वरूप दिखाया गया है। पद्मिनी ही ईश्वर से मिलानेवाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य-स्वरूप परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति का मार्ग बतलानेवाला सूआ सद्गुरु है। उस मार्ग में अग्रसर होने से रोकनेवाली नागमती संसार का जंजाल है। तन-रूपी चित्तौर-गढ़ का राजा मन है। राघव चेतन शैतान है, जो प्रेम का ठीक मार्ग नहीं बताकर इधर-उधर भटकाता है। माया में पड़े हुए सुलतान अलाउद्दीन को माया-रूपी ही समझना चाहिये। इसी प्रकार जायसी ने 'पद्मावत' के अंत में अपने सारे प्रबन्ध को व्यङ्ग्यगर्भित कह दिया है। "पद्मावत की भूमिका"

इसी प्रकार कबीर, दादूदयाल आदि निर्गुणवादी सन्तों ने भी स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया है कि "ईश्वर पति हैं," किन्तु विद्यापति ने संस्कृत, मैथिली या अवहट्ट किसी भाषा में इस तरह का भाव नहीं दिखलाया है।

इसके अतिरिक्त सूफी कवियों की निम्नलिखित विशेषताएँ विद्यापति के पदों में नहीं पाई जाती हैं।

(१) हठ योग की बातों का उल्लेख।

(२) ईश्वर को मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना।

(३) बाहरी पूजा और उपासना का त्याग।

विद्यापति के पदों में इडा, पिंगला आदि नाडियों का वर्णन और योग की अन्य कोई बातें हमें नहीं मिली हैं। बाहरी पूजा और उपासना का त्याग तो कहीं भी नहीं बतलाया गया है, प्रत्युत दुर्गाभक्तितरङ्गिणी में दुर्गापूजा, शैवसर्वस्व-सार में शिवपूजा और गङ्गावाक्यावली और दानवाक्यावली में बाह्यपूजा का वर्णन है।

भारतवर्ष में उपासना के तीन मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग। यहाँ ज्ञानियों को भक्त होने का दावा करते हुए या भक्तों को ज्ञानी होने का दावा करते हुए नहीं देखा गया है। तुलसी और सूर के सम्बन्ध में यह सुना जाता है कि उन्होंने भगवान् के दर्शन पाये थे, परन्तु यह कोई नहीं कहता है कि वे भगवान् शङ्कराचार्य से भी अधिक ज्ञानी थे। भारतीय भक्तों का सच्चा या झूठा दावा यही है कि वे भगवान् के प्रेम में मग्न रहते हैं। उनके उपास्य ज्ञात रहते हैं।

इधर रहस्यवादियों ने भक्ति और ज्ञान का संमिश्रण कर दिया। उनका दावा है वे ईश्वर के भक्त हैं और उनके ज्ञान की मात्रा इतनी बढ़ी हुई है कि जो बात कोई नहीं जानता है वह उनको ज्ञात है। उनका प्रेम किसी अज्ञात के प्रति होता है। पहले पैगंबरी धर्म-व्यवस्था में ज्ञान-काण्ड के लिये स्थान नहीं था। इसलिये आध्यात्मिक ज्ञानोपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से (स्वप्न, संदेश, छायादर्शन आदि के द्वारा) ही माननी पड़ी। पहुँचे हुए भक्तों और सन्तों के सम्बंध में लोगों की यह धारणा थी कि जब वे आवेश की दशा में मूर्च्छित या बाह्यज्ञान-शून्य होते हैं तब भीतर-ही-भीतर उनका ईश्वर के साथ संयोग होता है और वे

छायारूप में बहुत-सी बातें देखते हैं। परमात्मा और जीवात्मा के संबंध की वे ही बातें, जो यूनान और भारत के प्राचीन दार्शनिक कह गये थे, विलक्षण रूपकों द्वारा कुछ दुर्बोध और अस्पष्ट बना कर संत लोग कहा करते थे। अस्पष्टता और असंबद्धता इसलिए आवश्यक थी कि तथ्यों का साक्षात्कार छाया-रूप में ही माना जाता था। इस प्रकार अरब, फ़ारस और योरप में भावात्मक और ज्ञानात्मक रहस्यवाद का चलन हुआ। (पं० रामचन्द्रशुक्ल कृत—गोस्वामी तुलसीदास)।

विद्यापति के ऊपर भारतीय संस्कृति का पूरा प्रभाव पड़ा था, इसमें तो ज़रा भी सन्देह नहीं। भारतीय भक्ति-मार्ग सीधा-सादा है, इस भक्ति मार्ग का अनुसरण करना अत्यन्त सरल है। इसमें छिपाव और दुराव की प्रवृत्ति नहीं। शिव के दर्शन होने की कथा प्रसिद्ध है, किन्तु चैतन्य देव की तरह आवेश में आकर विद्यापति को मूर्च्छित होते हुए नहीं सुना गया है। कबीर की तरह विद्यापति अपने को अलौकिक ज्ञान-सम्पन्न नहीं बताते हैं। स्मृति के ग्रन्थों में स्पष्ट अर्थवाले वाक्य हैं, पुरुष-परीक्षा और कीर्तिलता में सरल और स्पष्ट शब्दों में नीति और शृङ्गार का संमिश्रण है। फिर मुझे कोई भी ऐसा कारण नहीं मालूम पड़ता है, जिससे यह मानना पड़े कि विद्यापति रहस्यवादी या पति के रूप में ईश्वर के उपासक थे।

इसलिये निम्नलिखित कारणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विद्यापति शृङ्गार रस के कवि थे, न कि पति के रूप में ईश्वर के उपासक।

(१) उस दार्शनिक युग में किसी विद्वान् के किसी ग्रन्थ में पति के रूप में ईश्वर की उपासना का समर्थन या समालोचना

नहीं है। उद्‌ना की कथा की तरह किंवदन्ती के रूप में भी यह प्रसिद्ध नहीं है।

(२) तान्त्रिक उपासना की तरह इस उपासना का थोड़ा भी अनुकरण मिथिला में नहीं पाया जाता है।

(३) विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर सङ्केत नहीं पाया जाता है।

(४) विद्यापति की पदावली शृङ्गार-रस-प्रधान आर्या-सप्तशती आदि ग्रन्थों के आधार पर रची गई है।

(५) विवाह के अवसर पर गृहस्थ आश्रम में नवप्रविष्ट स्नातक के कर्कश तर्क-शास्त्र के अध्ययन से कठोर और मुग्धा के मुग्ध हृदय से अपरिचित हृदय पर गीत के रूप में रसमय शृङ्गार रस की शिक्षा के द्वारा उसका स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही पदावली की रचना हुई थी। यही उसका प्रधान उद्देश्य है।

(६) पूजा के अवसर पर विद्यापति के पद का गान मिथिला में नहीं होता है।

(७) विद्यापति के प्रथम काव्य, कीर्तिलता में वेश्याओं तथा वनिनियों का शृङ्गाररसमय विशद वर्णन है।

(८) नायक के रूप में कृष्ण का और नायिका के रूप में राधा का वर्णन प्रथम शताब्दी की पुस्तक, गाथासप्तशती में भी पाया जाता है।

(९) विद्यापति की ग्रन्थ-रचना का क्रम।

(१०) चैतन्यदेव के मूर्च्छित होने का कारण केवल राधा-कृष्ण का नाम ही है।

(११) कीर्तन की सृष्टि विद्यापति के २०० वर्षों के बाद हुई। इसलिये कीर्तन के उद्देश्य से विद्यापति ने पदों की रचना नहीं की थी।

(१२) विद्यापति की मृत्यु के बाद सूफी मत को प्रौढ़ता मिली। रहस्यवादमय (प्रेममार्गी शाखा के) ग्रन्थों की रचना का आरम्भ संवत् १५५८ में हुआ। मुसलमानों के कट्टर शत्रु, राजा शिवसिंह के घनिष्ठ मित्र होने के कारण और मिथिला में किसी धार्मिक क्रान्ति के प्रभाव नहीं पड़ने के कारण मैथिल विद्वच्छिरोमणि, विद्यापति सूफी मत से प्रभावान्वित हुए होंगे—यह विश्वास करने योग्य नहीं है।

(१३) रहस्यवाद के ग्रन्थों में यह प्रथा है कि ग्रन्थ के किसी अंश में रहस्य का उद्घाटन रहता है जैसे कि जायसी, कबीर आदि के ग्रन्थों में है। विद्यापति के ग्रन्थों में यह बात नहीं है।

(१४) सूफ़ी-मतावलम्बियों की कविताओं की विशेषताएँ इस में नहीं पाई जाती हैं।

(१५) कीर्तिपताका में स्वयं विद्यापति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है की राम को सीता की विरहवेदना सहनी पड़ी। इसलिये उन्हें कामकलाचतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ अनेक प्रकार के विहार किये। इससे यह स्पष्ट होता है कि राधा या कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन में कोई दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है, किन्तु राधा का अर्थ नायिका और कृष्ण का अर्थ नायक है।

विद्यापति के पद

'विद्यापति' पर अनुसन्धान करने की प्रधान सामग्री विद्यापति के पद हैं। पहले (पृष्ठ ४६, ४७) बताया जा चुका है कि अनेक प्रकाशकों के द्वारा पदावली के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इस अध्याय में यह बताना है कि वे पद विशुद्ध हैं या नहीं और उन पदों के आधार पर अनुसन्धान (Research) हो सकता है या नहीं। आज तक प्रकाशित पदावलियों पर सूक्ष्म दृष्टि डाले बिना इस परिणाम तक पहुँचना कठिन है। इसलिये सबसे पहले संपादकों का दावा और नियम (Standard) पेश करता हूँ। अनन्तर पदावली में उन नियमों का अनुसरण किया गया है या नहीं—इस पर एक दृष्टि डालूँगा।

सर्वोत्तम संस्करण होने के कारण सबसे पहले मैं बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संपादित और 'बङ्गीय साहित्य परिषद्' के द्वारा प्रकाशित पदावली की भूमिका का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ।

"कवि मिथिलावासी थे और उन्होंने मिथिलाभाषा में रचना की। मैथिली और बँगला में कुछ समानता है। इसलिये हमलोग थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं, किन्तु मैथिली नहीं जानने के कारण ही इस देश (बंगाल) में अनेक पाठ-दोष हो गये हैं। पदावली की लिपि-प्रणाली संस्कृत के अनुसार नहीं

(१) पाठनिर्णय' शीर्षक।

है। विद्यापति संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे और विद्यापति-रचित अनेक संस्कृत ग्रन्थ भी हैं, किन्तु विद्यापति ने पदावली में संस्कृतलिपि तथा संस्कृत व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं किया है। कई एक स्थानों में 'प्राकृत' के अनुसार लिपि-प्रणाली है। अनेक स्थानों पर विद्यापति ने स्वतन्त्र लिपि-प्रणाली का अनुसरण किया है। मिथिला में वही लिपि-प्रणाली प्रचलित है और वङ्गदेश में भी वही लिपिप्रणाली प्रचलित थी। क्रमशः जैसे-जैसे नये संस्करण निकलने लगे, संपादकों ने प्राचीन लिपि को अशुद्ध समझकर संशोधन कर डाला। परिणाम यह हुआ कि पदों में 'छन्दोभङ्ग' दोष हो गया। बंगाल में ह्रस्व और दीर्घ में कोई भेदभाव नहीं रहा। मिथिला की पदावली में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रधानतः पदावली की लिपिप्रणाली छन्द के अनुसार है। एक ही शब्द में कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ पाया जाता है जैसे—जूझल मनमथ पुन जे जुझाएव सेहे कलावति नारी। युद्ध शब्द से 'जूझल' और 'जुझाएव' बने हैं, एक जगह ह्रस्व और दूसरी जगह दीर्घ पाया जाता है। इसी प्रकार कलावति के स्थान में 'कलावती' परिवर्तन करने पर छन्दोभङ्ग हो जायगा। उदाहरण के रूप में नीचे कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं।

बंगाल का अशुद्ध पाठ	विशुद्ध पाठ
(१) रसवती रमणी धनी रतन राही	(१) रसवति रमणि रतन धनि राही

(१) आधुनिक मैथिली में भी प्रेरणार्थक धातुओं में ह्रस्व हो जाता है; जैसे बूझब (समझना) से बुझाएव (समझाना)। इसलिये यह अपवाद (Exception) नहीं है।

रास रसिक सह रस अवगाइ	रास रसिक सह रस अवगाही
(२) कि कहव माधव कि करव काजे	
पेखनु कलावती प्रिय सखी माझे	(२) पेखल कलावति प्रियसखि माझे
(३) यो विनु तिल एक रहइ न पारिय	(३) ये विनु तिल एक रहइ न पारिय
सो मेल पर अनुरागी	से मेल पर अनुरागी।
(४) गेलि कामिनी गजहु गामिनी	(४) गेलि कामिनि गजहु गामिनि
विहसि पालट नेहारि	विहसि पलटि निहारि।
(५) चान्द दिनहि दीन हीना	(५) चाँद दिनहि दिन हीना
से पुन पालटि त्तणे त्तणे त्तीणा	से पुन पलटि खन खन खीना
(६) एके धनि पदुमिनी, सहजहि छोटी	(६) एके धनि पदुमिनि सहजहि छोटि
करे धरइते करु ना कोटी	करे धरइते करुणा कोटि

इस तरह अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

वसुमती साहित्यमन्दिर के द्वारा प्रकाशित विद्यापतिपदावली (वैष्णव महाजन-पदावली द्वितीय खण्ड) की भूमिका (पृष्ठ ३) में बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त लिखते हैं—"विद्यापति संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् थे—यह सब कोई जानते हैं। मैथिली में गाना या कविता लिखने के समय विद्यापति ने संस्कृत-लिपिप्रणाली का अनुसरण नहीं किया है। कविताओं को लिपिप्रणाली प्राकृत-लिपिप्रणाली के अनुसार है। 'कीर्तिलता' में विद्यापति अपने को 'विज्जावइ' कहते हैं।

विद्यापति की गीतावली में अनेक जगह 'पेख' (देखना) शब्द व्यवहृत हुआ है। 'पेखन' संस्कृत 'प्रेक्षण' शब्द से बना है। अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला कहती है—"किंणु क्खु इमं जनं पेक्खिअ" अर्थात् क्यों इसको देखकर। तालपत्र की पुस्तक

में जैसी लिपिप्रणाली मिली है वही शुद्ध लिपिप्रणाली है, किसी प्रकार के परिवर्तन किये जाने पर अशुद्धि हो जायगी। जिस जगह संस्कृत में मूर्धन्य 'ण्' लिखा जाता है उस जगह बहुधा पदावली में दन्त्य 'न्' मिलता है। संस्कृत के अनुसार तीन सकार नहीं पाये जाते हैं। मृच्छकटिक नाटक में राजा के साले का नाम शकार था; क्योंकि वह तालव्य शकार के अतिरिक्त किसी दूसरे सकार का उच्चारण नहीं कर सकता था। बंगाल में भी यह बात है। हमलोग लिखते हैं शुद्ध, किन्तु हमलोगों का उच्चारण अशुद्ध होता है। विद्यापति की पदावली में संस्कृत लिपिप्रणाली या उच्चारण का अनुसरण नहीं किया गया है। श्याम के स्थान में 'साम' लिखा जाता है और दन्त्य 'स' का उच्चारण भी 'स' होता है। मूर्धन्य 'ष्' के स्थान में 'ख' लिखा जाता है। इस समय भी मिथिला में, बिहार में और अयोध्या में 'ष्' का 'ख्' के समान उच्चारण होता है। अनेक समय दीर्घ 'ऊ' तथा 'ई' के स्थान में क्रमशः ह्रस्व 'उ' तथा 'इ' पाये जाते हैं; जैसे सुन्दरी के स्थान में सुन्दरि। परिवर्तन करने पर भूल हो जायगी। पदावली में मात्रा वृत्त (छन्द) हैं। शब्द की मात्राओं में जरा-सा भी परिवर्तन कर देने पर उनकी रक्षा नहीं हो सकेगी। पदों का संशोधन करने के समय, हमारे देश (बंगाल) के पण्डितों को स्मरण रखना चाहिये कि विद्यापति उनकी अपेक्षा कहीं बड़े पण्डित थे। प्राचीन लिपिप्रणाली तथा उच्चारण की रक्षा करना ही पदों के शुद्ध करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

कोमल तथा मधुर प्रयोग

मिथिला के यशस्वी कवि विद्यापति के पदों की तरह कोमल तथा मधुर प्रयोग खोजने पर भी कहाँ मिलेगा ? वैष्णव काव्यों में जो अतुलनीय शब्दलालित्य सुरक्षित है, विद्यापति ने ही उसकी सृष्टि की थी। केवल विद्यापति ही जानते हैं कि किस कौशल से या किस प्रकार उन्होंने उन शब्दों की अन्तर्निहित कोमलता और मधुरता का आविष्कार किया था। विद्यापति के सब ही पद इसके उदाहरण हैं। उदाहरण के रूप में यदि पद उद्धृत किये जायँ तो सारी पदावली ही उद्धृत कर देनी पड़ेगी, तथापि यह दिखलाना आवश्यक है कि मधुर प्रयोग के उद्देश्य से शब्दों में किस प्रकार परिवर्तन हुए हैं। बंगाल में उन पदों को शुद्ध कर अरसिक पण्डितों ने कोमलता विनष्ट कर दी है। गीतावली से मैं नीचे अनेक मधुर शब्दों को उद्धृत करता हूँ। आइ—आज; गुणमति—गुणवती; गरुअ--गुरु; तीख—तीक्ष्ण; अनइत--अनायत्त; पचवान--पञ्चवाण; पवार--प्रवाल; पहु—प्रभु; गीम—ग्रीवा; चकेबा—चक्रवाक; दिठि—दृष्टि; दुलह—दुर्लभ; पेम—प्रेम; पसाइन—प्रसाधन; उमत--उन्मत्त; विहि—विधि; धनि--धन्य; रेहा--रेखा। इस तरह कितने उदाहरण दिये जायँ ? सब जगह शब्दों की कोमलता और मधुरता स्पष्ट है। सब से पहले विद्यापति ने ही 'स्नेह' शब्द को 'नेह' आकार दिया।"

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने खूब छानबीन की है और विशुद्ध पाठ की

रक्षा के लिये भरपूर चेष्टा की है। आपके ही भगीरथ-प्रयत्न का यह फल है कि विद्यापति के ८४० पद इस समय उपलब्ध हो रहे हैं। मुझे यह कहने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं है कि आज तक विद्यापति के ऊपर जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन सब का आधार आपकी पदावली ही है। अदम्य उत्साह के साथ छः वर्षों तक कठिन परिश्रम करने के कारण आपकी जितनी प्रशंसा की जाय वह कम है। इस कार्य के लिये हिन्दी-संसार और मैथिली-संसार आपका चिर-ऋणी है।

इस कार्य में स्वर्गीय महाराजाधिराज (दरभंगा) सर रमेश्वर सिंह से आपको अमूल्य सहायता मिली थी। आपने कई एक रूपों में गुप्तजी की सहायता की थी--(१) गुप्तजी के लिये मिथिला में प्रचलित पदों का संग्रह करवाया था (उन पदों के नीचे "मिथिलार पद" लिखा है)। (२) मैथिली के विशेषज्ञ, कविवर चन्दा झा विद्यापति के कठिन पदों और अंशों की व्याख्या तथा शब्दशास्त्र (Philology) सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये नियुक्त किये गये थे। (३) खोज करने पर विद्यापति-लिखित, श्रीमद्भागवत के साथ तालपत्र पर लिखी हुई 'विद्यापति-पदावली' मिली थी। उसमें ३५० पद थे – प्रथम दो पत्र नहीं थे, ९, ८१ से ९९ तक और १०३ पृष्ठ नहीं थे। इसका अन्तिम पृष्ठ १३२ था। इसके बाद का अंश उपलब्ध नहीं हो सका। पुस्तक देखने से ही पता चलता था कि वह पुस्तक ३०० वर्षों से भी अधिक की पुरानी थी। उक्त महाराजाधिराज ने पुस्तकाध्यक्ष से

पुस्तक माँगकर बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त को दे दी। इस पुस्तक में प्रायः सब जगह ण् स्थान में न्, य् के स्थान में ज्, श् के स्थान में स्, च् और ष् के स्थान में ख् आदि पाये जाते हैं। बंगाल में जनु और जनि समानार्थक शब्द माने जाते थे, किन्तु इस पुस्तक से पता चला कि 'जनु' और 'जनि' दो विभिन्नार्थक शब्द हैं। 'जनु' का व्यवहार 'नहीं' के अर्थ में होता है और 'जनि' का अर्थ "मानो" या 'जैसे' होता है। इसी प्रकार विद्यापति के पदों में 'को, यो, सो' शुद्ध शब्द समझे जाते थे; किन्तु इस पुस्तक के द्वारा निश्चित रूप से यह ज्ञात हुआ कि उनके स्थान में शुद्ध शब्द 'के, जे, से' हैं। इस तरह अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए, किन्तु गुप्तजी स्वयं मैथिली नहीं जानते हैं, मिथिलाक्षर पढ़ने में भी आपको कठिनाई अवश्य हुई होगी। इसलिये आपकी पदावली में विशुद्ध पद हैं या नहीं—इस विषय में मुझे ज़रा सन्देह है। यही कारण है कि आपके पदों को समालोचना की कसौटी पर कसने का साहस करता हूँ। देखूँ, इस प्रकार इनकी चमक बढ़ती है या कहीं-कहीं काले दाग़ भी निकल आते हैं। इतनी सहायक सामग्रियों की सहायता से पदावली के सम्पादन करनेवाले गुप्तजी की समालोचना के लिये मेरे पास भी कुछ सामग्रियाँ हैं। वे ये हैं:—

---

(१) पुस्तक प्रकाशित होने के कई एक बरस बाद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने वह (तालपत्र) पुस्तक सर आशुतोष मुखोपाध्याय को दी। यह कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में थी। प्रोफेसर खगेन्द्रनाथ मित्र उक्त पुस्तकालय से ले गये, किन्तु दुर्भाग्यवश वह पुस्तक खो गई। इस समय वह अप्राप्य हो गई है।

(१) मुझे भी तालपत्र पर लिखी हुई विद्यापति-पदावली की खण्डित तथा प्राचीन प्रति मिली है जिसके ८५ पद अभी तक पढ़े गये हैं। उनके पाँच पद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित पदावली में भी हैं, अतिरिक्त अस्सी पद एकदम नये हैं। आज तक किसी ने इन पदों का प्रकाशन नहीं किया है। ये पद हिन्दी या बँगला के किसी भी विद्वान् को ज्ञात नहीं हैं। इस प्राचीन पुस्तक की सहायता से मैथिली की प्राचीन भाषा तथा लिपिशैलियाँ ज्ञात होती हैं। (२) मैथिली और संस्कृत का पूरा ज्ञान। इन्हीं सामग्रियों के द्वारा मैं कुछ पदों की परीक्षा करना चाहता हूँ। परीक्षा करने का एकमात्र उद्देश्य विशुद्ध पाठ सुरक्षित रखने की चेष्टा है, न कि किसी भी विद्वान् संपादक के विरुद्ध आवाज उठाना, या अपनी विद्वत्ता दिखलाना।

पुस्तक खोलने पर जो ही पद पहले पहल नजर आया वही पद नीचे उद्धृत किया जाता है और उसकी परीक्षा की जाती है।

कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहहि न पारिअ
छओ अनुपम एक ठामा॥ २॥
हरिन, इन्दु, अरविन्द, करिणि, हिम
पिक बूझ अनुमानी।
नयन, वयन, परिमल, गति, तनुरुचि
अओ अति सुललित बानी॥ ४॥
कुच युग पर चिकुर फुजि पसरल
ता अरुझायल हारा।

जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद विहुन सबे तारा ॥ ६ ॥
लोल कपोल ललित माल कुण्डल
अधर विम्ब अध जाइ ।
भौंह भमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाइ ॥ ८ ॥
भनइ विद्यापति से वर नागरि
आन न पावए कोइ
कंसदलन नारायण सुन्दर
तसु रङ्गिनी पए होइ ॥ १० ॥

रागतरङ्गिणी (दरभंगा राज प्रेस द्वारा प्रकाशित) में "छओ अनुपम एक ठामा" की जगह "छओ अनुपम एक वामा" पाठ है। दोनों का अर्थ समुचित है। इसलिये यह कहना कठिन है कि दोनों पाठों में कौन सा विशुद्ध है।

(१) गुप्तजी कहते हैं (भूमिका पृष्ठ २।।।) कि संस्कृत में ऋ, र्, और ष् के बाद ण होता है; किन्तु पदावली में इस नियम का अनुसरण नहीं किया गया है। इसमें 'ण' का प्रयोग विरले ही होता है। 'चरण' के स्थान में 'चरन' लिखा जाता है। रागतरङ्गिणी में "हरिन इन्दु अरविन्द करिनि" पाठ है, किन्तु गुप्तजी ने संस्कृत व्याकरण के नियम के अनुसार 'करिणि' बना दिया। प्राचीन मैथिली-लिपि में न्, ण् और ल् में इतनी समानता है कि लेखक के द्वारा इस तरह की भूल हुई हो—यह सर्वथा संभव है। इसलिये 'करिणि' पाठ विशुद्ध नहीं मालूम पड़ता है।

(२) रागतरङ्गिणी में "पिक बूफल अनुमानी" पाठ है। गुप्तजी के 'पिक बूफ अनुमानी' में छन्दोभङ्ग होता है। संभव है कि लेखक के दोष से 'ल' छूट गया हो।

(३) रागतरङ्गिणी में 'कुच युग उपर' पाठ है। छन्द के अनुरोध से भी 'पर' की जगह उपर होना अच्छा मालूम पड़ता है।

(४) "जनि सुमेरु उपर मिलि उगल" की जगह रागतरङ्गिणी में "जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल" है। छन्द के अनुरोध से भी यही पाठ अच्छा जँचता है। गुप्तजी भूमिका में लिखते हैं कि तालपत्र की पुस्तक के कई एक अंश उड़ गये थे। संभव है कि इन स्थानों में भी अक्षर अस्पष्ट हों। अच्छा होता कि गुप्तजी अस्पष्ट अक्षरों के स्थान में कुछ चिह्न दे देते या टिप्पणी में बतला देते कि ये अक्षर अस्पष्ट थे। इससे अनुसन्धान करनेवाले छात्रों (Research-Scholar) को बड़ा लाभ होता।

(५) रागतरङ्गिणी में 'चाँद विहुनि सबे तारा' है, किन्तु गुप्तजी की पदावली में 'चाँद विहुन सबे तारा' है। तालपत्र के अध्ययन से प्रामाणिक रूप से ज्ञात होता है कि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के विशेषणों में स्त्रीलिङ्ग का चिह्न हर जगह पाया जाता है; जैसे:—(१) मोहि बड़ि लाज (२) तरनि अस्त भेल, चान्द उदित भेल, अति ऊजरि निसा देखी। लाज (लज्जा) स्त्रीलिङ्ग है; इसलिये उसका विशेषण स्त्रीलिङ्ग 'बड़ि' है। अर्वाचीन मैथिली में 'बड़ लाज' बोलते हैं, किन्तु विद्यापति इस तरह के विशेषणों का व्यवहार नहीं करते थे। निसा (सं० निशा) स्त्रीलिङ्ग है। यही कारण है कि उसका विशेषण 'ऊजरि' भी

स्त्रीलिङ्ग है। इस प्रकार तारा का विशेषण 'विहुनि' होना चाहिये, न कि 'विहुन'।

(६) प्राचीन ताल-पत्र के बारंबार पढ़ने पर ज्ञात हुआ है कि प्राचीन तालपत्र में कई एक स्थानों में 'इ' अस्पष्ट है और वह 'आ' की तरह दिखाई पड़ती है; जैसे 'सखि' 'साख' की तरह दिखलाई पड़ता है। अभ्यास होने पर इन दोनों का अन्तर सरलता से ज्ञात हो जाता है। इस तरह "ललितमाल-कुण्डल" के स्थान में "ललितमणिकुण्डल" होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। मिथिलाक्षर में ल् और ण् में इतनी समानता है कि ण् की जगह ल् पढ़ा जाना असंभव नहीं है। अस्पष्ट 'इ' ही आ के रूप में पढ़ी गई है। इस तरह यह शब्द मणि है, न कि माल। यही कारण है कि अर्थ में अनर्थ किया गया है। कुण्डल का अर्थ कुन्तल (केश) कर "ललित माला, कुन्तल कपोले लोलायमान" अर्थ किया गया है। मेरे विचार से इसका अर्थ है—कपोल (गाल) पर मणि का बना हुआ सुन्दर कुण्डल चञ्चल (झूलता) है। ठीक इसी तरह का वर्णन जयदेव ने भी किया है "केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुग-स्मितशाली" (पृष्ठ ३०, पद २)। अभिनव जयदेव के लिये जयदेव का अनुकरण करना स्वाभाविक है। जयदेव ने दूसरी जगह भी इस तरह का वर्णन किया है—"मणिमयमकरमनोहर-कुण्डल-मण्डितगण्डमुदारम्" (पृष्ठ ४१)।

(७) गुप्तजी ने बारंबार कहा है कि प्राचीन लिपि-प्रणाली तथा उच्चारण की रक्षा करना ही पदों के शुद्ध करने का सर्वश्रेष्ठ

उपाय है। मुझे तालपत्र की पुस्तक में 'नारायण' का वर्ण-विन्यास (Spelling) 'नरायण' (पद ६४, पृष्ठ २०), 'नराएन' (पद ४१, १०१, १८७, १८८, ३०५, ३९९, ४००, ४०२, ४०४, ४११) और 'नाराञेन' (पद, ३० पृष्ठ १०) के रूप में मिला है। केवल एक जगह नरायन (पद ४०४ ख) भी मिला है। इससे ज्ञात होता है कि 'नरायन' सबसे अधिक प्रचलित लिपि-प्रणाली थी, किन्तु नरायण, नरायन या नाराञेन भी लिखा जाता था। शुद्ध संस्कृत रूप 'नारायण' कहीं भी नहीं मिलता है। इसलिये 'नारायण' विशुद्ध पाठ नहीं मालूम पड़ता है। संभव है कि इसकी जगह नाराएन या नाराञेन हो। राजतरङ्गिणी में 'नाराएन' पाठ है।

(८) गुप्तजी का कहना है "अनेक समय विद्यापति के पदों में दीर्घ 'ऊ' तथा 'ई' के स्थान में ह्रस्व उ तथा इ पाये जाते हैं; जैसे सुन्दरी के स्थान में सुन्दरि। परिवर्तन करने से भूल होगी। पदावली में मात्रावृत्त हैं। शब्दों की मात्राओं में ज़रा-सा भी परिवर्तन कर देने पर उनकी रक्षा नहीं हो सकेगी।" प्रमाण के रूप में अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं। इस पद में "तसु रङ्गिनी पए होइ" पाठ रहने पर छन्दोभंग हो जाता है। इसलिये गुप्तजी के और और उदाहरणों की तरह यहाँ भी ह्रस्व 'इ' होना चाहिए। इस प्रकार "तसु रङ्गिनि पए होइ" पाठ उचित मालूम पड़ता है। राजतरङ्गिणी में "तासु रमनि पए होइ" पाठ है।

इस प्रकार यदि एक ही पद में आठ शब्द ऐसे हों जो सम्पादक के ही नियमानुसार अशुद्ध से मालूम पड़ते हों तो उन

पदों के संग्रह को 'विशुद्ध पदावली' कहना मुझे युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है।

वङ्गीय साहित्यपरिषद् के द्वारा प्रकाशित गुप्तजी की पदावली अप्राप्य-सी हो रही थी--यह देख सन् १३४२ फसली में वसुमती-साहित्य-मन्दिर ने उक्त पदावली का प्रकाशन किया है। इसका संशोधन उन्हीं बंगाली विद्वानों के हाथ हुआ है जिन्होंने विद्यापति का अध्ययन एकदम नहीं किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्राकृत शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द बना दिये गये हैं, जैसे न् के स्थान में ण्, स् के स्थान में श्, ख् के स्थान में क्ष्, ज् के थान य् आदि। गुप्तजी के शब्दों में मैं भी यही कहूँगा कि प्राचीन लिपिप्रणाली तथा उच्चारण की रक्षा करना ही विशुद्धता की रक्षा करना है। "युगल शैल सीम हिमकर देखल" "भणइ विद्यापति", "क्षण भरि नहि रह गुरुजन माँझे" "शुनह नागर" आदि पदों में ज् के स्थान में य्, स् के स्थान में श्, ह्रस्व के स्थान में दीर्घ, न् के स्थान में ण्, ख् के स्थान में क्ष् और स् के स्थान में श् पाये जाते हैं। इसमें एक भी ऐसा पद नहीं है जिसमें इस तरह की अशुद्धियों की भरमार न हो। गुप्तजी ने बंगाल के उन पण्डितों की कड़ी समालोचना की है जिन्होंने संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार विद्यापति के पदों का संशोधन किया है, किन्तु दुर्भाग्यवश, गुप्तजी की पदावली (वसुमती-साहित्य-मन्दिर द्वारा प्रकाशित) का भी संशोधन उसी श्रेणी के पण्डितों के द्वारा हुआ है जिस का परिणाम यह हुआ है कि गुप्तजी ने जिन अशुद्धियों के कारण पदों को अशुद्ध बताकर

उनकी कड़ी समालोचना की है ज्यों-की-त्यों वे ही अशुद्धियाँ आप की पदावली में भी पाई जाती हैं। उदाहरण के रूप में नीचे कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं—

(१) 'गेली कामिनी गजहु गामिनी'
(२) रसवती रमणी रतन धनी राइ
रास रसिक सह रस अवगाइ
(३) चान्द दिन हि दिन हीना
से पुनि पालटि च्चणे च्चणे च्चीणा

इस प्रकार विरला ही कोई पद मिलेगा जिसमें संस्कृत व्याकरण के अनुसार परिवर्तन किये जाने के कारण कम से कम आठ, दस शब्दों में प्राचीन पाठ की अवहेलना नहीं की गई हो। तुअ के स्थान में तुय, पिआ के स्थान में पिया, जाइ के स्थान में याइ, सुन के स्थान में शुन, जव के स्थान में यव आदि अशुद्धियाँ तो पद-पद पर पाई जाती हैं। उदाहरण के रूप में एक प्रचलित पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

कामिनी करय सनाने
हेरितहि हृदय हनय पचवाने॥ १ ॥
चिकुर गलय जलधारा
जनि मुखशशी डरे रोय अन्धारा ॥२॥
तितल वसन तनु लागु
मुनिहु क मानस मनमथ जागु ॥ ३ ॥
कुचयुग चारु चकेवा
निजकुल मिलत आनि कोने देवा ॥ ४ ॥
तें शङ्काञे भुजपाशे
बाँन्धि धयल उड़ि जाएत अकाशे ॥ ५ ॥

भनइ विद्यापति गावे

गुणमती धनि पुनमत जनि पावे ॥ ६ ॥

यह पद अतिप्रसिद्ध है। मिथिला में विवाह के बाद दुलहिन के स्नान करने के समय यह पद गाया जाता है। यह पद राग-तरङ्गिणी में भी है। गुप्तजी को यह पद तालपत्र की पुस्तक में भी मिला था। वङ्गीय-साहित्य-परिषद् के द्वारा प्रकाशित पदावली में 'कामिनि' ह्रस्व 'इ' थी, किन्तु इस नवीन संस्करण में दीर्घ 'ई' बना दी गई जिससे छन्दोभंग हो गया है। प्राचीन संस्करण में हृदअ (प्राकृत रूप) था जिसकी जगह नवीन संस्करण में हृदय (संस्कृत शब्द) बना दिया गया है। करय, गरय आदि शब्दों का वर्णविन्यास प्राचीन तालपत्र की पुस्तक में करए, गरए आदि पाया जाता है, किन्तु इस पदावली में गरए के स्थान में गलय हो गया। प्राचीन संस्करण के शुद्ध शब्दों के स्थान में अशुद्ध शब्द घुसेड़ दिये गये हैं, जैसे ससि, रोअए, निअ, जुग, पासे, बाँधि, गुनमति, जन के स्थान में क्रमशः शशि, रोय, निज, युग, पाशे, बाँन्धि, गुणमती, और जनि शब्द बना दिये गये हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण पदों का संशोधन इस तरह असावधानी से किया जाय—यह बड़ा ही शोचनीय विषय है। इस प्रकार मैं इस परिणाम तक पहुँचता हूँ कि भरपूर चेष्टा करने पर भी गुप्तजी के द्वारा संपादित पदावली के प्रथम संस्करण में भी अनेक शब्द संदिग्ध हैं और कुछ शब्द अशुद्ध-से भी मालूम पड़ते हैं। द्वितीय संस्करण में तो अशुद्धियों की भरमार ही है। इसलिये उस (द्वितीय संस्करण के) आधार

पर तो किसी तरह की आलोचना हो ही नहीं सकती--इस स्पष्ट-वादिता के लिये गुप्तजी मुझे क्षमा करें।

इसके बाद बाबू व्रजनन्दन सहाय की बारी आती है। आपके द्वारा संपादित "मैथिल कोकिल अर्थात् विद्यापति" का प्रकाशन आरा नागरी-प्रचारिणी सभा ने किया था। उस पदावली की भूमिका में सहायजी लिखते हैं—"विद्यापति के अनेक संस्करण वंग-भाषा में हैं, किन्तु हमलोगों के पाठ एवं अर्थ में अनेक स्थानों में उनसे तथा श्रीमान् ग्रियर्सन साहिब के संस्करण से बहुत कुछ प्रभेद है। अन्यस्थानीय होने के कारण बहुत-से हिन्दी पद्यों तथा शब्दों के उच्चारण एवं अर्थ समझने में उन महाशयों को कठिनता हो गई है। अतएव उनलोगों ने उन्हें अपने ढंग से लिख डाला है। हिन्दी शब्दों से पूर्ण परिचय नहीं रहने के कारण उन संस्करणों के गीतों में कहीं-कहीं छन्ददोष भी रह गया है।........................। मैंने यथासाध्य इन त्रुटियों के सुधारने तथा इन दोषों से बचने की चेष्टा की है।" (मैथिल कोकिल की भूमिका पृष्ठ ३)।

आपकी भूमिका से ही ज्ञात होता है कि किसी प्राचीन पुस्तक के आधार पर आपकी पदावली प्रकाशित नहीं हुई थी। इधर उधर से पदों का संग्रह कर आपने पदावली प्रकाशित कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि लिपिप्रणाली की जरा भी रक्षा नहीं हो सकी। धावल, गाय (जाता है), पड़ु (पढ़ता है), तुव (तुअ के स्थान में), जौमति (जौवति), शिवसिंह, युवती (जुवती), विधि (विहि), गृम (गिम), नेल (लेल), यक

(एक), अगेयानी (अगेआनी), याव (जांव), सो (से) भनय (भनइ), हांस (हास), आनत (अनत = अन्यत्र), नहीं (नहि), पुनतम (पुनमत) आदि सैकड़ों वर्णविन्यास की अशुद्धियाँ हैं। कतना, देखली, करथ यह, देगेली—आदि दूसरी भाषाओं के शब्दों का भी व्यवहार किया गया है। पाठकों के परिचय के लिये मैं नीचे एक पद उद्धृत करता हूँ—

ससन परस खसु अम्बर रे देखलों धनी देह।
नव जलधर तरे संचर रे जनि बिजुरी रेह॥
आज देखलों धनि जाइत रे मोहि उपजल रंग।
कनकलता जनु सञ्चर रे महि निर-अवलंभ।
ता पुन अपरुब देखलों रे कुचयुग अरविन्द।
बिगसित नहिं किंयु कारण रे सोझा मुखचन्द।
देवसिंह नृप नागर रे हासिनि दइ कन्त।

तालपत्र की प्राचीन पुस्तक से ज्ञात होता है कि उत्तम पुरुष (First person) के एकवचन में 'ल' या 'हुँ' लगाया जाता है। निम्नलिखित पदों में दोनों तरह के प्रयोग पाये जाते हैं।

(१) तह्वि पठओलाहुँ तोहर ठाम (पद ५८)
(२) सपने देखल हरि (रागतरङ्गिणी)
(३) गेलाहुँ पुलके पुरि (,, ,,)
(४) ससरि स अनसिम हरि गहलिहुँ गिम (पद ३०५)

इस से निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्राचीन मैथिली के भूतकाल की विभक्ति 'ल' या 'हुँ' है, न कि लों। इसलिये देखलों (तीन वार) विशुद्ध शब्द नहीं है। करता हुआ', 'जाता हुआ' आदि

अर्थों में 'करइत', 'जाइत' आदि शब्दों का व्यवहार पाया जाता है न कि करइल, जाइल आदि; क्योंकि 'ल' भूतकाल की विभक्ति है। फिर न जाने और पुस्तकों का पाठ 'जाइत' 'जाइल' के रूप में क्यों बदल दिया गया। मैथिली में 'नहि' में अनुस्वार नहीं पाया जाता है। तालपत्र की पुस्तक में कहीं भी अनुस्वार नहीं है। इसलिये मेरी राय में अनुस्वार लिखना ठीक नहीं है। इस पद में 'प्रेम' के अर्थ में 'रंग' शब्द का व्यवहार किया गया है जिसको सहायजी ने 'रंभ' के रूप में परिणत कर दिया। रंभ शब्द को 'रम्य' का अपभ्रंश मानकर उसका अर्थ रम्य भाव किया गया है। आप ही जानें कि किस आधार पर यह परिवर्तन किया गया है। इसके साथ तुकबन्दी के लिये दूसरा भी मनमाना परिवर्तन करना पड़ा। अर्थ 'अवलम्ब' ही किया गया है, किन्तु शब्द बना दिया गया 'अवलंभ'। 'किछु कारण' के स्थान में 'किंयु कारण' पाया जाता है। 'किंयु' मैथिली का शब्द नहीं है। अर्वाचीन मैथिली में तो इस शब्द का व्यवहार ही नहीं होता है। प्राचीन मैथिली में भी विद्यापति, उमापति, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि कवियों में किसी ने इसका व्यवहार नहीं किया है। इसलिये इस प्रकार नये शब्दों की रचना कर उनके द्वारा विशुद्ध पाठ की रक्षा नहीं हो सकती है। 'देवी' का प्राकृत रूप 'देइ' है न कि दइ, विशेषतः छन्द के अनुरोध से यहाँ 'देई' होना चाहिये। इनके अतिरिक्त रागतरङ्गिणी में 'ससन परसें' इस पद का पहला शब्द है। मैथिली में, विशेषतः विद्यापति की मैथिली में करण कारक की विभक्ति 'एं' है। इसलिये 'ससन परसें' होना युक्ति-

युक्त प्रतीत होता है। हिन्दी के 'चिराग़ तले अन्धेरा' आदि वाक्यखंडों में 'तले' शब्द का भले ही व्यवहार किया जाय, किन्तु मैथिली (प्राचीन या अर्वाचीन) में तलें या तरे नहीं होता है। इसलिये 'जलधरतरे' के स्थान में 'जलधरतर' होना चाहिये। यही पाठ 'रागतरङ्गिणी' में भी पाया जाता है। इस प्रकार एक एक पद में बारह या उनसे भी अधिक अशुद्धियों के रहने पर यह पदसंग्रह विशुद्ध पदावली कहलाने का दावा किस प्रकार कर सकता है?

डा० ग्रियर्सन ने भी लोगों से सुनकर ही पदों का संग्रह किया था। आपने किसी प्राचीन पुस्तक की सहायता नहीं ली थी। इसलिये आपकी भी लिपिप्रणाली इसी श्रेणी की है।

पुस्तक-भंडार (दरभंगा) के द्वारा प्रकाशित बाबू रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी' द्वारा संपादित पदावली के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आपने अर्वाचीन मैथिली से सहायता ली है और उसकी सहायता से अनेक संशोधन तथा परिवर्तन किये हैं। उदाहरण के रूप में मैं एक पद का अंश नीचे उद्धृत करता हूँ—

नन्दक नन्दन कदंबेरि तरुतरे धीरे धीरे मुरलि बोलाव।

(बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली)

बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में 'कदंबेरि' पाठ है। मैथिली (प्राचीन[1] तथा अर्वाचीन) में केवल सर्वनामों के बाद संबन्ध का चिह्न 'र' होता है; जैसे जकर, तकर, हमर, तोहर

---

१ तालपत्र की पुस्तक में

(१) 'संसारेरि भाव' भी पाया जाता है।

आदि। संज्ञाओं के वाद संवन्ध का चिह्न 'क' होता है, जैसा कि इसी पद के 'नन्द क' और 'जमुना क' शव्दों से ज्ञात होता है। सहायजी को यह खटका। आपने वोलचाल की मैथिली के आधार पर 'कदम क' वना दिया। शर्माजी को यह नहीं जँचा। आपने संस्कृत शव्द 'कदम्ब' ही रक्खा, किन्तु विभक्ति 'क' लगाई। इस प्रकार आपने 'कदंवेरि' के स्थान में 'कदम्वक वना दिया। इस तरह अर्वाचीन मैथिली और संस्कृत की खिचड़ी पकाने से विशुद्ध पाठ सुरक्षित रहना असंभव है। रागतरङ्गिणी में 'कदवेरि' पाठ है जिसका अर्थ 'कई वार' मालूम पड़ता है। इन मनमाने पाठों में कौन सा पाठ अच्छा है—यह वतलाना मुश्किल है।

अभी तक तीन पद उद्धृत किये गये हैं—(१) वङ्गीय साहित्य-परिषद् की पदावली से (२) वसुमती साहित्य-मन्दिर के द्वारा प्रकाशित पदावली से और (३) आरा-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "मैथिल कोकिल" से।

शर्माजी की पदावली में प्रथम पद में 'कहहि' या 'कहय' के स्थान में 'कहए' पाठ है। प्राचीन तालपत्र की पुस्तक में इस तरह का वर्णविन्यास पाया जाता है। इसलिये इस विषय में मुझे कुछ भी नहीं कहना है। आपने हिम के स्थान में 'हेम' वना दिया। अर्थ के अनुसार यह परिवर्तन युक्तियुक्त प्रतीत होता है, किन्तु इस परिवर्तन से 'छन्दोभंग' दोष अवश्य हो जाता है। तोड़-मरोड़कर कोमल वनाये हुए शव्दों के अनेक प्रयोग विद्यापति की पदावली में पाये जाते हैं। इसलिये "हिम" रहना ही वाञ्छनीय है। आपने 'कुचजुग उपर चिकुर फुजि

पसरल' की जगह "कुचजुग परसि चिकुर फुजि पसरल" बना दिया है। इसकी व्याख्या आपने इस प्रकार की है "दोनों कुचों से स्पर्श करते हुए, केश खुलकर छिटके हुए हैं जिनसे (मुक्ता की) माला उरझी हुई है, मानों सुमेरु पर्वत पर चन्द्रमा को छोड़कर (क्योंकि केशरूपी अन्धकार है) सब तारे मिलकर उगे हों।" मैथिली में 'परसि' पूर्वकालिक क्रिया है। इस प्रकार शब्दार्थ होगा "स्पर्श कर" न कि स्पर्श करते हुए जिस प्रकार कि आपने व्याख्या की है। छिटकने में स्पर्श से कोई लाभ नहीं होता है। इसलिये इस प्रकार की व्याख्या और परिवर्तन मुझे नहीं जँचते हैं। जिस प्रकार उपमान वाक्य में 'सुमेरु पर सब तारे उगे हैं' वर्णन है उसी प्रकार उपमेय वाक्य में 'कुचजुग के ऊपर केश छिटके हैं' रहना अच्छा मालूम पड़ता है। 'दोनों कुचों को स्पर्श करते हुए' कहकर यही अर्थ प्रगट करने में 'उक्तिबैचित्र्य' भी नहीं मालूम पड़ता है जिस कारण भी यह परिवर्तन क्षम्य होता। इसलिये रागतरङ्गिणी का पाठ 'कुचजुग उपर' बदलकर 'कुचजुग परसि' बनाना मुझे अच्छा नहीं मालूम होता है। "विहिन सब तारा" की जगह "विहिनु सब तारा" बना दिया गया है। पहले उदाहरणों के साथ यह बतलाया जा चुका है कि विशेषणों में भी स्त्रीलिङ्ग का चिह्न रहता है। इसलिये 'विहिनि' विशुद्ध पाठ बदलकर उसके स्थान में 'विहिनु' बनाने का कोई भी कारण मुझे नहीं दिखाई पड़ता है। प्राचीन तालपात्र की पुस्तक में 'आइ, जाइ, लजाइ' आदि शब्दों में ह्रस्व इकार पाया जाता है। हिन्दी में व्यवहृत 'कोई' शब्द के आधार पर इन शब्दों

में दीर्घ 'ई' वना दी गई है। रागतरङ्गिणी में भी ह्रस्व 'इ' है। यह भी पहले वताया जा चुका है कि "तसु रंगिनि पए होइ" शुद्ध पाठ है। शर्माजी ने 'छन्दोभङ्ग' दोप की अवहेलना कर 'रङ्गिनी' शव्द (दीर्घ, ई) वना दिया है।

दूसरे पद में 'मुखससि डरें' रागतरङ्गिणी का पाठ है। शर्माजी ने डरें के स्थान में 'डर' वना दिया। मैथिली में अकारान्त शव्दों के वाद तृतीया का चिह्न 'एं' है। इसलिये 'डरें' होना युक्ति-सङ्गत भी मालूम पड़ता है। इसी प्रकार 'तें सङ्काब्वे भुजपासे' के स्थान में 'तें सङ्का भुजपासे' वना दिया गया है। यहाँ भी वही कारण है। आकारान्त शव्दों के वाद तृतीया का चिह्न 'ब्वे' है। कोई कारण नहीं है कि वह हटा दिया जाय।

तृतीय पद में 'ससन परसें' के स्थान में 'ससन परस' वना दिया गया है, विभक्ति का लोप कर दिया गया है। 'हासिनि देइ कन्त' में छन्द के अनुरोध से 'देइ' के स्थान में 'देई' होना चाहिये। रागतरङ्गिणी में तो 'देवी' पाठ है।

इस प्रकार यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस तरह की अशुद्धियों के रहते किसी भी पदावली को विशुद्ध पदावली नहीं कह सकते हैं और न कोई पदावली विशुद्ध पदावली कहलाने का दावा ही कर सकती है।

विद्यापति के पदों की व्याख्या

केवल पदों के पाठ में ही अशुद्धियाँ नहीं हैं, कहीं-कहीं मनमानी व्याख्या भी की गई है। वावू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अनेक उदाहरणों के द्वारा प्राचीन संग्रहकारों के पाठदोष तथा व्याख्या-

दोष दिखलाये हैं। वे संग्रह[1] उपलब्ध नहीं होते हैं। इसलिये उनकी समालोचना करना व्यर्थ है। यहाँ बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली से ही एक-दो पद उद्धृत किये जाते हैं और उनकी व्याख्या की ओर पाठकों की दृष्टि आकृष्ट की जाती है—

जौवन रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर कएल मुरारि॥
अब भेल झाल कुसुम सबे छूछ।
वारि-बिहुन सर केओ नहि पूछ॥

इस पदांश में गुप्तजी 'झाल' शब्द का अर्थ 'कटु, गन्धशून्य' करते हैं। मेरे विचार में कटु (कड़वा) और गन्धशून्य—दोनों समानार्थक शब्द नहीं हैं; क्योंकि कटु में उत्कट गन्ध होती। बँगला में 'झाल' शब्द का अर्थ भले ही कड़वा होता हो, किन्तु मैथिली में झाल शब्द का व्यवहार इस अर्थ में नहीं होता है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्णनरत्नाकर' और विद्यापति के पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अर्वाचीन मैथिली के 'ड' के स्थान में प्राचीन मैथिली में 'ल' होता था जैसे दाड़िम के स्थान में दालिम। इस तरह के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। इसलिये मेरी राय में झाल की आधुनिक मैथिली झाड़ है और उसका अर्थ पतझड़ है। इस तरह इस पदांश का अर्थ यह है—"चार दिनों (कुछ ही समय) तक यौवन और सौन्दर्य थे जिन्हें देख कर मुरारि ने मेरा आदर किया। इस समय पत्त-झड़ हुई है, सब फूलों के पेड़ ठूँठ हो गये हैं। जल से रहित सरोवर को कौन पूछता है? इस समय मेरे पास यौवन नहीं है, फिर मुझे

(१) केवल अक्षयचन्द्र द्वारा प्रकाशित पदावली मुझे मिली है।

कौन पूछता है ?" बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने "एखन कुसुम गन्ध-शून्य (ओ) सकलेर अस्पृश्य" अर्थ किया है। आपने छूछ का अर्थ 'छूत (हिन्दी) अस्पृश्य' किया है। छूछ 'खाली' के अर्थ में इस समय भी मैथिली में व्यवहृत होता है। हिन्दी में भी 'छूँछा' शब्द का भी, इसी अर्थ में, व्यवहार होता है। इसलिये कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई देता है कि 'छूछ' का अर्थ छूत किया जाय। छूत शब्द का अर्थ स्पर्श है। इस शब्द का व्यवहार बुरे ही अर्थ में होता है। इसलिये इसका अर्थ 'अस्पृश्य का संसर्ग' होता है। यहाँ "फूल गन्धशून्य हो गये और अस्पृश्य का संसर्ग हो गया" अर्थ युक्तियुक्त नहीं मालूम पड़ता है। क्योंकि अस्पृश्य के संसर्ग होने का कारण गन्धशून्य होना संभव नहीं है। इसलिये गुप्तजी की यह व्याख्या मुझे नहीं जँचती है। प्राचीन तालपत्र की पुस्तक में भी एक जगह 'झाल' शब्द मिला है वहाँ यदि 'कटु' अर्थ किया जाय तो अर्थ के बदले अनर्थ हो जायगा।

"सूखल सर, सरसिज भेल झाल, तरुनि तरनि, तरु न रहल हाल" अर्थात् सरोवर सूख गया, कमल के फूल झड़ गये या गल गये, सूर्य की किरण प्रचण्ड है, वृक्ष हरे भरे नहीं हैं।"

यहाँ भी झाल का अर्थ झाड़ या नाश है। अर्वाचीन मैथिली में भी "झाल झिलोरी" आदि वाक्य खण्डों का व्यवहार नाश अर्थ में होता है। यह एक ही पद ऐसा नहीं है जहाँ इस तरह की व्याख्या की गई है, ऐसे अनेक पद हैं, किन्तु यह संभव नहीं है कि सब के सब पद उद्धृत किये जाँय। नीचे दो-एक और भी पद उद्धृत किये जाते हैं—

चल चल सुन्दरि सुभ कर आज
ततमत करइतें नहिं होए काज।

इस पदांश में गुप्तजी ने 'ततमत' शब्द का अर्थ विलम्ब किया है। किन्तु मेरी राय में इसका अर्थ 'आगा-पीछा' है। इन दोनों पंक्तियों के बाद दो पंक्तियाँ इस तरह हैं:—

"गुरुजन परिजन डर करु दूर
बिनु साहस विधि आस न पूर।"

अर्थात् गुरुजन और परिजन का डर दूर करो, क्योंकि साहस के बिना ईश्वर आशा पूरी नहीं करते हैं। यदि 'ततमत' शब्द का अर्थ विलम्ब होता तो 'बिनु साहस' की जगह 'बिनु शीघ्रता' होना उचित था। आगा-पीछा करती हुई नायिका को साहसी बनने का उपदेश देना ही समीचीन प्रतीत होता है। अर्वाचीन मैथिली में भी तारतम्य और ततमत शब्दों का 'आगा-पीछा' अर्थ में व्यवहार होता है। तारतम्य संस्कृत शब्द है। संस्कृत में दो में एक का उत्कर्ष दिखलाने के लिये तर (तरप्) प्रत्यय का और अनेक में एक का उत्कर्ष दिखलाने के लिये तम (तमप्) प्रत्यय का व्यवहार होता है। तरतम से भाववाचक संज्ञा तारतम्य है। इस प्रकार 'यह उत्कृष्ट है या वह' अर्थात् आगा-पीछा करना तारतम्य शब्द का अर्थ है। इसी से 'ततमत' शब्द की उत्पत्ति हुई है। इस शब्द में कोई भी ऐसा प्रत्यय या प्रकृति नहीं है जिससे 'विलम्ब' अर्थ करने में आंशिक सहायता भी मिले। इसलिये गुप्तजी ने यहाँ सरासर भूल की है।

एक दूसरा भी उदाहरण लीजिये—

पिआ परवास आस तुअ पासहि तें कि बोलह जदि आन।
जे प्रतिपालक से भेल पावक इथीं कि बोलत आन॥
साजनि अघट न घटावह मोहि।
पहिलहि आनि पानि पिअतमें गहि करे धरि सोपलिहुँ तोहि।
कुलटा भए जदि पेम बढ़ाइअ तें जिवने की काज।
तिला एक रंग रमस सुख पाओव रहत जनम भरि लाज।
कुल कामिनि भए निअ पिअ विलसए अपथें कतहु नहि जाइ।
की मालति मधुकर उपभोगए किंवा लतहिं सुखाइ।
विद्यापति कह कुल रखलें रह दुतिवचने नहि काज।
राजा सिवसिंह रूपनराएन लखिमादेवि समाज।

इस पद में बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त तीसरी पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं "सखि आमार अघटन घटिवे।" गुप्तजी की राय में अघटन एक शब्द है, किन्तु गुप्तजी की व्याख्या से मैं सहमत नहीं हूँ। विद्यापति के और-और पदों पर दृष्टि डालने

---

(१) कोई पतिव्रता स्त्री अपनी सखी से, जो पति की अनुपस्थिति में उसे बहका रही थी, कहती है। मेरा पति परदेश गया है, इस समय तुम्हारी ही आशा है। इसलिये तुम और (अनुचित) बातें कहती हो। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो और लोग क्या कहेंगे? हे सखि! तुम मुझसे बुरा काम मत करवाओ। पहले तुम ही ने मेरा हाथ पकड़कर प्रियतम को सौंपा था। (और वही तुम आज मुझे पथभ्रष्ट करती हो!)। कुलटा होकर यदि मैं प्रेम बढ़ाऊँ तो जीने की क्या आवश्यकता? क्षणभर के लिये सुख मिलेगा, किंतु सारे जन्म के लिये कलङ्क का टीका लग जायगा। कुलनारी होकर अपने प्रियतम के साथ भोग-विलास में लीन रहना चाहिये और कभी भी पथभ्रष्ट नहीं होना चाहिये। मालती का उपभोग केवल भ्रमर ही करता है या वह लता में ही सूख जाती है। विद्यापति कहते हैं कि रक्षा करने पर कुल बचता है। दूती (कुटनी) की बातें नहीं सुननी चाहिये।

से ज्ञात होता है कि 'ह' लगाने से आज्ञार्थक क्रिया बनती है न कि भविष्यत् काल की क्रिया।

(१) मधुर वचन मरमहुँ जनु बाजह
(२) आँचरें बदन झपावह गोरि
(३) पुन जनु आवह हमर समाज
(४) साजनि अवेकत देँह असवास
(५) हठ न करह प्रभु
(६) कैतव न करह आज

ऊपर के पदों में 'ह' लगाने से आज्ञार्थक क्रियाएँ बन गई हैं। 'ह' लगाने से कहीं-कहीं वर्तमानकाल की भी क्रिया बनती है; जैसे (१) करह रंग पर रमनी साथ (२) गाए चरावह, गोकुल वास आदि। किन्तु भविष्यत्काल में 'ह' का प्रयोग विद्यापति के पदों में अभी तक देखने में नहीं आया। अर्वाचीन मैथिली में भविष्यत्काल में 'ह' का प्रयोग होता है; जैसे—जयवह, करवह, पढ़वह, आदि। किन्तु दोनों में अन्तर है; जैसे—करयवह (भविष्यत्काल), करावह (आज्ञार्थक क्रिया), जयवह (भविष्यत्काल), जाह (आज्ञार्थक क्रिया)। यहाँ यदि घटयवह रहता तो संभव था कि यह भविष्यत्काल की क्रिया होती, किन्तु 'घटावह' है, जो, मेरी राय में, आज्ञार्थक क्रिया है। 'अघटन' में दो शब्द हैं अघट और न। अघट का अर्थ है नहीं घटित होनेवाला अर्थात् जिसका होना अनुचित है। दूसरे शब्दों में 'अघट' का अर्थ है अनुचित कार्य। मोहि का अर्थ है मुझसे (मेरे द्वारा) या मोहित कर अर्थात् चिकनी-चुपड़ी बातों के द्वारा लुभा कर। इस प्रकार इस पदांश का अर्थ हुआ

कि चिकनी-चुपड़ी बातों के द्वारा प्रलोभन देकर (मुझसे) अनुचित कार्य मत करवाओ। इस तरह युक्ति-युक्त नहीं होने के कारण गुप्तजी की व्याख्या "आमार अघटन घटित हइवे" समीचीन नहीं मालूम पड़ती।

गुप्तजी की व्याख्या की विशेष रूप से समालोचना पुस्तक-भंडार के द्वारा प्रकाशित मेरी "महाकवि विद्यापति की विशुद्ध पदावली" के 'विशेष वक्तव्य' अंशों में मिलेगी। जिन सज्जनों को इस विषय में दिलचस्पी हो उनसे प्रार्थना है कि वे कृपाकर उस पुस्तक पर भी कृपा-दृष्टि डालें।

सहायजी ने तो इन्हीं समालोचनाओं के भय से पदों की व्याख्या ही नहीं की। आपकी पदावली में केवल इने-गिने शब्दों के अर्थ पदों के अन्त में पाये जाते हैं, तो भी क्रिया के काल में अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं।

सपनहुँ रूप वचन एक भाखिय
मुख सँ दुर करु चाँरे

यहाँ एक भी बात मुँह से निकालो, मुँह पर से कपड़ा हटाओ—यही नायक की प्रार्थना है। भाखिय और करु दोनों आज्ञार्थक क्रियाएँ हैं, किन्तु आपने भाखिय के स्थान में भाखय बनाकर 'कहा' अर्थ किया है, किन्तु 'दुरि करु' का अर्थ 'हटा लो' किया गया है। दोनों क्रियाएँ एक ही काल में हैं। फिर सहायजी ने एक को भूतकालिक क्रिया और दूसरी को आज्ञार्थक क्रिया बना दी। दोनों मिलाकर क्या अर्थ होगा—यह सहायजी ही जानें।

एक और भी उदाहरण भी लीजिये।

सेहे पिरीति अनुराग बखानिअ
तिल तिल नूतन होए।
जनम अवधि हम रूप निहारल
तइअओ न तिरपित भेल।
लाख लाख जुग हम हिय राखल
तइअओ हिय जुड़ल न गेल।

अर्थात् वही प्रेम अनुराग कहलाता है जो हरएक तिल (क्षण) में नया होता रहता है। राधा कहती है कि जन्म से मैं कृष्ण का रूप देखती आ रही हूँ, किन्तु मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ है। (सन्तोष होता कैसे ? यदि एक ही कृष्ण वारंवार नजर आते तो संभव था कि उनके दर्शन से राधा ऊब जाती और उन्हें देखने की जरा भी इच्छा नहीं होती, किन्तु प्रेम श्रीकृष्ण को प्रति क्षण बदलता रहता है। जो कृष्ण एक घंटा पहले थे, वह अभी नहीं हैं। फिर नये कृष्ण के दर्शन के लिये उत्सुकता स्वाभाविक है)। (यही कारण है कि) उसने अनन्त काल से अपने हृदय में कृष्ण का हृदय रक्खा, किन्तु हृदय शीतल नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में प्रेम वही है जो प्रति क्षण नायिका और नायक में नवीनता लाता रहे।

सहायजी की व्याख्या सुनिये। सहायजी इस तरह संक्षिप्त व्याख्या करते हैं कि अर्थ एकदम अस्पष्ट ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त वह अस्पष्ट और संक्षिप्त व्याख्या भी अशुद्धियों से खाली नहीं है। आपकी व्याख्या ज्यों-की-त्यों नीचे उद्धृत की जाती है—

"सोइ etc = वर्णन करने में प्रति मुहूर्त वह प्रणय और अनुराग नूतन होता है। जनम अवधि—जनम-भर।"

वर्णन करने में प्रति मुहूर्त नया होता है—इसका क्या अर्थ, जन्म-भर श्रीकृष्ण का रूप देखकर भी संतोष क्यों नहीं हुआ, हृदय शीतल क्यों नहीं हुआ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। ऊपर इस पद की व्याख्या दी गई है। उस व्याख्या से इन सब प्रश्नों के उत्तर हो जाते हैं! इसलिये सहायजी की यह व्याख्या मुझे एकदम नहीं जँचती है। इस तरह एक अति प्रसिद्ध पद की इस प्रकार व्याख्या करना सहायजी के सदृश विद्वानों को नहीं सोहता।

बाबू रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी' का एक नमूना दिखलाकर यह अंश समाप्त करता हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि विद्यापति की पदावली में बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका उचित अर्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। मेरी राय में टीकाकार या टिप्पणीकारों के लिये उचित है कि वैसी जगहों पर स्पष्ट कह दें कि इसका उचित अर्थ अभी तक नहीं हो सका है।

वसन्त-वर्णन से एक पदांश नीचे उद्धृत किया जाता है—

माघ मास सिरि पंचमि गजाइलि
नवए मास पञ्चम हरुआई
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल
वनसपति कें बधाइ हे।
(वनसपति मेलि धाइ हे।)

बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त के द्वारा संपादित और वङ्गीय साहित्य-परिषद् के द्वारा प्रकाशित पदावली (पृष्ठ ३६२) में लिखा है

"एइ पदे गजाइलि ओ रुआइ शब्देर अर्थ करिते पारा गेल ना" अर्थात् इस पद में गजाइलि और रुआइ शब्दों का अर्थ नहीं किया जा सका, किन्तु हाल ही में वसुमती-साहित्य-मन्दिर के द्वारा प्रकाशित पदावली (पृष्ठ ६२) में आप लिखते हैं "गजाइल—अङ्कुरित हइल, प्रसव करिल। रुआइ-रोदन करिया। नवम मास पूर्ण हइले माघ-मासे श्रीपञ्चमी पञ्चम स्वरे रोदन करिया प्रसव करिलेन"। 'वेनीपुरी' जी की भी व्याख्या सुन लीजिये— "गँजाइलि—पूर्ण-गर्भा हुई। नवम मास वैशाख में वसंत का अंत होता है, ज्येष्ठ से माघ तक नौ महीने हुए। पञ्चम हरुआइ—पाँचवाँ दिन होने पर (वैद्यक के अनुसार नौ महीने पाँच दिन पर पुष्ट बालक पैदा होता है)"। सहायजी ने इन सब झंझटों के कारण इस पद को अपनी पदावली में स्थान ही नहीं दिया।

किस प्रकार 'गजाइलि' शब्द का अर्थ 'पूर्ण-गर्भा हुई' 'अङ्कुरित हइल' या 'प्रसव करिलेन' हुआ—यह तो मुझे नहीं मालूम पड़ता है। संस्कृत में 'गज' धातु का अर्थ 'शब्द करना' या 'मस्ती दिखाना' होता है। विद्यापति बारंबार नामधातुओं का व्यवहार करते हैं। इसलिये संभव है कि यह (गजाइलि) 'गज' से बना नामधातु हो। इस प्रकार 'गजाइलि' शब्द का अर्थ है 'हथिनी की तरह मस्तानी चाल से आई'। जाड़े के कारण शिशिर ऋतु

(१) वसन्त के अन्त होने पर फिर वसन्त गर्भ में किस तरह पहुँचता है—इसकी कोई वैज्ञानिक युक्ति या इसके समर्थन में पौराणिक कथा बतलाई जाती तो बहुत उत्तम होता।

(२) 'गज मदनेच' 'गज, मार्जशब्दार्थौ'—सिद्धान्त-कौमुदी।

में वहुत धीरे-धीरे समय वीतता हुआ मालूम पड़ता है। इसीलिये हथिनी की धीमी चाल से तुलना की गई है। इसी प्रकार गर्भिणी का समय भी कष्टमय होने के कारण धीरे-धीरे वीतता हुआ प्रतीत होता है।

शब्दशास्त्र (philology) के किसी भी नियम के अनुसार 'हरुआइ' का अर्थ 'होने पर' नहीं हो सकता है। मैथिली में 'हरुआएव' क्रिया का व्यवहार 'हरे और सूखे गोवर से लीपना' अर्थ में होता है। इस प्रकार 'हरुआइ' यदि विशेषण हो तो उसका अर्थ 'हरी-भरी' हो सकता है अथवा जिस प्रकार तुलसीकृत रामायण में "दृढ़ शरीर अति ही हरुआई" आदि पदों में 'हरुआई' का अर्थ हलकापन है उसी प्रकार यहाँ भी हलकापन (प्रसव) अर्थ हो सकता है। विद्यापति के अनेक पदों में (वसन्त-वर्णन) अनेक शब्दों का विशेषण 'नव' है, जैसेः—

नव रतिपति, नव परिमल नागर
नव मनआनिल धार।
नवि नागरि नव नागर विलसए
पुन कलें सवे सवे पार।

प्राचीन तालपत्र पद ३४

नव वृन्दावन नव नव तरुगण
नव नव विकसित फूल
नवल वसन्त नवल मनआनिल
मातल नव अलि-कूल।

विद्यापति पदावली पृष्ठ ३२

इस तरह संभव है कि यहाँ भी 'नवए' का अर्थ 'नववाँ' नहीं होकर 'नया' हो और इस अंश का अर्थ 'नये महीने में

पञ्चम स्वर के साथ हलकापन अर्थात् प्रसव हुआ' हो। किसी उत्सव के समय नये पत्ते से सजाना, गाना आदि स्वाभाविक है।

अभी तक इस पद का उचित अर्थ किसी से नहीं हो सका है। इसलिये मैं 'बेनीपुरी' महोदय की समालोचना इस पदांश के लिये नहीं करता। किन्तु मैं समालोचना करता हूँ इसी पद के दूसरे अंश के लिये, जहाँ आपने अर्थ का अनर्थ किया है। वसन्त के जन्मोत्सव के अवसर पर विद्यापति भौंरियों से गाना गवाते हैं। जन्मोत्सव के समय स्त्रियों को पीली साड़ियाँ दी जाती हैं। इसलिये विद्यापति पीले पाडर (पाटली) के फूलों पर उन्हें बिठला देते हैं। गाने के साथ बाजा भी चाहिये। धतूरे की आकृति तुरही की तरह होती है और 'धतूर' शब्द का अर्थ भी तुरही है। इसलिये धतूरा तुरही के रूप में उपस्थित किया जाता है। पदांश नीचे उद्धृत है।

पीअरि पाँडरि महुअरि गावए काहरकार धतूरा।

'बेनीपुरी' पीअरि पाँडरि महुअरि—इन तीनों शब्दों का अर्थ गीतविशेष बताते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मिथिला में कोई भी गाना इन तीनों नामों से प्रसिद्ध नहीं है। यदि 'बेनीपुरी' यह बतलाने की कृपा करते कि इन गानों का उपयोग कब, कहाँ और किस अवसर पर होता था या होता है तो इस विषय पर नया प्रकाश डाला जाता। मिथिला का केन्द्र मेरी जन्मभूमि है—मिथिला के गीतों से मैं पूर्ण परिचित हूँ, किन्तु ये नाम मेरे लिये नये हैं।

अस्पष्ट अर्थ

कहीं-कहीं इस प्रकार व्याख्या की गई है कि अर्थ स्पष्ट नहीं

होता है। उदाहरण के रूप में मैं नीचे एक पदांश उद्धृत करता हूँ—

सुरुज सिन्दुर विन्दु, चान्दनें लिखिए इन्दु तिथि कहि गेल तिलकें।

"सिन्दुर विन्दु सूर्य, चन्दने चन्द्र आँकिल, तिलके तिथि कहिया गेल (तिलक विन्दुर संख्याय तिथि सूचित हइल)"—गुप्त जी की व्याख्या है। यदि तिलक की विन्दियों की संख्या से ही तिथि बतलाई जाती तो चन्द्रमा और सूर्य के मिलन की क्या आवश्यकता थी, सिंदूर और चन्दन दो प्रकार के तिलक क्यों किये जाते ? हरएक वर्णन का कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। मेरे विचार में तिलक के द्वारा वह कह गई कि आज अमावस्या तिथि है। जैसा कि अमावस्या शब्द के शब्दार्थ से ज्ञात होता है, उस तिथि को चन्द्रमा और सूर्य का मिलन होता है। सिद्धान्तकौमुदी में अमावस्या शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है "अमा (सह) वसतोऽस्यां चन्द्रार्कावमावस्या" अर्थात् जिस तिथि को चन्द्रमा और सूर्य साथ वास करते हैं उस तिथि का नाम अमावस्या या अमावास्या है। इसलिये लाल सिन्दूर विन्दु के रूप में सूर्य, और सफेद चन्दन की विन्दी के रूप में चन्द्रमा तथा उन का मिलन दिखलाकर अमावास्या तिथि बतलाई गई है। यही इसका यथार्थ अर्थ मालूम पड़ता है। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक था। ऐसे पदों को संख्या कम नहीं है जहाँ इस तरह स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

कठिन पदों में मनमाना परिवर्तन

रागतरङ्गिणी के दो पदों में 'कनए केआसुति' शब्द पाया जाता है।

(१) कनए केआसुति तोरने तूल, लावा विथरल बेलि क फूल।

(२) कनए के आसुति पत्र लिखिए हलु रासि नछत कए लोल।

गुप्तजी की पदावली में प्रथम पद में "कनय केंसुया मुति तोरण तूल' पाठ है जिसका अर्थ 'सोने के किंशुक (पलाश का फूल) की मूर्त्ति तोरण है" । दूसरे पद में "कनए केसुआ सुतिपत्र लिखिये हलु" पाठ है। "राशि और नक्षत्र स्थिर कर कनक-वर्ण केशर पत्र पर लिखा" अर्थ किया गया है।

रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी शब्दों का परिवर्त्तन करने में सिद्धहस्त हैं। प्रथम पद में आपका पाठ है "कनक किसुक मुति तोरन तूल" । गुप्तजी के पाठ में छन्दोभंग दोष है। इसलिये झटपट यह परिवर्त्तन कर दिया गया है। कठिन शब्दों पर टिप्पणी लिखना तो आवश्यक ही नहीं है। आप 'कनक' का अर्थ सोना, 'तोरन-तूल' का अर्थ तोरन के समान लिखकर सन्तुष्ट हो गये। क्या सफाई है? दूसरे पद में भी आपने इसी चातुर्य का उपयोग किया है। 'केसुआ' शब्द में 'आ' रहने पर छन्दोभंग होता था। इसलिये उसको केसुअ बनाकर "कनक केसुअ सुति-पत्र लिखिये हलु' पाठ बना दिया। व्याख्या करने में आपने कुछ बारीकी जरूर दिखलाई। केसुअ का अर्थ 'पलास' और सुति-पत्र का अर्थ 'जन्मपत्र' कर दिया!

---

(१) यह वसन्त के विहार का वर्णन है। 'कनक केआसुति' तोरण (बंदनवार) है। बेली का फूल धान का लावा है।

(२) यह वसन्त के जन्म का वर्णन है। राशि, नक्षत्र आदि ठीककर 'कनक केआसुति' पर जन्मपत्र लिखा गया।

(३) केसुआ का अर्थ '[illegible]' और [illegible]

संदिग्ध पद

गुप्तजी के सतर्क रहने पर भी आपकी पदावली में कई एक ऐसे पद आ गये हैं जिनके विषय में यह संदेह है कि वे विद्यापति-रचित हैं या नहीं। संदेह होने का कारण भी है। करीब २५० वर्ष पहले लोचन कवि ने 'रागतरङ्गिणी' की रचना की। रागतरङ्गिणी में रागों के लक्षण और उदाहरण हैं। प्रथम तरंग में रागों की मूर्त्तियाँ बताई गई हैं। उदाहरण के रूप में हिन्दी के पद्य हैं। लोचन कवि हिन्दी को 'मध्यदेशभाषा' कहते हैं। द्वितीय तरंग से पञ्चम तरंग तक उदाहरण के रूप में मैथिली के गान हैं। आप "मैथिली" को 'मिथिलापभ्रंशभाषा' कहते हैं। विद्यापति की महाकाव्य-रचना, शिवसिंह के द्वारा कवि विद्यापति को जयत-नामक गवैया का समर्पण, गवैयों की वंशावली, नये-नये रागों के उदाहरण के रूप में विद्यापति के द्वारा गान-रचना आदि का संक्षेप में वर्णन कर रागों के लक्षण बतलाये गये हैं। उदाहरण के रूप में विद्यापति और अन्य कवियों के गान उद्धृत किये गये हैं, किन्तु विद्यापति की रचनाओं की संख्या अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। विद्यापति के गान के अन्त में केवल दो जगह 'इति विद्यापतेः' पाया जाता है। साधारणतः पद में विद्यापति का नाम होना या किसी कवि का नाम नहीं होना—ये ही दो विद्यापति की रचना की पहचानें हैं, किन्तु गुप्तजी की पदावली में वैसे पद भी सम्मिलित किये गये हैं जिनमें दूसरे कवियों के भी नाम हैं या जिन पदों के अन्त में लोचन कवि ने स्पष्ट शब्दों में

कह दिया है कि वे दूसरे कवियों की रचनाएँ हैं। उदाहरण के रूप में दो-एक पद उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा।

उपमिअ आनन नीरज पङ्कज ससधर दिवस मलीने।
भौंह अनूपम, अधर सोहाओन, नवपल्लव रुचि जीने।
सुनं पेअसि की मोर परल गरुअ अपराधे।
बह मनआनित जार कलेवर न कर मनोरथ बाधे।

रागतरङ्गिणी में इस पद के बाद "इत्यादि राज्ञः श्रीनिवासमल्लस्य" लिखा हुआ है। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने यह पद रागतरङ्गिणी से लिया है और रागतरङ्गिणी में इस पद के रचयिता राजा श्रीनिवासमल्ल बतलाये गये हैं। फिर भी विद्यापति की रचना मानकर विद्यापति की पदावली में इस पद को स्थान मिले यह आश्चर्य है। न जाने गुप्तजी के समान विद्यापति के विशेषज्ञ ने इस तरह की भूल कैसे की।

दो पदों में गजसिंह और राजा पुरुषोत्तम के नाम पाये जाते हैं। वे पद ये हैं:—

एत[१] दिन हृदअ हरख छल आवे सबे दुर भेल रे।
रँक क रतन हेराएल जगतेउ सुन भेल रे।

---

(१) इतने दिनों तक हृदय में आनन्द था किन्तु अब सब-के-सब आनन्द दूर हो गये। दरिद्र का रत्न खो गया। उस के लिये सारा संसार सूना हो गया। मैंने क्या अपराध किया कि निर्दय ईश्वर ने मेरी गोद से कमलमुखी को छीन लिया। जी में आता है कि विष खालूँ, किन्तु आत्महत्या करना बड़ा पाप है। गजसिंह कहते हैं कि विरहियो! सुनो, दुःखी मत होओ। राजा पुरुषोत्तम सहते हैं (विरह-वेदना), दयाकर उनसे मिलो।

विधि निरदय कोन दोसें दहु हरलक कोरसञो मोरि कमलमुखि रे।
मन कर गरल गरासिअ पाप आतम वध रे।
गजसिंह कह दुख छाड़ह सुनह विरहि जन रे।
नृप पुरुषोत्तम सहि रह तेहि दयाञ मिलु रे।

यह पद रागतरङ्गिणी में है। रागतरङ्गिणी में जिस प्रकार यह पद उपलब्ध हुआ है, ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है। गुप्तजी की पदावली में इस पद के नीचे "मिथिलार पद" लिखा हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि दरभंगा में रहकर आपने दरभंगा-नरेश की सहायता से जिन पदों का संग्रह किया था उनमें यह भी एक है। आपको रागतरङ्गिणी में यह पद नहीं मिला। यही कारण है कि आपने दो-एक परिवर्त्तन भी कर डाले। 'मन कर गरल गरासिअ पाप आतम-वध रे' के बाद

"जीवन लाग मरन सन मरन सोहाओन रे।
मोर दुख के पतिआएत सुनह विरहिजन रे।
विद्यापति कह सुन सुन्दरि धीरज धरु रे।
अचिर मिलत तोर प्रियतम मन दुख परिहरु रे।

ये चार पंक्तियाँ पाई जाती हैं।

दरभंगा-राज प्रेस के द्वारा प्रकाशित रागतरङ्गिणी (पृष्ठ ६८) में यह पद पाया जाता है। गायिक-परंपरा से प्राप्त पाठ की अपेक्षा प्राचीन पुस्तक में प्राप्त पाठ को अवश्य ही अधिक प्रामाणिक मानना पड़ेगा। गायिक-परंपरा से प्राप्त पद में विद्यापति का नाम मिलता है, किन्तु रागतरङ्गिणी के पद में 'गजसिंह' और 'राजा पुरुषोत्तम' पाये जाते हैं। इस तरह संभव है कि यह विद्यापति की रचना न हो।

रागतरङ्गिणी में 'गजसिंह' और 'राजा पुरुषोत्तम' दूसरी जगह भी पाये जाते हैं।

"जुगल सैलसिम हिमकर देखल एक कमल दुइ जोति रे।
फुलल मधुरिफुल सिन्दुरे लोटाएल पाँति बैसलि गजमोति रे।
आज देखल जत के पतिआएत अपुरुब विहि निरमान रे।
विपरित कनक कदलितरें सोभित थल पङ्कज के रूप रे।
गजसिंह भान एहु पूरब पुनतह ऐसनि भजए रसमन्त रे।
बुझए सकल रस नृप पुरुषोत्तम असमति देइकेर कन्त रे।

यहाँ भी गुप्तजी की पदावली में अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:-

"भनहि विद्यापति पूरब पुनतह ऐसनि भजए रसमन्त रे
बुझए सकल रस नृप सिवसिंघ लखिमा देइ केर कंत रे"

गुप्तजी को यह पद तालपत्र की पुस्तक में भी मिला है। यदि गुप्तजी की अन्तिम दो पंक्तियाँ तालपत्र की पुस्तक से ली गई हों तो यह निर्णय करना कठिन है कि यह विद्यापति की रचना है या दूसरे किसी कवि की; क्योंकि दो प्राचीन पुस्तकों में दो तरह के पाठ हैं। राग-तरङ्गिणी में एक ही नाम दुबारा पाया

---

(१) दो पहाड़ों (स्तनों) के समीप मैंने चन्द्रमा (मुँह) को देखा। एक कमल के फूल (मुँह) में दो प्रकाश (आँखें) हैं। फूले हुए मधुरी फूल (होंठ) में सिन्दूर (पान की लाली) मिला हुआ है और उस में गजमुक्ता की पंक्तियाँ (दाँत) हैं। आज जितना मैंने देखा, उसपर कौन विश्वास करेगा? ईश्वर की अपूर्व रचना है। सोने के केले का वृक्ष उलटा रक्खा है। (जाँघ) और उसके नीचे थल-कमल (पैर) है। गजसिंह कहते हैं कि पूर्वजन्म के पुण्य से रसिक को ऐसी नायिका मिलती है। असमति (आशावती?) देवी के पति राजा पुरुषोत्तम सब रस समझते हैं।

गया है। इसलिये लेखक की भूल से विद्यापति की जगह 'गजसिंह' हो गया है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। गुप्तजी का कहना है कि तालपत्र की पुस्तक में केवल विद्यापति के पद हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह विद्यापति की रचना है।

रागतरङ्गिणी में दो जगह केवल 'सिंह भूपति' शव्द पाया जाता है। गुप्तजी 'सिंह भूपति' का अर्थ राजा शिवसिंह करते हैं। पदों में विद्यापति का नाम नहीं है या किसी दूसरे पद में भी विद्यापति के साथ 'राजा सिंह' नहीं पाये जाते हैं। इसलिये प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि 'राजा सिंह' का अर्थ 'राजा शिवसिंह' ही है।

ओ जे रमनि राधारसिक यदुपति, सिंह भूपति भान।

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ६०

रसिक यदुपति रमणि राधा, सिंह भूपति भान रे

गुप्तजी की पदावली पद ५६१

दूसरे पद में भी 'सिंह भूपति' का नाम पाया जाता है। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त ने भी यह पद रागतरङ्गिणी से लिया है रागतरङ्गिणी तथा गुप्तजी की पदावली—दोनों में एक ही तरह का पाठ है। अन्तिम दो पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं:—

दिवस चारि गमाए माधव करति रति समधान

वडहिं का वड होए धैरज सिंघ भूपति भान।

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ७५

और गुप्तजी की पदावली पद १७५

एक दूसरी जगह भी 'नृप सिंह' का नाम पाया जाता है; जैसे ' एहनि रमनि नृप सिंह कह हरिहि निकट पए सोम"

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ७४

तथा

गुप्तजी की पदावली—पद ६४

इस पद में भी विद्यापति का नाम नहीं है। इसलिये इस पद से भी किसी तरह का निर्णय नहीं हो सकता।

इस तरह और भी अनेक पद हैं, रागतरङ्गिणी के अनुसार जिनके रचयिता भवानीनाथ, प्रीतिनाथ, धरणीधर, गोविन्ददास कंसनारायण आदि कवि हैं, किन्तु गुप्तजी की पदावली के अनुसार वे विद्यापति की रचनाएँ हैं। उदाहरण के रूप में नीचे कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं—

भवानीनाथ

न बुझसि अबुझ गोआरी भजि रहु देव मुरारी नहि गारी लो।
भवानीनाथ हेन भाने नृप देव जत रस जाने नव कान्हे लो।

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ६५

न बुझसि अबुझ गोआरी भजि रहु देव मुरारी नहि गारी लो।
कवि विद्यापति भाने नृप सिवसिंह रस जाने नव कान्हे लो।

गुप्तजी की पदावली पद १२६

एक दूसरे पद में भी "भवानीनाथ" का नाम है। गुप्तजी ने यह पद रागतरङ्गिणी से लिया है! दरभंगा-राज-पुस्तकालय में गुप्तजी को रागतरङ्गिणी मिली थी। दरभंगा राज ने ही 'राग-तरङ्गिणी' प्रकाशित की है। फिर मेरी समझ में नहीं आता है कि रागतरङ्गिणी (दरभंगा-राज प्रेस द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ ९५ और

और गुप्तजी की पदावली के पद में इतना अंतर क्यों है, विशेष कर रचयिता के नाम में।

प्रीतिनाथ

जौवन रूप सिनेह सेहे सुमरि खिन देह।
प्रीतिनाथ नृप मान अचिरे होएत समधान।

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ८०

इसमें 'प्रीतिनाथ' का नाम है, किन्तु गुप्तजी की पदावली में यह अंश इस प्रकार है :—

जौवन रूप सिनेह सेहे सुमरि खिन देह।
विद्यापति कवि मान अचिर होएत समधान।

गुप्तजी की पदावली पद ६४२

गुप्तजी को यह पद गायिका-परंपरा से मिला है। इसलिये आपका यह अंश रागतरङ्गिणी से अधिक प्रामाणिक नहीं है।

धरणीधर

'जामिनि सुकले जाइति अवसान
धैरज कर धरणीधर मान"

रागतरङ्गिणी पृष्ठ ६८

जामिनि सुफले जाइति अवसान
धैरज कर विद्यापति मान"

गुप्तजी की पदावली पद ७६२

पहला पद रागतरङ्गिणी का है। इसमें "धरणीधर" नाम पाया जाता है। गुप्तजी को पद मिथिला की गायिकाओं से प्राप्त हुआ है। पाठक ही सोचें कि दोनों में कौन प्रामाणिक है।

गोविन्ददास

गुप्तजी की 'पदावली, में वैसे दो पद हैं जिनमें गुप्तजी की पदावली के अनुसार 'विद्यापति' का नाम है और वे दोनों पद विद्यापति-रचित हैं, किन्तु रागतरङ्गिणी में दोनों ही पदों में 'गोविन्ददास' का नाम पाया जाता है। 'धीरसिंह' का विरुद 'कंसनारायण' था। उनके समय में गोविन्ददास का होना संभव नही है। दोनों ही पदों में 'कंसनारायण' का नाम है। हो सकता है कि 'कंसनारायण' किसी दूसरे राजा का भी विरुद हो; क्योंकि दोनों पदों में 'गोविन्ददास' और 'कंसनारायण' के नाम साथ-ही-साथ पाये जाते हैं।

वे पद ये हैं:—

"जपल जनम सत मदन महामत विहि सुफलित करु आज।
दास गोविन्द भन कंसनरायन सोरमदेविसमाज॥"

रागतरङ्गिणी पृष्ठ १०२

किन्तु

गुप्तजी की पदावली में

"जपल जनम सत मदन महामत विहि सुफलित करु आज।
विद्यापति भन कंसनराएन सोरमदेविसमाज॥"

गुप्तजी की पदावली पद ५२३

तथा

"सुकृत सुफल सुनह सुन्दरि गोविन्द वचन सारे।
सोरम-रमन कंसनरायण मिलत नन्दकुमारे॥"

"सुकृति सुफल सुनह सुन्दरि विद्यापतिवचन सारे ।
कंसदलन नारायण सुन्दर मिलत नन्दकुमारे ॥"

गुप्तजी की पदावली पद ५६

मुझे आश्चर्य है कि दोनों पुस्तकों के पदों में सब अंशों में समानता होने पर केवल 'नाम' में इतना अंतर क्यों हो जाता है। संभव है कि यह लेखक की भूल हो या विद्यापति के प्रति गुप्तजी की अन्धभक्ति ने सब पदों को विद्यापति-मय ही देख लिया हो।

उपसंहार

किसी भी पदावली में विशुद्ध पाठ नहीं है और शब्दों में भी मनमाना परिवर्त्तन कर डाला गया है—यह उदाहरणों के साथ ऊपर बतलाया जा चुका है। अपनी प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावान्वित संपादकों की व्याख्या का नमूना भी पाठकों के सामने उपस्थित किया जा चुका है। ऐसे भी पद हैं जिनकी व्याख्याएँ अस्पष्ट हैं। इस प्रकार के पद भी उद्धृत किये जा चुके हैं। साथ-साथ यह भी बतलाया जा चुका है कि राग-तरङ्गिणी में विद्यापति-रचित (संदिग्ध पदों के साथ) ७२ पद हैं। वे सब-के-सब पद पदावली में उद्धृत हैं। उन पदों में दस ऐसे पद हैं जिनमें यह संदेह है कि वे विद्यापति की रचनाएँ हैं या दूसरे कवि या कवियों की। इस तरह कोई भी अनुसन्धान (research) करनेवाला विद्वान् इन पदावलियों पर पूरा भरोसा कैसे रख सकता? मुझे तो डर है कि इन पदावलियों के आधार पर किया हुआ अनुसन्धान कहीं अधूरा ही न रह जाय; कारण (१) शब्द (२) व्याख्या (३) ग्रन्थकर्ता का नाम—इनमें

कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसके लिये ये पदावलियाँ प्रामाणिक मानी जायँ। अनुसन्धान के लिये आवश्यकता है विशुद्ध पदों की और विशुद्ध पदों से परिपूर्ण पदावली की।

इसलिये विद्यापति के प्रेमियों के लिये सबसे पहला काम है "विशुद्ध पदावली" का प्रकाशन। जिस प्रकार काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा सूरदास-पद-संशोधन-समिति की सहायता से सूरदास के विशुद्ध पदों का प्रकाशन कर रही है उसी प्रकार आवश्यकता है एक विद्यापति-पद-संशोधन-समिति की, जो उपलब्ध सामग्रियों (तालपत्र, रागतरङ्गिणी, नैपाल-राज-पुस्तकालय की पदावली, गुप्तजी के तालपत्र के पद, मिथिला में प्रचलित पद) की सहायता से महाकवि विद्यापति की विशुद्ध-पदावली तैयार कर सके। साथ-ही-साथ आवश्यकता है एक प्रकाशक की जो बड़ी सावधानी से शीघ्रातिशीघ्र यह विशुद्ध पदावली प्रकाशित कर सकें।

रागतरङ्गिणी और तालपत्र की खण्डित प्रति की (जो मेरे पास है) सहायता से मैंने इस विशुद्ध पदावली के प्रथम भाग तैयार किया है जिसमें (१) पद (२) कठिन शब्दों का अर्थ (३) भावार्थ (४) विशेष वक्तव्य के अतिरिक्त पाद-टिप्पणी

---

(१) एक विद्वान् की कृपा से मुझे तालपत्र की एक पुस्तक मिली है जिसमें केवल विद्यापति के पद हैं और जो ३०० वर्षों से भी अधिक प्राचीन हैं।

(२) मिथिला के एक सज्जन को मैंने मिथिला में प्रचलित पदों के संग्रह के लिये नियुक्त किया है। वे १५० पदों का संग्रह कर चुके हैं। इस समय भी संग्रह का काम जारी है।

में विभिन्न पुस्तकों के विभिन्न पाठ हैं। यदि हिन्दी के दो-एक महारथियों ने हाथ बँटाया और किसी प्रकाशक ने शीघ्र प्रकाशित कर देने की आशा दी तो शीघ्र ही मुझे हिन्दी-संसार के सामने **"महाकवि विद्यापति की विशुद्ध पदावली"** लेकर उपस्थित होने का सौभाग्य होगा।

इस संबंध में एक बात कह देना अनुचित नहीं होगा कि हिन्दी-संसार ने बारबार आवाज उठाई कि विद्यापति की भाषा 'हिन्दी है, साथ-साथ विद्यापति को अपनाने की बारबार कोशिश की गई, किन्तु मैं यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि हिन्दी-संसार ने आजतक विद्यापति का उचित सम्मान नहीं किया है। यही कारण है कि मिश्रबन्धुओं ने 'नवरत्न' में दसवाँ रत्न भी घुसेड़ डाला, किन्तु शोक ! हिन्दी-सहित्य में विद्यापति को दसवाँ स्थान भी नहीं मिला। इसका कारण सीधा है। आजतक कोई भी ऐसी पदावली नहीं प्रकाशित हो सकी जिसमें पदों की पूरी व्याख्या हो। अर्थ जाने बिना किसी कविता का आदर होता ही कैसे ? बंगाली विद्वानों ने विद्यापति के पदों की प्रशंसा का पुल बाँध दिया, वे विद्यापति के पदों पर लट्टू हो गये—यह देखकर हिन्दी-संसार ने अनुमान किया कि विद्यापति के पद अच्छे होंगे। इसी अनुमान के सहारे अच्छे हिन्दी-कवियों में विद्यापति की भी गिनती होने लगी। इस समय हिन्दी-संसार के लिये यह स्वर्ण-सुयोग उपस्थित हो गया है। इसलिये वह शीघ्र ही विशद

---

(१) भाषा हिन्दी हो या मैथिली, देखना है कि कविता कैसी है और विद्यापति किस श्रेणी के कवि हैं।

व्याख्या के साथ 'महाकवि विद्यापति की विशुद्ध पदावली' प्रकाशित कर इस पाप का प्रायश्चित करे। अन्त में सर्वशक्तिमान्, परम-कारुणिक, जगदीश्वर से अनेक बार मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि मेरी यह अभिलाषा शीघ्र परिपूर्ण हो।

❀ इति शुभम् ❀

सहायक सामग्रियाँ

१ *Indian Antiquary Vols 2, 4, 14.*

२ *An Introduction to the Maithili Language of North Bihar Dr.* **Grierson.**

३ कीर्तिलता (नागरी प्रचारिणी सभा और म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित)

४ कीर्तिपताका (बङ्गाल एसिएटिक सोसाइटी)

५ वर्णनरत्नाकर (,, ,, ,,)

६ पुरुषपरीक्षा (ल० सं० ५०४ माघ कृष्ण पञ्चमी में तालपत्र पर लिखित)

७ पुरुषपरीक्षा—पं० चन्दा झा द्वारा सम्पादित

८ ताम्रपत्र—(बाबू रतिकान्त चौधरी Advocate द्वारा प्राप्त)

९ भारती—१२९९ आश्विन

१० बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का व्याख्यान (२-२-३५)

११ मिथिला की पंजी

१२ तिलकेश्वर मठ में खुदा हुआ श्लोक

१३ रत्नशतक—वीरेश्वर

१४ पञ्चसायक—ज्योतिरीश्वर ठाकुर

१५ शैवमानसोल्लास—चण्डेश्वर ठाकुर

१६ विष्णुपुराण—पक्षधर मिश्र लिखित (ल० सं ३५४)

१७ एकाग्निदानपद्धति—श्रीदत्त

१८ काव्यप्रकाशविवेक—श्रीधर

१९ विवादचन्द्र—लखिमा

२० History of Tirhut

२१ Vernacular literature of Hindustan—Grierson.

२२ रागतरङ्गिणी—लोचन कवि

२३ अनर्घराघव टीका—रुचिपति

२४ सेतुदर्पणी—रत्नेश्वर (राज-पुस्तकालय दरभंगा)

२५ महादान निर्णय—वाचस्पति मिश्र

२६ द्वैतनिर्णय—वाचस्पति मिश्र

२७ दण्डविवेक—वर्धमान

२८ गङ्गाकृत्यविवेक—वर्धमान

२९ तडागयाग पद्धति—वर्धमान

३० लिखनावली (तालपत्र)—विद्यापति

३१ शैवसर्वस्वसार—विद्यापति (राज-पुस्तकालय दरभंगा)

३२ शैवसर्वस्वसारप्रमाणभूतपुराण संग्रह—विद्यापति

३३ गङ्गावाक्यावली—विद्यापति

३४ विभागसार—विद्यापति (१) पं० जगदीश झा, नवानी
(२) बाबू लक्ष्मीकान्त झा वकील
(३) पं० पष्टिनाथ झा, लालगंज

३५ दानवाक्यावली—विद्यापति (८ प्रतियाँ)

३६ गयापत्तलक (तालपत्र) विद्यापति पं० शिवेश्वर झा, लालगंज

३७ दुर्गाभक्ति तरङ्गिणी—विद्यापति (१) पं० महेश्वर झा ,,
(२) पं० श्रीकान्त झा, ननौर
(३) पं० रुद्रानन्द मिश्र ,,
(४) चित्रधर-लाइब्रेरी, टभका

३८ वर्षकृत्य—विद्यापति—बा० दामोदरनारायण चौधरी, वल्लीपुर

३९ पदावली—बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित और वङ्गीय साहित्य-परिषद् के द्वारा प्रकाशित

४० पदावली—इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित
४१ ,, —वसुमती साहित्य-मन्दिर द्वारा प्रकाशित
४२ ,, —पुस्तक-भंडार लहेरियासराय द्वारा प्रकाशित
४३ मैथिल कोकिल—बा० ब्रजनन्दन सहाय (आरा)
४४ विद्यापति—डा० जनार्दन मिश्र, एम्. ए. पी. एच् डी.
४५ मणिमञ्जरी—विद्यापति (पं० किशोरी झा, महेशपुर)
४६ Chestomathy—Dr. Grierson
४७ पदावली (तालपत्र) खण्डित प्रति
४८ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल
४९ हिन्दी-भाषा और साहित्य—बा० श्यामसुन्दरदास
५० India's Past —A. A. Macdonell
५१ सुभाषित-रत्न-भाण्डागार
५२ कामन्दकीय नीति
५३ पञ्चतन्त्र—विष्णुशर्मा
५४—हितोपदेश—,,
५५—तुलसी सूक्तिसुधा
५६—प्राकृत सञ्जीवनी
५७—प्राकृत व्याकरण—हेमचन्द्र
५८ प्राकृत प्रकाश—वररुचि
५९ पाली-प्रकाश—महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री
६० Introduction to Prakrit—A. C. woolner.
६१ Linguistic Survey of India.
६२ कर्पूरमञ्जरी—राजशेखर
६३ गाथासप्तशती—सातवाहन
६४ आर्यासप्तशती—गोवर्धनाचार्य
६५ काव्यादर्श—दण्डी

६६ कविताकौमुदी (प्रथम भाग)
६७ पारिजात हरण—उमापति
६८ शिशुपाल वध—माघ कवि
६९ नैषध काव्य—श्रीहर्ष
७० अभिज्ञान शाकुन्तल—कालिदास
७१ विक्रमोर्वशीय नाटक— ,,
७२ भोजप्रबन्ध (निर्णयसागर प्रेस)
७३ वासवदत्ता—सुबन्धु
७४ गोविन्दपदावली—(१) पुस्तक-भंडार लहेरियासराय
(२, पं० खुद्दी झा कोइलख (दरभङ्गा)
७५ गीतगोविन्द—जयदेव (निर्णयसागर प्रेस)
७६ भामिनी-विलास—जगन्नाथ
७७ ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य
७८ अमरुकशतक
७९ शृङ्गारतिलक—कालिदास
८० वङ्गभाषा और साहित्य—डा० दीनेशचन्द्र
८१ साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ
८२ भक्तिसूत्र—नारद ((गीताप्रेस)
८३ उत्तर रामचरित—भवभूति
८४ दोहावली—लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित
८५ कृत्य चिन्तामणि—चण्डेश्वर
८६ विष्णुकल्पलता—भैरवसिंह (पं० छेदी झा, अवाम)
८७ ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्ण खण्ड, प्रकृति खण्ड)
८८ कालिका पुराण
८९ गरुड़ पुराण
९० देवीभागवत

९१ वामन पुराण
९२ वराह पुराण
९३ डा० अग्रवाल का व्याख्यान (फरवरी १९३५)
९४ Downfall of India—by C. V. Vaidya.
९५ प्रेमयोग—वियोगी हरि
९६ माधुरी—(एक लेख—पं० भागवत शुक्ल पाथोद)
९७ उदयन—(बँगला पत्रिका)
९८ Searchlight (an article by Prof. Bipin Bihari Mazumdar M. A. Ph., D. P. R. S.)
९९ मिथिला गीत संग्रह (चारो भाग)
१०० सुश्लिष्ट परिशिष्ट—केशव मिश्र
१०१ काव्यप्रदीप—म० म० गोविन्द ठक्कुर
१०२ अलंकार शेखर—केशव मिश्र
१०३ सिद्धान्त कौमुदी—भट्टोजी दीक्षित
१०४ चैतन्य चरितामृत—गीताप्रेस

शुद्धिपत्र

इन अशुद्धियों को शुद्ध कर पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	चैतन्य देव का	चैतन्य देव की
२	१	मचा दिया	मचा दी
२	२	विद्यापति के	विद्यापति का
२	१२	सरलता	सरसता
५	१०	राज	राजा
५	१३	शव सर्वस्व सार	शैव सर्वस्व सार
१४	१०	संक्षोप्त	संक्षिप्त
१५	१७	शासक का	शासन की
२२	२	था	थी
२४	१५	नजर	नज़र
२५	१८	सख्त	सख़्त
२५	१९	वाध्य	बाध्य
३६	११	एशिएटिक	एसियाटिक
४८	२५	निवासी	निवासी पं० किशोरी झा
४९	३	कृतरभिनवा	कृतिरभिनवा
५१	२३	भाजन	भोजन
६४	१६	मूखल	भूखल
७७	१	प्रत्येक ग्रन्थों	प्रत्येक ग्रन्थ
७७	४	ग्रन्था	ग्रन्थों
७८	१२	इससे	इससे भी
७८	२०	पाई जाती है	है
८५	१७	गाता	गाती
८६	१६	काफी	काफ़ी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	६	प्राकृत क	प्राकृत का
६०	१५	इरवण	णरवइ
६६	१	लकड़ी की	लकड़ी के
१०५	१५	प्रकार	प्रकार
१०५	२१	निदा	निन्दा
११६	८	मुसकुराने	मुसकराने
१२१	२१	क्या	कौन सा
१२६	११	खजन	खंजन
१२७	१३	वहुल	बहल
१४२	२०	से हो	से हे
१४२	२४	हिय	हम
१४५	६	उत्तम ध्वनि	उत्तम (ध्वनि)
१५०	१२	वते	जते
१५१	१४	सकर	संकर
१६०	२५	अखंद	अखंड्य
१७१	२	उपासन	उपासना
१८३	१९	Maithili of	Maithili
१८३	२०	Journal	Journal of
१९७	१७	गोरायन	गोरापन
२००	२३	जाना आदि	जाना आदि)
२०२	५	श्यामश्रिग्रामश्रुवः	श्यामश्रि वामश्रुवः
२२४	१०	राजतरङ्गिणी	रागतरङ्गिणी
२५०	१६	गायिक	गायिका

महाकवि विद्यापति

द्वितीय भाग

विद्यापति

के

विशुद्ध ८६ पद

विद्यापति की पदावली

विद्यापति की भाषा पर विचार करने की प्रधान सामग्री विद्यापति के ये ८६ पद हैं। इन पदों से विद्यापति की भाषा, वर्णविन्यास, लेखशैली आदि पर पूरा प्रकाश डाला जाता है।

ये पद तालपत्र पर लिखे हुए हैं। देखने से मालूम पड़ता है कि यह पुस्तक ३०० वर्षों से भी अधिक पुरानी है। प्रत्येक पृष्ठ में पाँच पंक्तियाँ हैं, कहीं छः भी हैं। इसकी साइज १४″×२″ है। कई जगह अक्षर अस्पष्ट हैं। कई शब्द उड़ गये हैं। पहले के ९ पत्र नहीं हैं। दसवें पत्र के आरम्भ में २८ वाँ पद है। १६—१८, २३, २४, २६, २९—४६, ५२, ५३, ५५—८२, ८४—१०८ तक पत्र नहीं हैं। १२१ ही अंतिम पत्र है। प्रत्येक पत्र के बीच में छेद है जिस होकर धागा लगाकर पुस्तक बाँधी जाती है। पहली और अन्तिम पंक्तियाँ आदि से अन्त तक लिखी हुई हैं। बीच की तीन पंक्तियों में छेद के चारों ओर स्थान रिक्त है। अक्षर स्पष्ट हैं, लिखावट बहुत उत्तम है, किन्तु कहीं-कहीं लेखशैली अर्वाचीन लेखशैली से विभिन्न है। उदाहरण के लिये अनेक स्थानों में इ, 'अस्पष्ट' है। सखि 'साख' की तरह दिखाई पड़ता है (देखिये ३४५ पद का चित्र 'ध्रुवं' के बाद)। इस पुस्तक के चार लेखक हैं। ३१३ वें पत्र से चौथे लेखक की लिखावट है। उसमें स्पष्टता और शुद्धता की कमी है। प्रथम और अन्तिम पत्र

---

१ रअनि, जुवति, पंओधर, तअे, कओन आदि शब्दों का वर्णविन्यास रयनि, युवति, पयोधर, तए, कमन आदि है। कई स्थानों में अक्षर भी छूट गये हैं।

नहीं होने के कारण यह निश्चित रूप से कहना असंभव है कि यह पुस्तक कब लिखी गई और किसने लिखी।

साधारण रूप से टिप्पणी और व्याख्या भी दी गई है।

तालपत्र के पद

(१)

काच घटी अनुगत जल जेम नागर लखत हृदअ गत पेम।
विद्यापति मन सुन वरनारि कतें रङ्गे रसे सुरङ्ग मुरारि
रूपनराअन पहु रस जान राए सिवसिंह लखिमादेवि-रमान[1]

प्राचीन तालपत्र पद २८

इस पद का पहला अंश उपलब्ध नहीं होता है।

(२)

कुल कुल रहु गगन चन्दा दुअओ[2] कर उजोर।
तिमिर भञे[3] तिरोहित करसि गरुअ साहस तोर। ध्रु०।
साजनि मोहि पुछइते लाज
कि मञे बोलव की तें करव किदहुँ[4] उत्तर काज।
कुन्दक कुसुम सजन हृदअ विमल चरित मोर।
केलिं अपजस बोलेहिं वहुल कलङ्के सानि न बोर।[5]

प्राचीन तालपत्र पद २९

(३)

मालव राग

हसि निहारल पलटि[6] हेरि लाजें कि बोलव साँझक बेरि।
हरखें आरति हरल चीर, सून पओधर, काँप सरीर।[7] ध्रुव।
सखि कि कहव कहइतें लाज गोरू[8] चिन्हए गोपक काज॥

---

१ प्रत्येक पद में 'देरमान' है। वह 'देविरमान' का संक्षिप्त रूप मालूम पड़ता है। २ दुअओ—द्वितीया को भी। ३ भञे—भय से। ४ किदहुँ—क्या। ५—केलि में बहुत-सी अपयश की बातें बोलती हो, मेरे सिर पर कलङ्क का टीका मत लगाओ। ६ पलटि निहारल—लौटकर देखा। ७ हर्ष से आर्त (किंकर्तव्य-विमूढ़) होकर चीर हर लिया, स्तन से कपड़ा गिर गया, शरीर काँपने लगा। ८ ग्वालों का काम अच्छी या बुरी गाय पहचानना है न कि रसिक होना।

निविं निरासलि, फुजलि आस, ततेओ देखि न आवए पास ।
अओ कत कहब मधुर बानि काजर दूधें पखालल जानि ।
सखि बुझावए धरिए हाथँ गोप बोलावथि गोपी साथँ ।
तोहें न चिन्हह रसक भाव वडें पुनें पुनमति पाव ।
भन विद्यापति सुन तजें नारि पहुक दूषन दिअ विचारि ।
राजा रूपनराजेन जान सिवसिंह लखिम देवि-रमान
प्राचीन तालपत्र पद ३०

(४)

सुहब राग

तोहँरों पेम लागि धनि खिनि भेलि तोहें बड बोल छड़ कान्ह ।
रूपलोभ मेल, देह दुर गेल, से थिर छाड़ल भाव । ध्रुव ।
माधवँ, सुन्दरि समन्दए रोए
जदि तोहें चञ्चल सुनह सकल मए अपना धन्ध न कोए ।
आस दइए परपेअसि आनलि कुलसजो कुलमति नारि ।
से ततवाहिं गेलि, डाईन सकल भेल, दुहु हल हृदअ विचारि
दूती बोलइते कान्ह लजाएल विद्यापति कवि भाने ।
राजा सिवसिंह रूपनराजेन लखिमादेवि-रमाने ।
प्राचीन तालपत्र पद ३१

---

१ नीवि खुली, नीवि के खुलते ही आशा भी खुल गई, तथापि वह निकट नहीं आता है ।

२ तुम्हारे प्रेम के कारण नायिका दुःखी है, किन्तु तुम छल की अनेक बातें बोलते हो ।

३ माधव, सुन्दरी ने रोकर संवाद भेजा है । यदि तुम चंचल हो तो सकल (साव-धान) होकर सुनो । मुझे अपनी परवा नहीं है । आशा देकर कुलीना परस्त्री को मैं लाई । वह इतने से ही (बाहर निकलते ही) गई, सब स्त्रियाँ डाईन (निन्दा करनेवाली) हुईं । हृदय में ये बातें विचारो ।

(५)

गुर्जरी राग

गुरुजन कहि दुरजन सञो वारि कौतुके फूटि करसि फुलबालि।
कइतवे[1] वारि सखीजन सङ्ग अह-अभिसार दूर रतिरंग। ध्रुव।
ए सखि सुमुखि-वचन अनुमान रातुक रति आरति-समधान
अन्धकूप सम रजनि विलास चोरक मन जञो बसए तरास।
हरखित हो लक्षा के राए नागरे कि करब नागरि पाए।

नेपाल की पुस्तक और प्राचीन तालपत्र पद ३२

(६)

वसन्त—वर्णन

वसन्त राग

नवे[3] रतिपति, नव परिमल, नागर नव, मलआनिल धार
नवि नागरि नव नागर विलसए पुन फलें सबे सबे पार।ध्रु।
मानिनि आब कि मान तोहार
अपन मान पावक भए पइसल लूलए मनमण्डार।

---

१ बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में भी यह पद है। उसमें फूटि करसि, के स्थान में कुन्द करसि, दूर के स्थान में पूर, सुमुखि वचन अनुमान की जगह वचन करहि अवधान, नागरे की करब नागरि पाए की जगह नागर की कारति नागर पाए पाठ है।

२ किसी बहाने से सखियों से दूर चली जाती है; क्योंकि दिन का अभिसार (में भोग-विलास) कहीं अधिक आनन्ददायी होता है। रात का विलास रोगियों की दवा है—यह सुमुखी के वचन से ज्ञात होता है। जिस तरह चोरों का मन भयभीत रहता है, उसी प्रकार तथा अन्धकूप में रहने के समान रात का विलास है।

३ नया काम, नई सुगंध, नया नागर, तथा नया मलयानिल है। नई रसिक नायिका पाकर नया नागर विलास करता है। पुण्य करने से सब मनुष्य सब कुछ पा सकते हैं। हे मानिनि, अब तुम्हारा मान किस काम का? अग्नि का रूप धारण-कर तुम्हारा मान मन-रूपी भंडार में घुसकर उसे जला रहा है। इतने दिनों तक 'काम' कम था। इसलिये तुम मान की रक्षा कर सकी। अब अनङ्ग को भी अङ्ग हो गया है। समय पाकर क्या नहीं हो सकता है?

एत दिन मान मलेहुँ तोहें राखल पञ्चबान छल थोल।
अबे अनङ्ग हे सरीरी देखिअ समअ पाए की बोल।
विद्यापति कह के वसन्त सह मुनिहुँक मन हो लोभे।
लखिमा देवि-पति रूपनराएन षटऋतु सबे रस सोभे॥

प्राचीन तालपत्र पद ३४

(७)

अभिसार

अहिर राग

सहेज सुन्दर लोचन सीमा काजर-अञ्जने न करु भीमा।
तिलक दए मृगमद-मसी वदन सरिस न कर ससी। ध्रुव।
चलहिँ सुन्दरि तेजि वेआज सुकृतेँ मिल सुपहु समाज।
पसर सौरभ की अङ्गरागे उमअ मन जदि अनुरागे।
परिहर सखिकेर रङ्ग मुखर सुजन कहा सङ्ग।
सरस कवि विद्यापति गावे मनक पाहुन मदन धावे।
रूपनराएन ई रस जाने रानि लखिमादेवि—रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ३५

---

(१) तुम्हारी आँखों के कोण स्वभाव से ही सुन्दर हैं। उनमें काजल या अंजन लगाकर उन्हें भयंकर मत बनाओ। तिलक में कस्तूरी की कालिख लगाकर मुँह को चन्द्रमा के समान मत बनाओ अर्थात् तुम्हारा मुँह चन्द्रमा से कहीं अच्छा है, कालिख लगने पर चन्द्रमा इसकी बराबरी कर सकेगा। हे सुन्दरि! व्याज (बहाना) छोड़कर चलो। पुण्य (भाग्य) से अच्छे पति का समाज (साथ) मिलता है। सुगंधि फैल रही है (अर्थात् तुम्हारा शरीर ही सुगंधित है) और यदि दोनों के मन में प्रेम है तो अङ्गराग (अंगों की सजावट, महावर आदि लगाना) से क्या लाभ? सखियों के साथ दिल्लगी छोड़ो; क्योंकि बकवादी और सज्जन;— इन दोनों में मेल कहाँ? रसिक कवि विद्यापति कहते हैं कि मन का अतिथि कामदेव दौड़ता है या दौड़ा आ रहा है (इसलिये शीघ्रता करो)। लखिमा देवी के पति रूपनारायण (शिवसिंह) यह रस जानते हैं।

(८)

विरह—वर्णन

गुर्जरी राग

चिन्ताञें आसा कवललि मोरि कानकटु भेलि कहिनी तोरि।
मनञो फेदापल अइसना काज पावनि दीप मिझापल आज। ध्रुव।
साजनि कह कत कहिनी धन्ध बालाबान्ध छुटल अनुबन्ध।
तञें[2] जनितसि, आओ दोसर कान्ह, तेसर जनइत हमर परान।
जत अनुराग राग केँ गेल मही गोप बधभाजन भेल।
विद्यापति मन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमादेवि-कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद ३६

(९)

अभिसार-वर्णन

श्रीराग

बड़े[3] मनोरथेँ साजु अभिसार, पिसुन नअन-वारि।
काज न सीझल तते बहल, हमे अभागलि नारि। ध्रुव।

---

(१) चिन्ताएँ मेरी आशाएँ निगल गईं, तुम्हारी बातें सुनने में अप्रिय मालूम पड़ती हैं। ऐसे अवसर पर मन भी दुःखी हो गया; क्योंकि आज पर्व के दिन दीपक बुझ गया।

(२) तुम जानती हो, दूसरा कृष्ण जानता है, तीसरे मेरे प्राण ही जानते हैं। वह ग्वाला (रसिक) जिस तरह प्रेम कर गया उसका परिणाम यही हुआ कि वह वध का अपराधी हुआ अर्थात् शीघ्र ही उसके विरह में मैं मर जाऊँगी।

(३) बड़ी-बड़ी अभिलाषाओं के साथ मैंने संकेत-स्थल जाने की तैयारी की, किन्तु आँसू की धारा इस प्रकार उमड़ पड़ी कि मेरा कार्य सिद्ध नहीं हो सका; क्योंकि मैं अभागिनी हूँ। हे सखि! यह मेरे भाग्य का दोष है। यह दुःख पूर्व जन्म के बड़े पापों का फल है। मैं किसपर क्रोध करूँ अर्थात् किसका दोष दूँ? मैं घर नहीं गई तथा दूसरे की भी नहीं हुई और न मेरा मनोरथ ही पूरा हुआ। हे सखि! आधे ही रास्ते में चन्द्रमा हँसकर उग गया। इसलिये मेरे (संकेत-स्थल) जाने में बाधा हुई। माधव मेरी आशा के प्यासे हैं। (यदि उनकी आशा पूरी नहीं हो

साजनि, हमर दिवस दोस, गरुअ पुरब पाप पराभव, कओने करेब रोस।
न घर गेलुहु, न पर भेलुहुँ, न पुरु हृदअ साध।
आधहि पथ ससी हसि ऊगल तें भेल गमन-बाध।
मोरें आसें पिआसल माधव होएत मो बड़ पाप।
सिव सिव सिव जाओ दुर जिव, सहए के पार सन्ताप।
आपदँ अधिक धैरज करब, धैरज सवे उपाए।
भन विद्यापति होएत मनोरथ हरि रहु मन लाए।

प्राचीन तालपत्र पद ३७

(१०)

अभिसार-वर्णन

धनछी राग

जलद वरिस जलधार सर जओ पलए पहार।
काजरें राङ्गलि राति बाहर होइतें साति। ध्रुव।
साजनि अइसनि निसिँ अभिसार तोहि तेजि करए के पार।
भमए भुअङ्गम भीम पङ्कँ पुरल चौसीम।
जलधर बीजु उजोर तखने गरज घनघोर।
भनइ विद्यापति गाव महध मदन परथाव।

प्राचीन तालपत्र पद ३८

सकेगी तो) मुझे बहुत बड़ा पाप होगा। हा! मेरे प्राण निकल जायँ। यह दुःख कौन सह सकता है? विद्यापति कहते हैं कि विपद् में धैर्य धारण करना चाहिये। धैर्य ही सब दुःखों का उपाय है। हरि को मन में लाकर रक्खो, सब अभिलाषाएँ पूरी होंगी।

(१) बादल जल की धारा बरसा रहा है—मालूम पड़ता है कि बाणों की वर्षा होती हो। रात काजल से रँगी है अर्थात् अन्धेरी है। बाहर होनेपर डर लगता है। हे सखि, इस तरह की रात में तुमको छोड़कर कौन अभिसार कर सकती है? भयंकर साँप घूम रहे हैं। गाम की चारों सीमाएँ कीचड़ से परिपूर्ण हैं। बिजली चमक रही है, साथ-साथ बादल भी जोर से गरजता है।

यह पद नेपाल राज-पुस्तकालय की पदावली में भी है, किन्तु पहली दो पंक्तियाँ उसमें नहीं हैं।

(११)

अभिसार-वर्णन

वराली राग

काजर रंग वमए जंनि राति अइसना बाहर होइतहुँ साति।
तलितहुँ तेज मिलए अन्धकार आसा संसऍ पलु अभिसार
मल न कएल मञे देल विसवास, निकट जञो नसत कान्हक वास।
जलद भुअङ्गम दुहु भेल सङ्ग निचर निसाचर करए सरङ्ग
मन अवगाहए मनमथ रोस जीवओ देलें न होए भरोस।
अपगम गमन बुझए मतिमान विद्यापति कवि एहु रस जान।

नेपाल की पुस्तक और प्राचीन तालपत्र पद ३६

यह पद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में भी है। उसमें काजर रंग वमए जनि राति की जगह 'काजरे राङ्गलि सबे जनि राति', तलितहुँ तेज मिलए अन्धकार की जगह 'तड़ितहु तेजलि मित अन्धकार', निचर निसाचर करए सरङ्ग के स्थान में 'निचर निशाचर कर रसभंग' पाठ है।

(१२)

मालव राग

हृदँअ तोहर जानि न भेला आनक रतन आनि मञे देला।
कएल, माधव, हमें अकाज हाथि मेलाउलि सिंहसमाज। ध्रुव।

---

(१) रात काले रंग की कै कर रही है, ऐसी रात को बाहर निकलते भी डर लगता है। बिजली उससे भी तेज अन्धकार के साथ मिल गई है। अभिसार की आशाओं में संशय मालूम पड़ता है। मैंने अच्छा नहीं किया कि विश्वास दिया, (ऐसी रात को) समीप रहने पर भी कृष्ण का घर नहीं दिखाई देगा। बादल बरस रहा है, साँप घूम रहे हैं, निशाचर ने सरङ्ग (आकाश) को निश्चल कर दिया है, मन ही मन काम पर क्रोध आता है। जान देने पर भी विश्वास नहीं होगा।

(२) मैं तुम्हारे हृदय से परिचित नहीं थी। इसीलिये मैंने दूसरे का रत्न

राख, माधव मोरि विनती, देहे परिहरि पर-जुवती।
चुम्बने नञ्जन काजर गेला, दसने अधर खण्डित भेला।
पीन पओधर नखरें मन्दा जनि महेसर सेखरचन्दा।
न मुख वचन, न मन थीरे, काम्प घनहन सवे सरीरे।
घर गुरुजन दुरजन सङ्का लओलह माधव मोहि कलङ्का।
मन विद्यापति तञे दुति मोरी चेतन गोपए वेकत चोरी।

प्राचीन तालपत्र पद ४०

यह पद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा प्राप्त तालपत्र और नैपाल राज-पुस्तकालय की पदावली में भी है। उसमें मेलाउलि की जगह मेराउलि, सेखर की जगह शिखर, मन की जगह चित, लओलह माधव मोहि कलङ्का के स्थान में न गुनह माधव मोहि कलंका, 'भन विद्यापति तञे दुति भोरी चेतन गोपए वेकत चोरी' की जगह 'कवि विद्यापति भान आनक वेदन न बुझ आन' पाठ है।

(१३)

धनछी राग

प्रथम वएस अतिभिति राही अभिमित पिआ-मेला।
नीविक सङ्गे लाज विघटलि अधरपान कएला रे।

लाकर तुम्हें दे दिया। माधव, मैंने बुरा काम किया कि सिंह के साथ हाथी को मिला दिया। माधव, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो, पराई युवती को छोड़ दो। चूमने से काजल मिट गया, दाँतों से अधर कट गया है, नाखूनों ने मोटे स्तन को मलिन कर दिया है। मालूम पड़ता है कि वह शिवजी के सिर का चन्द्रमा हो। मुँह में वचन नहीं है, मेरा मन स्थिर नहीं है, सारा शरीर जोर से काँप रहा है। घर में गुरुजन और दुर्जन से डर है। माधव, तुमने मेरे सिर पर कलंक का टीका लगाया।

(१) मुग्धा होने के कारण राधा भयभीत थी, प्रिय-मिलन भी अभीष्ट था, नीवी के साथ लाज भी खुल गई। अधरपान कर लिया। सोने की उँगली से या

कामे संसार सिङ्गार सिरिजल सोनाक आंगु (कु) र लागु।
आरति आकमे भाङ्गि न गेले, तोहर दूख न लागु। ध्रुव।
माधव अबे कि बोलब तोही
केसरि जनि कुरङ्गिनि आपलि मरम लागल मोही।
गज दमसलि दमनलता तैसन देखिअ देहे।
चापि चकोरेँ सुधारस पीठल निवसिए ससि-रेहे।
काजेरि ठाम अठाम न गूनल अधर खण्डु विभानी।
जुवति जीव करुना नाही कामदेव अहेरानी।
मनमथ[2] देवेँ सपथ मानल सुनि दइने विरानी।
कौं लागि आनल चान्दक कला राहु मेराठलि आनी।
कठिन कोमल की रीति सहति मालाजे बान्धलि हाथी।
निअँ अनुचिते सेवि सम गुरु सेओल लघुता जाथी।

प्राचीन तालपत्र पद ४१

अंकुर (नायिका) से काम ने शृङ्गार रस को सृष्टि की। आलिङ्गन (आकमे) के समय वह टूट नहीं गई (यही आश्चर्य)। मुझे तुम्हारा दुःख नहीं है (दुःख है उसका)। माधव, अब तुम्हें क्या कहूँ। आलिङ्गन के समय मुझे मालूम पड़ता था कि सिंह ने मृगी पर आक्रमण किया हो। उसका शरीर देखकर मालूम पड़ता था कि हाथी ने द्रोण (कठवत) के फूलों को मसल डाला हो या चन्द्रमा में निवास कर चकोर ने अमृत का रस चूस लिया हो। यह अवसर किस काम के लिये उपयुक्त है और किस काम के लिये अनुपयुक्त—यह उसने नहीं जाना, उसने अधर का खण्डन कर डाला। मालूम पड़ता है कि कामदेव-रूपी व्याध को युवतियों के प्राणों पर दया नहीं है। २.............। किस कारण चन्द्रमा की कला लाकर मैंने राहु के साथ मिला दी ? कोमल चीजें किस प्रकार कठोरता का सहन कर सकती हैं ? हाथी के साथ बँधी हुई मालाएँ किस प्रकार रह सकती हैं ?

(१४)

कन्दुकक्रीड़ा—वर्णन

वसन्त राग

करहुँ कुसुमे कन्दुक रीअ नरि कामिनि मानिनि मान लीअ।[1]
जमुन तट भए दिअ पँसार[2] राध गेनदे खेलन देखि निडार[3]। ध्रुव
लघु लघु लघु मदन कटार-वाट-पारिपाटि सिखावए चाटें-चौंट[4]।
निअ वँल्लभ परिहरि जुवति धाव मञे पओोले कारन किछु न भाव।
सब बोलेहिँ पुछए कान्ह-कान्ह, गाहकि मञे नोहल कि नतमान[5]।
रस बुझि विलस सिवसिंह देव लखिमादेवि पति-चरन-सेव।

प्राचीन तालपत्र पद ४२

(१५)

मालव राग

चरन[6]-कमल कदली विपरीत हास कला से हरए सौंचीत।
के पतिआओव एहु परमान चम्पके कएल पुहविनिरमान। ध्रुव।

---

(१) हाथ में फूल का गेंद ले लिया (रिअ = लिअ) और उसके द्वारा मानिनियों का मान दूर कर दिया।

(२) साधारणतः विद्यापति इसका व्यवहार 'बाजार' अर्थ में करते हैं, किन्तु यहाँ क्रीडाक्षेत्र (play ground) अर्थ में किया गया है।

(३) खूब ध्यान से देखने लगी।

(४) थप्पड़ से गेंद को मार काम धीरे-धीरे किस प्रकार कटार (छोटा अस्त्र अर्थात् वाण) चलाते हैं—यह सिखा रही हैं।

(५) अपने पतियों को छोड़कर युवतियाँ दौड़ीं। सोच-विचार करने पर मुझे कोई भी कारण नहीं देख पड़ा। पूछने पर सब युवतियाँ (उचित उत्तर नहीं देकर) 'कृष्ण-कृष्ण' बोलने लगीं। नतमान—आत्मगौरव-रहित।

(६) चरणरूपी कमल उलटकर रक्खे हुए केले का वृक्ष है। हास—कला के द्वारा वह सहृदय (सौंचीत) का हृदय हरती है। इस बात पर कौन विश्वास करेगा कि पृथ्वी चम्पा फूल से बनी है (पैर के नीचे की भूमि चंपा के फूल की

ए रे माधव पलटि निहार अपरुब देखिअ जुवति अवतार।
कूप गमीर तरङ्गिनि तीर जनमु सेमार लता विनु नीर।
चहकि चहकि दुइ खञ्जन खेल, कामकमान चान्द उगि गेल।
ऊपर हेरि तिमिरेँ करु वाद धमिलेँ कपल ताकर अवसाद।
विद्यापति मन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमादेवे-कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद ४२

(१६)

कोलाव राग

थिरे पद परिहरिए जे जन अथिरँ मानस लाव।
सब चाहिन दिने दिने खेलरत परतर पाव। ध्रु०।
साजनि थिर मन कए थाक।
हठें जे जसने करम करिअ भल नहि परिपाक।
बुधजन मन बुझि निवेदए सबे संसारेरि भाव।

तरह मालूम पड़ती है)। रे माधव, लौटकर देख, अपूर्व युवती दिखाई देती है। नदी (त्रिवली) के तट पर गहरा कुँआ (नाभि) है, जल के बिना सेवार (रोमावली) है। चहचहाते हुए दो खंजन पक्षी (आँखें) खेलते हैं। काम का बाण चन्द्रमा (मुँह) उग गया। सिर पर बालों के रहने के कारण अंधकार था। फल-स्वरूप अन्धकार और चन्द्रमा में लड़ाई छिड़ गई, किन्तु उसमें अंधकार की ही विजय हुई अर्थात् केशकलाप से मुखचन्द्र की शोभा और भी बढ़ गई।

तुलना कीजिये—चित्रं कनकलतायां शारदिन्दुस्तत्र खञ्जन-द्वितियम्।
तत्रच मनोज-धनुषी तत्र च गाढ़ान्धकाराणि।

(१) स्थिर वस्तुओं को छोड़कर जो अस्थिर की ओर मन ले जाता है उसकी तुलना उसी मनुष्य के साथ हो सकती है जो सर्वदा खेल में लीन रहता है। हे सखि, मन को स्थिर करो। शीघ्रता से जो काम किया जाता है उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। विद्वान् संसार की सब बातों को अच्छी तरह समझ-बूझकर बताया करते हैं जिस समय जितना धन रहे उसीसे निर्वाह करना चाहिये। विद्यापति कहते हैं कि हे युवती, तुम मत झँखो।

जखने जते विभव रहए तखने तेहिँ गमाव।
भन विद्यापति सुन तञे जुवति चितेँ न झाँखहि आन।

प्राचीन तालपत्र पद ४४

(१७)

वसन्त वर्णन

वसन्त राग

कुसुमधूरि[1] मलआनिल पूरित कोकिल कल सहकारे।
हारि पुरव परिपाटि हराएल आने चलल वेवहारे।ध्रु।
साजनि जानिले तन्त
सिसिरेँ महीपति दापेँ चापिकहुँ राजा भेल वसन्त।
मनमथतन्त अन्त धरि पढ़िकए अवसरँ भेलि सआनी।
आजुक[2] दिवस कालु नहि पइअए जौवनबन्ध छुट पानी।

प्राचीन तालपत्र ४५

१९४ पद भी यही है, किन्तु लेखक दूसरे मालूम पड़ते हैं।

(१८)

धनछी राग

तन्हिकरि धसमसि[3] विरहक सोस तञे दिढ़ कए कैतव पोस।
सोलह सहस गोपी परिहार तन्हिकाहुँ-कुल भेलि सि · [4]···जार।

---

(१) मलयानिल पराग से परिपूर्ण है। आम के वृक्ष पर कोयल कूक रही है। पुराना व्यवहार तंग होकर भाग गया। दूसरा ही व्यवहार चल पड़ा है। हे सखि, यह तन्त (तत्त्व या तन्त्र) जान लो। अपने प्रताप से (राजा) शिशिर (ऋतु) को दबाकर (जीतकर) वसन्त राजा हो गया है। मन्मथतन्त्र (कामशास्त्र) अंत तक पढ़कर, वह आज सुअवसर आने पर रस की विदुषी हुई है। आज का दिन कल नहीं मिलेगा। यौवन-रूपी बाँध से पानी निकल रहा है अर्थात् क्रमशः यौवन नष्ट हो रहा है।

(२) १९४ पद में 'अवसर गेल बहुरि नहीं आवए' पाठ है।

(३) उद्वेग-हार्दिक व्यथा। दिढ़ कए—दृढ़तापूर्वक।

(४) यहाँ दो अक्षर अस्पष्ट हैं।

मञो कि बोलब, सखि बोलइछ कान्ह सब परिहरि नागरि तोहि मान ।
समअर्के वसे ँ लहि सब अनुराग भलाहुक मन सन्देओपद जाग ।
पिअँरी दरमने नागर दूलर्ं   धान्टू गुने वन तुलँसी फूल ।
विद्यापति मन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमादेवि-कन्त ।

प्राचीन तालपत्र पद ४६

४७ वाँ पद एकदम छड़ गया है । ४८ वें पद का "धनछी । परका पिरीत सब हित……। दो विध पओलेँ मनसिजभाव । जे जे करए सेहे से पार । ध्रु । साजनि कि कहव कहहि न जाए" । इतना ही अंश मिलता है । इसके बाद ६ पृष्ठ नहीं हैं । १९ वें पृष्ठ के आरंभ में—आनी । भनइ विद्यापति एहु रस जाने राए सिवसिंह लखिमा देवि रमाने ।।५७।। है ।

(१६)

अभिसार वर्णन

धनछी राग

काँछिह काछिअ ई बड़ि लाज विनु नञ्चले न छुटए काज ।
काछिअ जेहे वहाइअ सेह तबे से मिलए दुलभ नेह । ध्रुव ।

---

(३) में यथा कहूँ, सखी कहती है कि कृष्ण सब नागरियों को छोड़कर तुमको मानते हैं ।

(४) समय के अनुसार सब प्रेम के अधिकारी बनते हैं । अच्छे मनुष्यों के मन में भी संदेह हो जाया करता है ।

(५) ये तीनों अक्षर खूब स्पष्ट नहीं हैं ।

(६) 'मूल' भी पढ़ा जा सकता है ।

(७) मिथिलाक्षर में ओ और तु करीब-करीब एक ही तरह लिखे जाते हैं ।

(८) काछिट्—कछाट् (नदी के किनारे की नीची भूमि) । काछिअ—अभिलाषा करना । एक ओर (चुपचाप) बैठकर मनसूबा बाँधना बड़ी लज्जा

साजनि झाटे ँ कर अभिसार चोरी पेम संसारेरि सार ।
किछु न गुनव पथक सङ्का सिनी पलल वैरि कलङ्का ।
तोर गतागत जीवन मोर आसा पलल कन्हाई तोर ।
तन्हि पठओलाहुँ तोहर ठाम दाहिन वचन····· वाम ।
तइअओ तन्हिकि तहिँ पिआरि दूती कएलए जनि सिआरि ।
नागरि हसलि दूती हेरि टूटल बोलव मञे कत वेरि ।
भन विद्यापति ई रस जानि (न) रानि लखिमा देवि रमान ।

प्राचीन तालपत्र पद ५८

(२०)

मानिनि मान भौने मन साजि माधव मनसिज मनमथ झाँझि
वि···· सें केलि मेलि रसबाध तेसरा माथे ँ सवे अपराध ।
दूती भए जनु जनमए नारि, बिनु मेले ँ मेलिहुँ गोआरि ।
एत एक कोसले ँ···[३]···मन्द तरनिक उदअ लहत की चन्द ।
पर अनुबोधे ँ बोध दुर जाए नाथ वराह दुअओ हल खाए ।
विद्यापति भन वुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमा देवि कन्त ।

प्राचीन तालपत्र पद ५६

की बात है। कार्यतंत्र में अवतीर्ण हुए विना (विनु नञ्चले) कार्य सिद्ध नहीं होता है। अभिलाषा कर जो प्रेम की धारा वहा देता है उसे ही दुर्लभ प्रेम प्राप्त होता है। झाटें—शीघ्रता से। संसारेरि—संसार का। सिनी (सिनीवाली)—परिवा। तइअओ—तथापि। पिआरी—प्यारी। सिआरी—रसज्ञा, धूर्ता।

(१) साजि—कर। मौनव्रत के द्वारा मन ही मन मान रख, माधव के काम को झकझोर कर उसने केलि में रसभंग किया, किन्तु दोष मढ़ा गया दूती के माथे। कोई भी स्त्री दूती होकर जन्म ग्रहण नहीं करे, ग्वालिन नहीं होने पर भी, मैं ग्वालिन (गँवारिन) बन गई। इतनी चतुरता से मैंने काम किया, तथापि परिणाम अच्छा नहीं हुआ। सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा की शोभा कहाँ ?

(२), (३) इन दोनों स्थानों में अक्षर उड़े हुए हैं।

(२१)

मालव राग

सुखले सर सरसिज मेल झाल, तरुन तरनि, तरु न रहल हाल।
देखि दरनि दरसाव पताल अबहुँ धराधर धरसि न धार। ध्रु०।
जलधर जलधन गेल असेखि करए कृपा बड़ परदुख देखि।
पथिक पिआसल आब अनेक देखि दुख मानए तोहर विवेक।
पलट निआसा निरस निहारि कहदहु कओन होइति ई गारि।
कओन हृदअ नहिं उपजए रोस ओल धरि करिअ पहे ँ पए दोस।
विद्यापति भन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमादेवि-कन्त

प्राचीन तालपत्र पद ६०

(२२)

मालव राग

करह रङ्ग पररमनी साथँ तकरि आनाइति, तोहे ँ पए नाथ।
से सबे परके ँ कहहि न जाए सुनाहूँ चिन्ता सेज ओछाए। ध्रु०

---

(१) सरोवर सूख गया, कमल गल गये, सूर्य की किरणें प्रचण्ड हैं; वृक्षों में हरापन नहीं है, (मैं देखता हूँ कि) दरार (खेतों में) पाताल दिखलाती है, हे धराधर (मेघ), अब भी तुम नहीं बरसते हो। जल पर जिनका जीवन निर्भर है वे मर मिटे। बड़े मनुष्य दूसरों का दुःख देखकर दया किया करते हैं। अनेक प्यासे पथिक तुम्हारा विवेक देखकर दुःखी होते हैं। यदि वे नीरस निराश लौट जायँ तो तुम्हीं बताओ कि यह किसके लिये गाली है। किसके मन में क्रोध नहीं होता है, किन्तु तुम सीमा (ओल) तक पहुँचा देते हो। यही तुममें दोष है।

(२) भोगविलास। अनाइति—पराधीनता। सुनहुँ – एकान्त में। ये सब बातें किसी से कही नहीं जा सकती हैं। किन्तु एकान्त में बिछौना बिछाकर (उसपर सोकर) सोची जा सकती हैं। और तुमसे मैं क्या कहूँ, नायिका को देखकर मेरा हृदय टूक-टूक हो जाता है। वह दो-चार दिनों तक ही जी सकेगी, क्योंकि विरहाग्नि सबसे प्रबल या प्रचण्ड होती है। वह शरीर जलाकर भस्म कर देगी। पूछता हूँ—क्यों? (इन सब उपद्रवों का क्या कारण है?)। अब भी लौटा दो।

माधव ओर कि कहव तोहि घनि देखलें मन धाधसि मोहि ।
दिन दूइ-चारि जिठति महिँ लागि सबतह खरि विरहानल आगि ।
से तनु जारि करत जनि छाए पुछओ काहित (द) हहो पलटाए
प्राचीन तालपत्र पद ६१

६२ वें पद के बहुत-से अक्षर उड़े हुए हैं। उसका केवल निम्न-लिखित अंश मिलता है,—"बान्धल हीर अजर लए हेम, सागर तह हे गहिर छल पेम। ओ उभरल, ई गेल सुखाए, नाह वलाहें मेघेँ भरि जाए। ध्रु। साजनि एतबा माङ्गओ तोहि। मोरहुँ अएलें···मोर देखितह देह। गत परान भेले जा लाज भलि नहि अनुबद अपद अकाज।···कबहुँ हरि अइसनि ओछि ॥६२॥" है।

(२३)

मुग्धा-वर्णन

श्रीराग

कमल[1] कोष तनु कोमल हमारे दिढ़ आलिङ्गन सहए के पारे।
चापि चिबुक हे अधर मधु पीबे कओने जानल हमेउ धरव जीवे।
पुरुष निठुर-हिअ सहजक भावे नोनुआ अङ्ग मोरा नखखत लावे। ध्रु०।
तखनक········[2]········मओ मरितहुँ ताहि तिरिवध लाइ।

---

(१) हमारा शरीर कमल की कली की तरह कोमल है। दृढ़ आलिङ्गन कौन सह सकता है? ठोड़ी पकड़कर अधर-मधु-पान किया, कौन जानता था कि मैं जी सकूँगी। स्वभाव से ही पुरुष निष्ठुर-हृदय हुआ करता है। इसलिए वह मेरे कोमल अङ्गों पर नखक्षत करता है। उस समय का वर्णन कैसे करूँ। उन्हें स्त्री-वध का पाप लगता और मैं मरती। हे कपटिनि सखि, तुमसे मैं क्या कहूँ, तुमने मेरा हाथ बाँधकर मुझे कुँए में गिरा दिया। विद्यापति कहते हैं कि हे मुरारि, सुनो दोष विचार कर नायक घमंड करते हैं।

(२) यह अंश उड़ गया है।

ए कपटिनि सखि कि बोलिबो तोही, हाथ बान्धि कुअँ मेललह मोही।
भनइ विद्यापति सुनहु मुरारि, पहु अवलेपए दोस विचारि।
प्राचीन तालपत्र पद ६३

(२४)

नायिका के प्रति सखी का उपदेश

बराली राग

बिरला कें मल खिरहर सोम्पलह, दूध बहलि, अछ डाढ़ी
दधि दुध घोर घीव सबोखपक सगरि रअनि सुखे खएलक काढ़ी।
जतन अबहुँ न चेतह अपाने
अपनुक कुगति अपने नहि जानह की उपदेस अआने।
बटइ गराम्बर बान्धि पठओलह भानस तेलक माभें।
तेहिँ बिरलवाओं सुख मुखें खाएल राति दिवस दुहु साभें
मुन्दहर घर मुन्दहरिआ कएलह मूस मानु सब छाड़ी।
काटि संखा बिख ·························बेधएलक गाडी।

---

(१) तुमने अच्छा किया कि बिल्ली को खीर सौंप दिया। परिणाम यह हुआ कि दूध बह गया। दही, दूध, छाछ, घी निकालकर उसने रात भर सुखपूर्वक खाया। अब भी सावधान नहीं हो जाती हो। तुम स्वयं अपनी दुर्गति नहीं जानती हो। अज्ञानी को उपदेश देकर क्या लाभ ? रसोई बनते समय बटइ (एक प्रकार की मछली) कपड़ों में बाँधकर तेल में गिरा दिया। बिल्ली ने सुखपूर्वक दिन-रात और दोनों शाम खाया। बंद घर में सबको छोड़ चूहे को रक्षक रखा············। ढेंकली में बाँधकर रेशमी साड़ी रक्खी—ऐसी तुम्हारी परिपाटी है। चूहे ने दोना (पतरागी) टुकड़ा-टुकड़ाकर उसमें रखी हुई मिठाई मुँह में डाल दी। गोबर में बाँधकर बिच्छू घर में डाल दिया (गोबर सुँघाने से मरा हुआ भी बिच्छू जी उठता है)। इस पद का सारांश यही है कि जिस सखी को दूती बनाकर तुम भेजती हो और जिसके ऊपर तुम्हें पूरा भरोसा है, वह स्वयं नायक से प्रेमासक्त हो गई है। अब भी सावधान हो जाओ।

घेङ्गुल बान्धि पटोरौँ घएलह अइसनि तुअ परिपाटी।
पतगगी जञो खण्डे खण्डे कएलक मुष मुखे हललक काटी।
गोबरेँ बान्धि बीछ घर मेललह एकर होएत परिनामे।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ६४

(२५)

विरह-वर्णन

मालव राग

एकेहिँ बेरिँ अनुराग वढ़ाओल पञ्चबान भेल मन्दा।
अधर विम्बँवत जेति न पलिछए न होअए दिवसक चन्दा।ध्रु०।
माधव तुअ गुने लुबुधलि राही
पिअ-विसरन मरनहुँ तह आगर तोहँ नागर सब चाही।
दुइ मन-रभस तेसर नहि जानए परदए समन्दए न जाई
चिन्ताञे चेतन अधिक वेआकुल रहलि, सुमुखि रहलि सिर लाई।
भनइ विद्यापति सुनह मधुरपति तोहेँ छाड़ि गति नहि आने
विसवास-देवि-पति रसकोविन्दक नृपति पदुमसिंह जाने।

प्राचीन तालपत्र पद ६५

केवल यही एक पद पद्मसिंह के नाम पर मिला है।

---

(१) एक ही वार प्रेम बढ़ाया, किन्तु काम प्रतिकूल हो गया। अधरविम्ब (कुन्दरू) की शोभा नहीं पाता है; क्योंकि दिन में चन्द्रमा नहीं सोहता है। हे माधव, राधा तुम्हारे गुणों पर लट्टू हो गई है। पति भूल जाय —यह मरण से भी अधिक दुःखदायी है। तुम सबसे अधिक रसिक हो। दो का मानसिक उद्वेग तीसरा नहीं जानता है, दूसरे के द्वारा संवाद भी नहीं भेजा जा सकता है। ज्ञानी को चिन्ता से विशेष व्याकुलता होती है। इसलिये सुमुखी सिर झुकाकर बैठी थी।

(२६)

विरह-वर्णन

वराली राग

करहिँ मिलेल रह मुख नहि सुन्दर जनि अवँसिन दिन चन्दा।
प्रकृति न रह थिर नअने गलए निर कमलँ भरए मकरन्दा।ध्रु०।
माधव तुअ गुने झामरि वामा।

दिन-दिन खिन तनु पिड़ए कुसुमधनु हरि-हरि ले पए नामा।
निन्दए चान्दँन परिहर भूषन चान्द मानए जनि आगी।
तेँ धनि दसँमि दसा लग पाओल वधक होएव तोहेँ भागी।
अवसर गेलें कि नेह बढ़ाओँव विद्यापति कवि भाने।
राजा सिवसिंह रूपनराअन लखिमा देवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ६६

यह पद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में भी है। आपको यह पद तालपत्र की पुस्तक में मिला था। पाठभेद अर्थ के नीचे पाद-टिप्पणी में है। अन्तिम पंक्ति उसी पुस्तक से ली गई है।

---

(१) सर्वदा हथेली पर मुँह रहता है, इस कारण वह सुन्दर नहीं मालूम होता है, मानो वह दिन का चन्द्रमा हो। स्वभाव (विचार) स्थिर नहीं रहता है, आँखों से आँसू गिरता है—मानो कमल से पराग गिरता हो। माधव, नायिका तुम्हारे गुणों से (को याद कर) व्याकुल है। उस दुबली को प्रतिदिन काम सता रहा है, किन्तु वह (सहायता के लिए) केवल हरि का नाम लेती है। चन्दन की निन्दा करती है, गहना पहनना छोड़ दिया है, चन्द्रमा को आग समझती है। इसलिए वह आसन्न-मृत्यु है, (किन्तु याद रहे) वध का पाप तुमको लगेगा।

२. खिन दिवसक ३. चन्दन ४. दसमि दसा तेँ धनि पाओल ५. बहला।

(२७)

दूती के प्रति राधा की उक्ति

सामरी राग

गाय चरावह[1] गोकुल वास गोपक सङ्गेँ[2] जन्हिक परिहास।
अपनेहुँ गोप गरुअ की काज गु[3]पुतें बोलसि मोहिं बड़ि लाज।
दू[4]ती बोलसि कान सञो केलि[5] गोपवधू सञो जन्हिका मे[6]लि।
गामहिँ बसले बोलिअ गमार नगरहुँ नागर बोलिअ संसार।
बसथि बथान झाँलि दुह गाए तें की बिलसब नागरि पाए।
आदि अन्त दुहु देलक गारि विद्यापति भन बुझथि मुरारि।

प्राचीन तालपत्र पद ६७ और नेपाल की पुस्तक

यह पद बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में भी है। उसका पाठभेद अर्थ के नीचे पादटिप्पणी में है।

(२८)

शैशव-यौवन-संगम

सुहव राग

कुचजुग धरए कुम्भथल कान्ति वाङ्क नखर खत अंकुस भान्ति।
रोमावलि नगसुण्ड के अनुरूप पानि पिअए चल नाभी-कूप। ध्रुव।

गाय चराते हैं, गोकुल में रहते हैं। ग्वालों के साथ उन्हें हँसी-दिल्लगी होती है। वे स्वयं भी ग्वाले हैं—उनके लिए यह कौन-सा आश्चर्य! तुम गुप्त रूप से उनके विषय में कहने आई हो, मुझे बड़ी लज्जा होती है। हे दूति, तुम उस कृष्ण के साथ केलि करने की शिक्षा दे रही हो, जिन्हें ग्वालिनों के साथ प्रेम है। गाँव में रहनेवाले गँवार और शहर में रहनेवाले नागरिक (रसिक) कहलाते हैं। कृष्ण गायों के झुंड में रहते हैं और गाय दूहते हैं। एक नागरी पाकर उसके साथ वे भोग-विलास क्या कर सकेंगे?

१. चरावए २. गोपक संगम कर ३. गुपुतहि ४. साजनि ५. मेलि ६. केलि ७. सालि ८. अंतिम पंक्ति गुप्तजी की पदावली में नहीं है।

(६) दोनों स्तन घड़े के समान मालूम पड़ते हैं, वाङ्क (वक्र) नखक्षत

देखह माधव कपलिअँ साज बाला चललि जौवन गजराज।
मदन महाउतें कएल पसाह लीलाञे नागर हेरए चाह।
पुनु लोचन पथ सीम न आउ सैसव राजभीतिँ पराउ।
विद्यापति भन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमा देवि कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद ६७

(२६)

श्रीराग

तुअ अनुराग लागि सअल रअनि जागि तरुतल तीन्तलि बामा रे।
अलक तिलक मेटि केअ देल भरि लिहि गेल अपनुक नामा रे। ध्रुव।
चलँ चल माधव बुझल सरुप सब, बचन आन फल आन रे।
जे नहि फलेँ निरवाहए पारिअ से बोलिअ कथि लागी।
से न करिअ जे पर उपहासए धाए मरिअ बरु आगी।
जिवओ जाए जग······························।

प्राचीन तालपत्र पद ६८

अंकुश की तरह सोहते हैं। रेमावली हाथी की सूँड़ की तरह देख पड़ती है—मालूम पड़ता है कि हाथी नाभीकूप में पानी पीने के लिए जा रहा है। माधव, देखो यौवन-रूपी गजराज पर चढ़ और शृंगार कर बाला जा रही है। मदनरूपी महावत हाथी को सज-धज रहा है और वह नागरिकों के दर्शन के लिए उत्सुक है। ऐ शैशव, सामने मत आओ, यौवनरूपी राजा के डर से भागो।

(१) तुम्हारे प्रेम के कारण सारी रात जागकर नायिका वृक्ष के नीचे भींगी। सरूप—सचमुच, सत्य, असली बात।

(२) चलो चलो, माधव मैंने सच्ची बात समझ ली। कहना कुछ और करना कुछ। जो काम नहीं किया जा सकता है वह बोलने से क्या लाभ? वैसा काम नहीं करना चाहिये जिससे लोग हँसें। इसकी अपेक्षा आग में कूदकर मर जाना अच्छा है।

इसके बाद ७६ वाँ पद (अंतिम अंश) मिलता है। वह यह है "जानि कहव मञो ताही। अपने सुखेँ अभिमत देति राही। तोहेँ परपुरुस ओहओ परनारी। दुहु कुलँ उचित पलओ रह गारी।७६। मालव जा भोअ नेहो अइसन मन्द। अमिअधार धरि बरिसए चन्द। धाधि होए सब लोमक सान्धि। बौरिओ आगिँ न मेलिअ बान्धि।ध्रु०। चल चल सुन्दरि कि बोलिवो तोहि। अइसन पेम जे लओलह मोहि। कुलिस पहारेँ जीव हल मारि। ता पाछेँ की करबि गोहारि।……………मोर पेखलें मन पतिआएल तोर। तोहें पररमनि हमर दिनदोस……………॥७७। धनछी। ………कपटेँ कएल माने, बाङ्क निहारि कएल समधाने। तथिहु नाथ अब भेल बामे…………कइसन होएत परिनामे। ……………कहव तोही। कत उपताप उपज मन मोही। सोभ दरस अबे हासे, अपनहिँ करे कठिन भुजपासे। ……… …। अधिक गुन जेँ पहु पिरीती। विद्यापति कविबानी। नाह अचेतन नारि सआनी।७८।"

(३०)

अभिसारिका-वर्णन

सुहव राग

केतकि कुसुम आनि, विरचि विविध बानि चौदिस साजल साला।
घृत मधु दुध दए नेतेँ बाती कए चौदिसँ देलक जिपमाला।ध्रु०।

---

(१) केवड़े का फूल लाकर, अनेक बातें बनाकर घर के चारो ओर सुसज्जित किया। घी, मधु, दूध देकर महीन कपड़े की वत्ती बनाकर घर के चारों ओर दीप-माला दी। माधव, सब काम कर मैं आई हूँ। सूर्य अस्त हो गये, चन्द्रमा का उदय हो गया, रात स्वच्छ तथा उज्ज्वल है। यह देख, सङ्केतस्थान निश्चित है— यह सुनकर डर के मारे गुरुजनों से कुछ भी नहीं पूछा……………।

माधव सबे काज अइलुहुँ साही
गुरु गुरुजन डरेँ पुछिओ न पुछलक सङ्केत कएलक सुन ताहो।
तरनि अस्त भेल चान्द उदित भेल अति ऊजरि निसा देखी।
गगन नखतलाथेँ निहलक[1] निज हाथेँ स्वर[2]सओ ससधर रेखी।
प्राचीन तालपत्र पद ७६

इसके बाद ८३ से ८८ तक पद अपूर्ण एवं अस्पष्ट हैं।

(३१)

भ्रमर-दूत

धनछी राग

की भेलि[3] कामकला[4] मोरि घाटि कि ओहे न बुझए रसपरिपाटि।
तीखर वचन कन्ते दिहु कान ते ँ विहिँ करु मोर सम अवधान। ध्रुव।
भमर हमर किछु कहव सन्देस कन्त वसन्तेँ न रह दुर देस।
कोदहुँ भमर ततए नहि नाद पिक पञ्चम धुनि मधुर न नाद।
की धनुवान मदन नहि साज की विरही नहि विरहि समाज।
प्राचीन तालपत्र पद ८६

इसके वाद १८ पत्र (३६ पृष्ठ) नहीं हैं। इसलिए इसके बाद १५६ वाँ पद है।

---

(१) यह 'लिहलक' भी पढ़ा जा सकता है। (२) 'सुर' भी हो सकता है।

(३) कामकला में मेरी क्या कमी हुई या उन्हीं में रसिकता नहीं है? मेरे पति ने (दुष्टाओं के) कठोर वचनों को सुना है। इसीलिए वे मेरी अवहेलना करते हैं। हे भ्रमर, मेरा संवाद कह देना—वसन्त में दूर देश नहीं रहियेगा। क्या वहाँ भौंरे नहीं गूँजते हैं, कोयल पञ्चम स्वर से नहीं गाती है, काम धनुष पर बाण नहीं चढ़ाते हैं? क्या वहाँ कोई विरही नहीं है या विरहियों का संसर्ग भी नहीं होता है?

(४) तुलना कीजिये—की हमें कामकला एक घाटि
कोदहुँ समयक रहे परिपाटि
रागतरङ्गिणी, पृष्ठ १०२

(३२)

बराली राग

सगरिश्रो[1] रश्रनि चान्दमश्र हेरि मने मने धनि पुलकलि कत बेरि।
कालि दिवससञो होएत अन्धार अपने सु[2]...हे करव अभिसार।
सखि मञो की कहव हृदश्र जत वास अपनेहिँ निधि आइलि जनि पास।
एक रूप रह जुग वहिजाए तेँ गुनगौरवे एहे उपाए।
खान्त निसाकर गरसओ राहु, हो नहि दुख विरही जनकाहु।
विद्यापति भन सुनु वरनारि अवसर जानि जे मिलत मुरारि।
राजा रूपनराएन जान राए सिवसिंह लखिमादेवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद १५६

(३३)

सुहव राग

बरख दोआदस लगलाह जानि कतोँ[1] जलासञँ पिठलन्हि पानि।
जानल हृदश्र, भेल परिताप तेँ नहिं गनले परतर पाप। ध्रुव।
साजनि कि कहव कहइतें लाज अनुदिने भेल चीन्हि सम काज।
प्रथम समागम दरसन लागि वारिस रश्रनि गमाओलि जागि।
पवनहुँ सञो कएलन्हि अवधान प्रथम गतागत पथ सव जान।

प्राचीन तालपत्र पद १६० राग सुहव

इसके वाद एक पद अस्पष्ट है।

---

(१) सारी। रश्रनि—रात। चान्दमश्र—चन्द्रमय। पुलकलि—प्रसन्न हुई।

(२) यहाँ एक अक्षर उड़ गया है। इसका अर्थ 'इच्छानुसार' मालूम पड़ता है।

(१) कितने, अनेक। जलासअँ—जलाशय। परिताप—दुःख। परतर—बड़ा। पवनहुँ सञो—हवा से भी सावधान रहते थे अर्थात हवा भी मुझे नहीं लगती थी।

(३४)

पाएँ तक पाछु गेलि लाज, पथँ चललें विसरलहुँ न काज।
जमुनतीरँ सञो समन्दँल मान, कैसन कए की बुझत अञोन।
ए सखि आओर की बोलवँह से जानि कपटिहिँ निकटओ लओलह आनि।
निअँमिअ पेम हेमसम हारि, अङ्गिरिअ कामिक दुहु कुल गारि।
पलटि जाइते घर बड़ बलँहीन अबे सबे किछु भेल तोर अधीन।
विद्यापति मन सुन वरनारि धैरजे तरुनि तिरोहित गारि।

प्राचीन तालपत्र पद १६२

(३५)

श्रीराग

से अतिनागर तञो रससार पसरओ बीथी पेमपसार।
जौवन नगरँ वेसाहत रूप तते मुलइहह जते सरूप।ध्रुव।
साजनि से हरि रस-वनिजार गोपमरमे जनु बोलह गमार।
विधिवसे अबे करव नहि मान जइअओ सोलह सहसपति कान्ह।
तन्हि तंहँ उचित वहुत जे भेद मनमथ मधये करव परिछेद।
भनइ विद्यापति एहु रस जान राए सिवसिंह लखिमादेवि रमान।

नेपाल की पुस्तक और प्राचीन तालपत्र पद १६३

---

(१) पैर तक। (२) संवाद भेजा। (३) अज्ञान। (४) 'बोलव एमें' भी हो सकता है। (५) निश्चित कर लेना चाहिए। हेम के समान प्रेम खोने के लिए तैयार होना चाहिए। (६) कमजोरी मालूम पड़ती है। (७) वह अत्यन्त रसिक है, तुम भी रसमयी हो। गलियों में प्रेम का बाजार लगा हुआ है। वे यौवनरूपी नगर में आकर रूप (सौन्दर्य) खरीदेंगे। जितना उचित हो उतना ही मूल्य बताना। वह हरि रस का व्यापारी है। ग्वाला समझकर उसे 'देहाती' नहीं कहना। यद्यपि कृष्ण सोलह हजार गोपियों के पति हैं तथापि अब मान नहीं करना। तुम में और उनमें जो भेदभाव है कामदेव मध्यस्थ होकर उसका निर्णय करेंगे।

(३६)

प्रथम समागम

मुग्धावर्णन

कानल राग

बदेर सरिस कुच परसव लहु कत सुख पाओव करति उहुँ उहुँ ।
बाहुक बेढ़ँ परस निवार नीवी-मोव काए के पार । ध्रुव ।
माधव अनुभव पहिलुक सङ्ग नहि नहि करति इहे बथु रंग ।
अधरपाने से हरति गेआन कमलकोष कए धरति परान ।
वैरी डीठिँ निहारति तोहि जनु भमरसि पुछिहिसि मोहि ।
नूतन रस संसारक सार विद्यापति कह कविकण्ठहार ।

प्राचीन तालपत्र पद १६४

(३७)

धनछी राग

गुरुजन दुरजन परिजन वारि न गुनल लाघव कुलके गारि ।
जीव कु[2]सुम कए पूजल नेह मरि उमकल अवे तोहर सिनेह ।
........[3]........ वास सखिँ जानव जओ बड़ उपहास ।ध्रुव ।
पुनु जनु आवह हमर समाज मओ नहि रखवे आखिक[4] लाज ।
मुनिहुक काजँ पलए परमाद हमँराहुँ जनु से पल अपवाद ।

---

(१) बैर के सदृश स्तनों को धीरे धीरे छूना । जब वह 'नहीं, नहीं' कहेगी तब तुम कितना सुखी होओगे । हाथ के घेरे से छूना रोकती है, (इसलिए) नीवी कौन खोल सकता है ? माधव, प्रथम समागम का अनुभव करो । वह 'नहीं, नहीं' कहेगी—यही रंग है । अधर-पान करने पर वह बेहोश हो जायगी, किसी तरह जीवन की रक्षा करेगी । वह वैरी दृष्टि से तुम्हें देखेगी............। (२) प्राणों को फूल बनाकर उनके द्वारा प्रेम की उपासना की । (३) ये अक्षर अस्पष्ट हैं । (४) डर, भय, संकोच । (५) हमको यह निन्दा नहीं हो कि मुनियों के कामों में भी भूल हुआ करती है (मुनीनामपि मतिभ्रमः) ।

मुन्दरि वचने हललें सिर भालि, नागर न सह कुंगइँआ गारि[2]।
जत अनुराग दूर सबे गेल मौतिक पुतरी विषधर भेल।
विद्यापति कह सुन वरनारि पहु अवेलेपिअ दोस विचारि।
राजा रूपनराएन जान सिरि सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद १६५

(३८)

शुक्लाभिसारिका-वर्णन

सुहव राग

चान्दक[3] तेज रअनि धर जोति रजत सहित धनि पहिरल मोन्ति।
चान्दने तनु अनुलेप सिङ्गार धम्मिलँ थोएल कुन्दक भार।ध्रु०।
हरि कि कहव अनुपम भान्ति सखि अभिसार दिवस सम राति।
नअनक काजर दुर कर धोए चान्दक उदअँ कुमुद जनि होए।
नअन चान्द दुहु एक तरङ्ग जमनाजलँ विपरीत तरङ्ग।
जमुना तरि धनि आइलि राति तुअ अनुरागेँ अङ्गिरि कत साति।
विद्यापति भन अभिनव कान्ह राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद १६६

---

(१) सिर हिलाकर अस्वीकार किया। (२) बेढब, असभ्यतापूर्ण।

(३) चाँदनी रात थी। इसलिए नायिका ने चाँदी का गहना और मोती पहन लिए। शरीर में चन्दन लगाया, बालों को कुन्द के फूलों से सजाया। हे हरि, इस अनुपम रीति का वर्णन किस प्रकार करूँ। सखी के अभिसार के लिए दिन और रात—दोनों बरबर हैं। आँख का काजल धो डाला—मालूम पड़ता था कि चन्द्रोदय होने पर कुमुद के फूल खिल गये हों। आँख और चन्द्रमा—दोनों के एक तरह तरङ्ग थे अर्थात् दोनों अनुकूल थे, किन्तु यमुनाजल का तरंग प्रतिकूल था। तुम्हारे प्रेम से कितना कष्ट सहकर यमुना पारकर नायिका आई है। विद्यापति कहते हैं कि लखिमा देवी के पति राजा सिवसिंह 'अभिनवकृष्ण' हैं।

(३९)

श्री राग

जेहुआ कान्ह देल तोहि आनि मने पाओल मेल चौगुन वानि।
आवे दिने-दिने हे पेम भेल थोल कए अपराध बोलह कत बोल ।ध्रुव ।
अवे तोहि साजनि मने नहि लाज हाथक काकन अरसी काज ।
पुरुषंक चञ्चल सहज समाव कए मधुपान दसओ दिस धाव ।
एकहिँ बेर तजे दुर करु आस कूप न आवए पथिकक पास ।
गेले मान अधिक हो सङ्ग बलेँ कए की उपजाओव रङ्ग ।
भनइ विद्यापति एहु रस जान राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान ।

प्राचीन तालपत्र पद १६७

बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में भी यह पद है। उसमें पहला शब्द जहिआ है और छठी पंक्ति में वल के स्थान में बड़ है।

(४०)

गुर्जरी राग

पहिलहिँ पेमक तरुअर बाढ़ल कारन किछु नहि भेला।
साखा पल्लव कुसुमे वेआपल सौरभे दिस भरि गेला।ध्रुव।

---

(१) जव । पेम—प्रेम । थोल—थोड़ा । कए—कर ।

(२) पुरुष स्वभाव से ही चंचल होते हैं, मधुपान कर दसो दिशाओं में दौड़ते हैं। तुम आशा दूर करो, कुँआ पथिकों के समीप नहीं आता है। मान दूर करने पर मेल होता है, वलात्कार में रस कहाँ ?

(३) पहले कुछ भी कारण नहीं था, प्रेम का वृक्ष वढ़ा, फूल शाखा और पल्लव से परिपूर्ण हो गया, सुगन्ध दस दिशाओं में व्याप्त हो गई। हे सखि, दुर्जन की दुष्ट नीति से असमय वह (वृक्ष) जड़ से सूख गया। मैंने पहले ही कुल का धर्म खो दिया, अब कौन लौटा देगा ? चोर की माता मन-ही-मन दुःखी होती है,

सखि हे दुरजन दुरनए पाए मूवा जञो मूलहिँ सञो भाङ्गल अपदहिँ गेल सुखाए
कुजक घरम पहिलेहिँ सनिआओल कञोने देव पलटाए।
चोर जननि जञो मने मने झाखिअ कान्दिअ वदन झम्पाए।
पेसने देह गेह न सोहावए बाहर वम जनि आगि।
विद्यापति भन अपनेहिँ आओत सिरि शिवसिंह रस लागि।

प्राचीन तालपत्र पद १६८

नैपाल राजपुस्तकालय की पदावली में भी यह पद है। इसमें पहिलहिं के स्थान में अपनहिं, दिस भरि गेला के स्थान में दह दिस गेला, मूलहिं के स्थान में मूर, सनि आओल के स्थान में अलि आएल, कान्दिअ के स्थान में रोओ, आओत के स्थान में आउति है।

(४१)

धनछी राग

वाढ़िक पनि काढ़ि जा जेंनि ठाम रहलें गए जे निज मानि।
अइसनहुँ सुमुखि करह तोहेँ रोस पुरुसक की दिअ पतवाहिँ दोस।ध्रु०।
दह दिसँ भमर करओ मधुपान थिर भए चाहिअ अपन गेआन।
जातकि केतकि मालति सार रमनो भए जदि करए विहार।
मधु लए के धुर मधुपक सङ्ग थावर गौरव ई वड़ रङ्ग।
पर-अनुराग रागेँ गेल मोहि से मञे छड़लें सुमभए तोहि।
भनइ विद्यापति बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमा देवि कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद १६६

और मुँह ढाँककर रोती है। इस अवसर पर घर में अच्छा नहीं मालूम पड़ता है और बाहर आग बरसती सी मालूम पड़ती है।

(१) इसका कुछ अर्थ ज्ञात नहीं होता है।

(२) स्थान को अपना समझकर वहाँ रह गई अर्थात् आकस्मिक घटना के

(४२)

सुहव राग

वामा-नअन फुरन आरम्भ, पुलुक मुकुले पूरल कुच कुम्भ।
नीवी निविल सँसर तेँ वीधि सगुने सुचिहलु साहस सीधि।ध्रुव।
चल चल सुन्दरि न कर वेआज, मदने महासिधि पाओवि आज।
विलम्ब न कर अङ्गिरहि अभिसार हठेँ पए फारअ कामिक वाण।
ताहि तरुनिकाँ कओन तरङ्ग जकरा मदन महीपति सङ्ग।
विद्यापति कवि कहए विचारि पुनमन्त पावए गुनमति नारि।

प्राचीन तालपत्र पद[2]

द्वारा यदि किसी से प्रेम हो गया तँ उसपर क्रोध नहीं किया। इस अवसर पर भी तुम क्रोध करती हो। इसमें पुरुष का क्या दोष दिया जाय? भ्रमर दस दिशाओं में घूमकर मधुपान किया करते हैं, किन्तु अपना विचार स्थिर रहना चाहिए। जातकी (चमेली) केतकी (केवड़ा) आदि स्त्री होकर भी यदि विहार करे तो मधु लेकर भ्रमर के साथ कौन भ्रमण करेगो? प्रेमिका होने का स्थायी गौरव प्राप्त करना ही रसिकता है।

(१) वाईं आँख फड़कने लगी, कुचकुम्भ पर रोमाञ्चरूपी कली निकल आई। निविल (कसकर बाँधो हुई) नीवी सरक गई। इस तरह सगुन ने तुम्हारे साहस में सफलता की सूचना दी है। सुन्दरि, चलो, बहाना मत करो। आज काम की महासिद्धि पाओगी। जब अभिसार करने की प्रतिज्ञा की है तो विलम्ब मत करो? वलात्कार करने पर काम का वाण हृदय विदीर्ण कर देता है। जिसके साथ राजा कामदेव हैं उस युवती को क्या चिन्ता? विद्यापति कवि विचारकर कहते हैं कि पुण्यवान् मनुष्य गुणवती स्त्री पाते हैं।

(२) इस पद के वाद पदाङ्क नहीं है।

(४३)

धनछी राग

ई दसिहालेल दखिन चीर हीराधारँ हराएल हीर।
अइसन नीरज देलए जोलि वलअ माङ्गल बाँह ममोलि ।ध्रु०।
भलि परिनति भेलि मुरारि भल कए राखलि कुलक गारि।
वकुलमाला गान्तल नाथे मोहि पिन्धओलुहु अपने हाथे।
सासु सनारल फुजल आर ननदेँ गान्तल टुटल हार।
सरस कवि विद्यापति गाव मनक पाहुन मदन भाव।
राजा रूपनरायन जान सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद १७०

(४४)

मुग्धा-वर्णन

गुर्जरी राग

नँ बुझए रस, नहि बुझ परिहास, नहि आलिङ्गन, भउह विलास।
सब रस तहि खने चाहह ताहि सागर कओने पएवेहो थाहि। ध्रु०।
माधव, सखि मोरि सहज अआनि रस बूझति तओ होइति सआनि।
अनुभवि बूझति जखने सँभोग ताहि खन कोपहु करबौं जोग।

---

(१) दक्षिण देश की साड़ी फट गई, हीरों का हार माला में उलझ गया और परिणाम स्वरूप इसका हीरा खो गया। कमल की माला तुमने इस प्रकार गूँथी कि उसने हाथ मचोड़कर चूड़ी फोड़ दी। परिणाम अच्छा हुआ, अच्छी तरह कुल की मर्यादा की रक्षा की। पति ने वकुल की माला गूँथी और अपने हाथ से मुझे पहना दी। सास ने खुले हुए बालों को सँभाला, ननद ने टूटे हुए हार को गूँथा।

(२) वह रस, हँसी, आलिङ्गन, त्योरी चढ़ाना—आदि कुछ भी नहीं जानती है। ऐसी मुग्धा से तुम सब रस चाहते हो—कौन मनुष्य समुद्र की

एखनक आरतिँ हर पए दन्द मुन्दलौं मुकुलँ कतए मकरन्द।
विद्यापति कह नव अनुराग बड़ पुनमन्त पाव पए भाग।
रूपनराएन बुझ रसमन्त, राए सिवसिंह लखिमादेवि कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद १७१

(४५)

धनछी राग

वसन हरइते लाज दुर गेल पिअक कलेवर अम्बर भेल।
ओओधें नअने निझावए दीव मुकुलहुँ कमलँ भमर मधु पीव।
मनसिज तन्त कहओ मन लाए बड़ उनमनिआ अवसर पाए।
से सबे सुमरि मनहुँ काँ लाज जते सबे विपरित तन्हिकर काज।
हृदअक धाधसि धसमसि मोहि आओर कहिनी कि कहवि तोहि।
सकलओ रस नहि अनुवद नारि विद्यापति कवि कहए विचारि।

प्राचीन तालपत्र पद १७२ और नेपाल की पदावली

यह पद नैपालराज-पुस्तकालय की पदावली में भी है। उसमें पिअक के स्थान में पिआक, नअने के स्थान में मुहे, निझावए

गहराई का अंदाज लगा सकता है माधव, मेरी सखी स्वभाव से (कम उम्र होने के कारण) बेसमझ है। जब उसे ज्ञान होगा तब वह रस समझेगी। जब अनुभव के द्वारा संभोग क्या है—यह समझ सकेगी तब ही क्रोध करना भी उचित होगा (इस समय क्रोध करना भी निरी मूर्खता है)। इस समय तुम्हारी अभिलाषा का परिणाम केवल कलह होगा। बन्द कली में पराग कहाँ ?

(१) कपड़ा छीन लेने पर लाज दूर हो गई, प्रियतम का शरीर ही कपड़ा हो गया। आँखें तिरछी कर दीपक बुझा दिया। भ्रमर कमल की कली का भी मधु पीता है। मैं सावधान होकर कामशास्त्र सिखाती हूँ। किसी समय बातें बेढब हो जाया करती हैं। उन बातों को याद कर मन ही मन लज्जा होती है। और बातें तुमसे क्या बताऊँ।

(२) 'डलमलिआ' भी पढ़ा जा सकता है।

के स्थान में निहारिए, मुकुलहुँ के स्थान में मुंदला, मनसिज तन्त कहब्ो मन लाए के स्थान में मनमथ चातक नही लजाए, उनमनिश्रा के स्थान में उनमतिश्रा, तनिकर के स्थान में ताहि, धाधसि के स्थान में धाधस, धसमसि के स्थान में धसमस, कहिनी के स्थान में कहिली है। अन्तिम पंक्ति भी उस पदावली में नहीं है।

इस पद के वाद "सुहव। राङ्गलि देखिश्र पाउस" इस पृष्ठ में है। अनन्तर दो पत्र (चार पृष्ठ) नहीं हैं। ५४ पत्र के आरम्भ में "न न जाए। रूपनराश्रन ई रस जान सरस कवि विद्यापति भान। १८६।" है।

(४६)

धनछी राग

पहुसञो उतरि बोलंव बोल श्रइसन मन न मानए मोर।
से जदि वचँने फलेँ उदास अपनि छाहरि तेज न पास।ध्रुव।
सखि पचारसि मन्देँ साथ हर श्रो श्रादर अपन नाथ।
कैरव सुरुज, कमल चन्द परपुरुसक सिनेह मन्द।
नागरि भए यदि हठेँ विमान एकहि जनमे इछव श्रान।
सरस मन कवि-कण्ठहार सुन्दरि राख कुल वेवहार।
ई सब रूपनराएन जान रानि लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद १८७

---

(१) उत्तर-प्रत्युत्तर करना।

(२) वे यदि प्रिय वचन नहीं बोलते हैं या उनसे कोई फल नहीं होता है तथापि जिस प्रकार छाया साथ नहीं छोड़ती है उसी प्रकार साथ नहीं छोड़ना। तुम दुष्टाओं के साथ रहती हो, वह (उनका संसर्ग) अपने नाथ का आदर करना भुला देगा। जिस तरह कमल सूर्य को तथा कुमुद चन्द्रमा को प्यार करता है उसी प्रकार पति का प्रेम करना उचित है और परपुरुष का स्नेह करना अनुचित है। रमणी होकर भी यदि तुम मान नहीं छोड़ोगी तो इसी जन्म में और ही बात हो जायगी।

(४७)

धनछी राग

कोकिलें गावए मधुरिम बानि ऋतुँ वसन्तँ हे अमिञ रसेँ सानि।
असमअ पसि-आलाना पाए चेञो चेञो करिअ काहु न सोहाए।ध्रुव।
साजनि अवेकत देह असवास कान्हेँ जाएव मोहि पास।
गुरु सुमेरु तह सुपुरुस-बोल कुलक धरम छडलेँ की मोर।
करमक दोषे विघटि गेलि साटि, अगिला जनम बुझवि परिपाटि।
विद्यापति भन न कर विराम अवसर जानि धरत ओ काम।
रूपनराएन बुझ रसमन्त राए सिवसिंह लखिमा देवि कन्त।

प्राचीन तालपत्र पद १८८

(४८)

नअनक नीर चरन तल गेल थलक कमल अम्भोरुह भेल।
अधर अरुनिमा लखि नहि होए सिसिरे किसलअ छाडु धनि धोए।ध्रुव।
माधव जतनहुँ राखए गोए ससिमुखि नोरेँ ओल नहि होए।
तुअ अनुराग सिथिल सखि जानि अउलिउ बिसरलि मनसिज बानि

प्राचीन तालपत्र पद १८६ और नेपाल की पदावली

---

(१) आँखों का आँसू पैरों पर गिर गया। स्थल— भूमिपर वर्तमान) कमल (पैर) अम्भोरुह हो गया क्योंकि उसके नीचे पानी था। अधर की लाली देखी नहीं जाती है—मालूम पड़ता है कि शिशिर ऋतु ने कमल धो डाला हो। तुम्हारे प्रेम को शिथिल जानकर कामोद्दीपक बातें, जो वह जानती थी, भुला गई।

(१) नयनक (क) (२) अरुण निमिष नहि होए (क) (३) हलु धोए (क) (४) नोरे (५) गेलिहुँ। नैपाल राजपुस्तकालय की पदावली के ये पाठ हैं।

(१) अमृत रस मिलाकर कोयल मीठा गाना गाती है। असमय व्याध के बन्धन में (पसि = पाशी (व्याध), आलान—बन्धन) पड़कर पक्षी चें चें शब्द करता है जो किसी को भी अच्छा नहीं मालूम पड़ता है। हे सखि, अव्यक्त रूप से आश्वासन दो कि श्रीकृष्ण मेरे समीप आवेंगे। सुपुरुषों का वचन सुमेरु से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कुलधर्म छोड़कर मुझे क्या लाभ होगा? भाग्य-दोष से विरह हो गया। आगामी जन्म में ही मैं रस समझ सकूँगी।

इसके वाद २८ पत्र नहीं हैं, ८३ वाँ पत्र इस प्रकार आरम्भ होता है "हिनि वाला, कत सहबि कुसुमसरधारा। नअन निरन्तर नोरे, वामाँ करतल मिलल कपोले। अवधि समअ लेखि लेखी, रूप रहल अछ तनु अवसेखी। दखिन पवन वह सङ्का हृदहुँ हार भुअङ्ग ससङ्का। कवि विद्यापति कह आधी जुवति अन्त भेल विरह वेआधी। रूपनराएन जाने राए सिवसिंह लखिमा देवि रमाने।३०४।" । इसके वाद दूसरे लेखक का लेख है।

(४६)

लरि (लि) त·राग

सपने देखल हरि, गेलाहुँ पुलकेँ पुरि
जागल कुसुमसरासन रे।
ताहि अवसर गोरि नीन्द भाँगलि मोरि
मनहि मलिन भेल वासन रे।ध्रु।
की सखि पओलह सुतलि नगओलह
सपनेहुँ सङ्ग छडओलह रे।

---

(१) स्वप्न में हरि को देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए, कामदेव जाग उठा। उसी समय गोरी ने मुझे जगा दिया, मेरा मन दुःखी हो गया। हे सखि, मुझे जगा कर तुमको क्या मिला? स्वप्न का संग भी छुड़ा दिया। श्यामवर्ण श्रीकृष्ण आँचल पकड़कर करधनी खोल रहे थे। उस समय जितना रस उपजा उसके विषय में अधिक क्या बताऊँ। कौन कहता है कि कृष्ण ग्वाला है? विछौने के किनारे खिसक कर मैंने हरि को गले लगाया। दो मुँहों का अर्थात् कमलों का मिलन हुआ। मेरी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गईं, रत्न स्वयं मेरे पास आ गया। तुम्हारे दोष से वह रत्न लुट गया या भाग्य ने छीन लिया। विद्यापति कहते हैं कि हे वर युवति, पुराने प्रेम का अनुसरण करो।

सामर सुन्दर हरि रहल आँचर धरि
फोअइते[1] किङ्किणि[2] माला रे।
आओर कहव कत रस उपजल जत
के बोल कान्ह गोआला[2] रे।
ससरि सअनसिम[3] हरि गहलिहुँ गिम
मुखे मुखे कमल[4] कमल मिलु रे।
पुरलि सकल[5] सिधि सहजें आइलि[6] निधि
तोर दोखे[7] दईव[8] अधो[9] लिलिहु रे।
भनइ विद्यापति[10] अरे रे वरयुवति
अनुसअ पेम पुराना रे।
राजा सिवसिंह रूपनराएन
लखिमादेवि रमाना रे।

प्राचीन तालपत्र पद ३०५

यह पद रागतरङ्गिणी में भी है, किन्तु गुप्तजी की पदावली में नहीं है। इसके बाद तीसरे लेखक का लिखा हुआ है।

अभिसार

विभास राग

(५०)

बदन कामिनि रे वेकत जनु करिहह[11]-[12] चउदिस होएत उजोर[13]
चान्दक भरमे अमिञ[14]-रस-लालसे[15] अँ[16]ठ कए जाएत चकोर[17]।ध्रु।

---

(१) डोरा (२) गोआरा (३) शयन (४) भमर (५) मनक (६) जानि देहलि विहिँ (७) दोषे (८) दैव (९) अधोरि लेल हे।

(१०) अन्तिम चार पंक्तियाँ तथा तृतीय और चतुर्थ पंक्तियाँ रागतरङ्गिणी में नहीं है।

(११) हे (क) (१२) करवे (क) (१३) उजोरे (क) (१४) अमिय (क) (१५ लालच (क) (१६) ऐंठ (क) (१७) चकोरे (क)।

हे कामिनि, अपना मुँह प्रकट मत करो, चारों ओर प्रकाश हो जायगा? अमृतरस का प्यासा चकोर चन्द्रमा समझकर तुम्हारा मुँह जूठा कर देगा।

सुन्दरि तुरितें चलेहिँ अभिसार।

अवहिं उगत ससि, तिमिर तेजवँ निछि, उसरत मदन पसार।
मधुरँ वचन भरमहुँ जनु वाजह सौरभे जानत आन।
पङ्कज भर्मे भमरे भमिँ आओव करत अधर-मधुपान।
तओ रस-कामिनि मधुक जामिनि गेल चाहिअ पिंअ सेव।
राजा सिवसिंह रूपनराएन कवि अभिनव जयदेव।

प्राचीन तालपत्र पद २०६

इसके बाद १०९ वाँ पत्र है अर्थात् बीच के २५ पत्र (५० पृष्ठ) नष्ट हो गए हैं। १०९ वाँ पत्र इस प्रकार शुरू होता है "हरि निहतासलि केसरिकोरे। धर धर खने हे धमिल मुखमन्दा। चम्पक कोरक कुच अभिरामे सब रस साखि धएल अछ कामे। सैसव सेख जउवन परवेसे मनसिज गुरु देल हित उपदेसे। अमिल मिलल कवि विद्यापति भाने राए सिवसिंह लखिमा देव रमाने ३८१॥"

(५१)

मालव राग

जिव जओ हमे सिनेह लाओल तोहेँ विहदअँ जानि।
मत जन भए वाचा चूकह ई वड़ि लागए हानि॥ध्रु०॥

सुन्दरि, शीघ्र सङ्केत-स्थान चलो। अब ही चन्द्रमा का उदय होगा, अन्धकार दूर होगा, काम का बाजार उसर जायगा। भूल से भी मीठा वचन मत बोलो। कमल के फूलों पर घूमता हुआ भौंरा सुगन्ध के लोभ से अधर का मधु पी लेगा। तुम रसिक नारी हो, वसन्त ऋतु की रातों में प्रियतम की सेवा के लिए तुम्हें जाना चाहिए।

(१) सोरित (क) (२) चलिय (क) (३) तेजव (क) (४) अमिय (क) (५) बुझत (क) (६) लोभे (क) (७) चलि। ये पाठ गुप्तजी की पदावली के हैं।

माधव बुझल तोहर नेह
निठुर पेम पराभव पाओल नीवहुँ भेल सन्देह।
आनुव जिवन जउवन थोला जगत के नहि जान।
भलविका वल हटल न रह तइओ तोहिहि मान।

प्राचीन तालपत्र पद ३८२

(५२)

मालव राग

विकच कमल तेजि भमरी सेओल मधुरि फूल।
समअ सम्पद देखि डराएल बड़ेओ वचन मूल।ध्रु।
साजनि भल भेल अभिसार।
सुपहु पलिए जथाँ गेलि हे तकर पुन अपार।
गुनक वान्धल आएल नागर मन्दिरँ न देखल तोहिँ।
मदनसरे बेआकुल मानस आएल चौदिस जोहि।
सुनि सेज सुति रहल वाकुल नअने तेजए नीर।
हरि हरि हरि पुकारए देह न मानए थीर।

प्राचीन तालपत्र पद ३८३

---

(१) तुझ हृदय-शून्य के साथ प्रेम कर यदि मैं जी जाऊँ (आशा तो कम है)। सज्जन पुरुष होकर प्रतिज्ञा पालन नहीं करते हो—यह बड़ी लज्जा की बात है। माधव, मैंने तुम्हारा प्रेम समझ लिया, जीवन-मरण की समस्या उपस्थित हो गई थी। यह दुनिया जानती है कि इस जीवन में अब मुझे यौवन नहीं मिल सकता है। मालवाग्निमित्र में इरावती के मना करने पर भी मालविका नहीं मानती थी (उसी प्रकार मैं भी किसी के रोके रुक नहीं सकती) तथापि उलटा तुमही मान करते हो।

(२) फूले हुए कमल का फूल छोड़कर भौंरी ने जपा-पुष्प की सेवा की। संपत्ति देखकर भयभीत हो गई कि (सम्पद् पाकर) बड़े भी प्रतिज्ञापालन नहीं करते हैं। सखि, अभिसार अच्छा हुआ। जिस प्रियतम के पास जाना है वह

(५३)

कोलाव राग

एके कुसुम मधुकर न वसए कैसने रह नाह।
इ दुइ साजनि जगत संभव सवे अनुभव चाह। ध्रु।
न बोल न बोल पठरुस वच तहिँ सुबुधि सञानी।
ततेहि माने अनल पजारह अजे हे निझाइअ पानी।
पिअ अनुचित किछु ने धरव मने न मानव दूर।
मुखरपन मारि जञो सोमए तञो कि सोंपि अनुपूर।

प्राचीन तालपत्र पद ३८४

(५४)

प्रहेलिका

मालव राग

हरिरिपु अनुज वास कोवा (रा) तल दए सरीर हमारा।
खटपद वदुरथु सुअअरि धनि सोदर सुअ कर धारा। ध्रुव।

जिसके पास स्वयं आ जाय उसका पुण्य अपार है। तुम्हारे गुणों के गुण (रस्सी) से बँधा हुआ वह आया और घर में तुमको नहीं देखकर काम के शर से व्याकुल होकर चारों ओर खोज आया। (तुमको नहीं पाकर) बिछौने पर सो गया और दुःखी होकर रोने लगा।

(१) एक ही फूल पर भ्रमर नहीं रहता है, फिर नाथ किस प्रकार रहेंगे। संसार में दो (अनेक) फूल होने के कारण सब कोई उन दोनों का अनुभव कर लेना चाहते हैं। तुम सुबुद्धि और सज्ञान हो। इसलिए कठोर वचन मत बोलो। मान के द्वारा उतनी ही आग जलाओ जितनी पानी से (शान्ति से) बुझाई जा सकती है। प्रियतम का दोष मन में नहीं रखना। पनसारि—पण्यशाला, बाजार। अनुपूर अनुचर, मित्र।

(२) ३८५ और ३८६ प्रहेलिकाओं का अर्थ नहीं हो सका।

सखि हे हरि न छुझावए कोइ।
पावक सेखयुदअवर संपुट हेरि से चतुगुन होइ।
हिमगिरिसुतासुअवाहन भोअन भोअन ता सुत रे।
ता पिअ वारक ता रिपु अतिसख हरितिथि रअनि हते।

प्राचीन तालपत्र पद ३८५

(५५)

प्रहेलिका

धनछी राग

पवन सुआपति-अरि जे दसल (दमन) मति ता सुत चउदिस आव।
तासु तनअ मन मनसिज हुअ सब दिस धुनि कए गाव। ध्रु०।
ए सखि मोर असन पति तनआ आइलि न आएल पभु पिआसे।
सिखर सुखिण्ड चलि अनल करए धुनि अनल वसए तिमिरारी।
सब तहुँ सब पहुँ विपति आइलि सङ्ग मनमथ गेल परचारी।
हेम समअ गेल पिआ परत मेल हिआ मअन, मअन तहि पास।
पञु अज अरि अरि तासुअ मने धरि अबे हमे करब गरास।

प्राचीन तालपत्र पद ३६६

(५६)

धनछी राग

पावक[2] सिखा निच न धावए ऊँच न जा जलधारा।
तत से पए अवस करए जकर जे वेवहारा। ध्रु०।

---

(१) यहाँ एक पंक्ति छूट गई है।

(२) आग नीचे की ओर नहीं जाती है, पानी ऊपर नहीं जाता है। जिसका जो स्वभाव है वह अवश्य ही उसी के अनुसार काम करेगा। माधव, तुम्हें उत्कट अभिलाषा है। यदि अपने भविष्य की चिन्ता नहीं की तो उसने मेरे हृदय को कष्ट पहुँचाया। कितने दिन और कितनी रातें आती और जाती हैं।

माधव गरुवि आरति तोरि
निअँ मने जदि आगु न गुनल कइलि रें वथा मोरि।
कत न वासर पलटि आविह कति न होइह राती।
पर दोस दए तिरिविध लए कओन पेखव सजाती।
ओ नवि नागरि, निसा सगरि सुरत अवधि गेला।
नाह निरदय अरुन उदअ उपसम नहि भेला।

प्राचीन तालपत्र पद ३८७

(५७)

सखी का उपालंभ

धनछी राग

केते केतें भान्ति लता नहि थाक तुलना करए न पारए जाक।
बाहर कण्टक भितर पराग तइओ तोहरा तन्हिके अनुराग।ध्रु।
बुझिहल भमर जइसन तोहें रसी जनम गमओलह केतकि बसी।
मालति माधए कुन्दलता आओर रसमति अछए कता।
ता हेरि सबहु जदि गुन परिहार ताकें बोलब की सहज गमार।

प्राचीन तालपत्र पद ३८८

स्त्री की हत्या कर कैसे सजातियों को मुँह दिखलावेंगे ? वह नायिका युवती है, संभोग की अवधि सारी रात ही हो गई। नाथ निर्दय है, अरुण के उदय होने पर भी वह रुकता नहीं।

(१) अनेक तरह की लताएँ हैं जिनकी तुलना (गणना) नहीं हो सकती है। अन्दर पराग है, किन्तु बाहर काँटा है। तथापि तुमको उन्हींका प्रेम है। हे भ्रमर, तुम जैसे रसिक हो—मैंने समझ लिया, केतकी (केवड़ा) में रहकर सारा जन्म बिताया। मालती, माधवी, कुन्द आदि अनेक लताएँ हैं उनमें (किसी एक में भी) यदि गुण नहीं मिला तो तुम्हें गमार (देहाती) छोड़कर और क्या कहेंगे ?

(५८)

मालव राग

दरसन लागि पुजए नित काम, अनुखन जपए तोहरि पए नाम।
अवधि समापलि मास अखाढ़ अवे दिने दिने जिवन कौं गाढ़ ।ध्रुव।
कहब समाद कृष्ण कें मोर सबतह जलद समअ बड़ घोर।
हमें अवला हे गुपुत पश्चवान मरम लखिए कर सरसन्धान।
तुअ गुन वान्धल अछ्छए परान परक वेदन दुख पर नहि जान।

नेपाल की पुस्तक और प्राचीन तालपत्र पद ३८६

यह पद नैपाल राजपुस्तकालय की पदावली में भी है। उसमें कृष्ण के मोर की जगह वालमु सखि मोर, हमें अवला हे गुपुत की जगह एके अवला हे कुपुत और दुख की जगह देख है।

(५६)

वरली छन्द

कानन कुसुमित साहर पङ्कज परम साहँसे (सहासे)।
त रन्द अछ्छए [3] दि तोहि[4] विनु विकल पिआसे । ध्रुव।

---

(१) तुम्हारे दर्शन के लिये प्रतिदिन काम की पूजा करती है, हर घड़ी तुम्हारा ही नाम (हरिनाम) जपती है। आषाढ़ महीने की अवधि (आने की) समाप्त हुई, अब प्रत्येक दिन जीवन भार-स्वरूप हो रहा है। कृष्ण से मेरा संवादा कहना कि वर्षाऋतु सबसे बढ़कर भयंकर समय है। मैं अवला हूँ, तथापि काम छिपकर मर्म-स्थानों पर वाण चलाता है। तुम्हारे गुणों के गुण (रस्सी) से मेरे प्राण बँधे हुए हैं (तुम्हारी आशा से मैं जीती हूँ)। दूसरे का दुःख दूसरा मनुष्य नहीं समझता है।

(२) तुकबंदी के विचार से यह 'सहासे' जिसका अर्थ है हँसता हुआ (खिला हुआ) होना चाहिए।

(३) अक्षर उड़ा है। मेरी राय में 'ज' होना चाहिये। उनमें भी सुगन्ध है, किन्तु भौंरा तुम्हारे बिना प्यास से व्याकुल है।

(४) इसके पहले दो अक्षरों की कमी है।

मालति तोहि सम के जग आने
जसु परिमलसँ परवस मधुकर कतहु न कर मधुपाने।
वासर कुमुद विकास न दरसए केतकि कण्टक मारे।
नव मधुमासहि तइसन न देखिअ जे अनुरञ्जए पारे।
सहज जुवतिवर सब गुन नागर, तहुँ पुनु ताहेरि सठभागे।
निञ मने पिआतमे ससि कुमुदिनि सम जसु अनुरत अनुरागे।

प्राचीन तालपत्र पद ३६०.

(६०)

मुग्धावर्णन

धनछी राग

दरसने ससिमुखि मधुर हास देखि हेरइते हरए गेआँने।
करें धरि केसपास पिअइ अधर रस कतए मलिनि जन माने।
सुन्दरि तोकें बोलओ जतन करह जनु मञो न जाएब ता पिआपासे।
न दइन दखिन मान, न मोह ममत जान।
न रमए मनोरथ राखि सून सङ्केतन दीप अचेतन के रव तखनुक साखि।
प्रमोद कपोतवर कुचकुम्भ परिमत कत कत निधुवन भान्ति।
तखनुक सिव सिव रे रे डरब न जित्र मागे पोहाइलि राति।

प्राचीन तालपत्र पद ३६१

---

(१) *उसके सामने आते ही उसकी हँसी देख मेरा ज्ञान नष्ट हो जाता है।* हाथ से बालों को पकड़ अधररस पी लेता है। दुष्ट मनुष्य कब माननेवाला है। सुन्दरि, मैं तुमसे कहती हूँ कि तुम उद्योग मत करो, मैं प्रियतम के पास नहीं जाऊँगी। वे दीनता और दाक्षिण्य की बातें नहीं सुनते हैं, ममत्व और दया तो जानते ही नहीं हैं। भविष्य के लिये भी कुछ मनोरथ रखकर संभोग नहीं करते हैं, सूना स्थान था, दीपक निर्जीव हैं, किसको मैं साक्षी रखूँ। पालतू कबूतरों की तरह स्तनों को बारंबार कष्ट दिया अनेक प्रकार के संभोग किए, किन्तु मेरे भाग्य से रात ही बीत गई—डरो मत।

(६१)

धनछी राग

अबिरल बिस बस रवि-ससी देहदाहकर पवन परसी।
बिसम बिसमसर बोधि न देइ सिव सिव जिवन केओ नहि लेइ।
ए सखि ए सखि मोहि न भास सवन चाहि बड़ बिरह हुतास।
आबे मञे निअ मने दिढ़ कए जानू कतहु सेस नहि कपटे बिनू।
सहज पेम जदि बिरह न होइ हो (इ) तहि बिरह जिवए जनु कोइ।

प्राचीन तालपत्र पद ३९२

(६२)

कोलाव राग

एथाँ मनमथ सर साजे समदि पठावह आओब आजे।
बचनहुँ नहि निरवाहे जनि लोभी तह किअअ सताहे। ध्रुव।

---

(१) सूर्य के समान प्रचण्ड किरणवाले चन्द्रमा में सर्वदा विष रहता है। वायु के स्पर्श होने पर शरीर जल उठता है। क्रूर कामवाण मालूम नहीं पड़ते हैं। शोक! कोई भी जीवन नहीं ले लेता है। हे सखि, मुझे नहीं मालूम पड़ता है कि सबसे बढ़कर विरहाग्नि की ज्वाला है। अब मैंने समझ लिया—दृढ़तापूर्वक समझ लिया कि कोई भी ऐसी जगह नहीं है जहाँ कपट नहीं है। स्वाभाविक प्रेम रहे तो विरह नहीं हो। यदि (दुर्भाग्यवश) विरह हो जाय तो विरह होते ही कोई नहीं जीवे।

(२) यहाँ काम वाण तैयार कर रहा है, संवाद भेजो कि आज ही वे चले आवें। केवल बात बनाने से निर्वाह नहीं है। लोभी की तरह मुझे क्यों सता रहे हो? प्रियतमा को प्रेम से परिचित कर कपट करने से क्या लाभ? नायिका तरुणी है, नया प्रेम है, नई जवानी ने सौन्दर्यदान दिया है। दुःखों का वर्णन नहीं किया जाता है। वायु के स्पर्श से भी फूल मुरझा जाता है। सबको सज्जन पुरुष की आशा रहती है, चन्द्रमा चकोरी को प्यास दूर करता है। समय भाग्यदोष नहीं समझता है। मालती खिल गई, पराग वासी हो गया।

पेअसि प्रेम चिन्हायी कैतव कपले कि फल कन्हायी।
नवि नागरि, नव नेहा, नव नउवन देल रूपक रेहा।
अभिमव कहइ न जाइ, पवनहु परसे कुसुम असिलाइ।
सुपुरुस के सब आसा चान्द चकोरी हरए पिआसा।
समअ न सह विहि मन्दा मालति फुललि वासि मकरन्दा।

प्राचीन तालपत्र पद ३९३

(६३)

धन छी राग

कुसुम-धूरि मलआनिल पूरलि कोकिले कवलु सहकारे।
हारि पुरव परिपाटि पराएल आने चलल वेवहारे।
मानिनि जानिले तन्तू
सिसिर महीपति दापे चापि लेल राजा भेल वसन्तू।
मनमथ तन्त अन्त धरि पढ़ने अवसरे भेल सआनी।
अवसर गेल बहुरि नहि आवए जौवन बन्ध छुट पानी।

भनिता

प्राचीन तालपत्र ३९४

इसके वाद का पद (३९४) और ४५ वाँ पद एक ही हैं। इस जगह से चौथे लेखक की लिखावट है।

(६४)

राग आभोग्य

तुअ गुणे अमिअ निवास विरुयवचन कि के भास।
वौरि सम हिर्दए हमारि हेमकर गलल तगारि।

---

(१) तुम्हारे गुणों में अमृत रहता है। विरुय (नकटा, निर्लज्ज) की बातें किसे अच्छी मालूम पड़ती हैं।..................। दारुण मान छोड़ दो, अधर का मधु पीने दो। अधिक क्रोध होने के कारण चेहरा फीका पड़ गया है और शाम के चन्द्रमा की निन्दा करता है। कृष्ण हँस पड़ा—मालूम पड़ता है कि कृष्ण के उठते ही कमल खिल गया। दूसरे के मुँह से निन्दा सुनने पर प्रभु की परीक्षा कर क्रोध करना। अपने हृदय में विचारो और कुछ दोष मत वोलो।

परिहर दारुण मान देहे अधर मधुपान।
रोसे दारुन मुह मन्द निन्दइ साँझक चन्द।
कानु भेल सुललित हास ठठितेहु कमलविकास।
परमुखे सुनिञे अपवानी रोष करव पहु जानी।
किछु दोष नहि कह मारि हृदयहु चाहह विचारि।*

प्राचीन तालपत्र पद ६१

(६५)

राग कोलाव

आननें देखि मान मोहि लागल जिनि सरसिज जिनि चन्दा।
सरसिज मलिन रयनि², दिन ससधर ई दिन रयनि सानन्दा।ध्रुव।
रूपे रूपें हिनुकि रेखा
एहि समय दैवे आननहि विहले ऐसन बुझिअ विसेखा।
अनुपम रूप घटइते सव विघटल जत छल रूपक सारे।
से जानि दैवे आनि कए निरमल कामिनि अन्त न भारे (वे)।

प्राचीन तालपत्र पद ३६५

(*) यहाँ पदाङ्क ३६५ नहीं होकर ६१ है। अग्रिम पद में ३६५ है।

(१) मुँह देखकर मुझे मालूम पड़ा कि यह कमल या चन्द्रमा है। कमल रात को और चन्द्रमा दिन में मलिन रहता है और यह दिन-रात समान रूप से प्रसन्न रहता है। प्रत्येक रूप में इसीकी रेखा (छाया) मिलती है। इस समय ब्रह्मा को दूसरी रचना में मन नहीं लगता है—यही इसकी विशेषता का परिचायक है। इस रूप की रचना में ब्रह्मा के पास जो रूप-रचना की सामग्रियाँ थीं वे समाप्त हो गईं।

(२) सब जगह रयनि का वर्णविन्यास 'रअनि' है। यह लेखक की भूल है।

(६६)

कोलाव राग

पहिनेहि अमिञ लोमायी अवे सिन्धु धसि विषवचनं कोहायी।
कैसनि भेलि ओअ रीती आदि मधुर परिनामक तीती।ध्रुव।
के तोके बोलए सआनी कोप न कएलह अवसर जानी।
निधुवन—लालस नाहे पेमलुबुध परिरम्भन चाहे।
यदि खण्डसि तसु आसा सुतसि समिध दए बहत बतासा।
विद्यापति कह जानी हरिसञो कोप न करए सआनी।

प्राचीन तालपत्र पद ३६६

(६७)

मनारी राग

दाहिनं दिढ़ अनुरागे पिआ पर वचन न लागे।
बुझल सबे अवगाही सूते सरवर थाही।ध्रुव।

---

(१) पहले अमृत (प्रियवचन) से मोहित कर अब अपने को सिन्धु में गिराया अर्थात् इतना अधःपतित हो गई कि विषमय वचनों के द्वारा उन्हें क्रुद्ध किया। वह कौन सी रीति है कि आरंभ मीठा किन्तु परिणाम तीता तुमको बुद्धिमती कौन कहता है? तुमने अनवसर क्रोध किया। नाथ को विलास की लालसा है, वे प्रेमासक्त होकर गले लगाना चाहते हैं। यदि तुमने उनकी आशा का भंग किया, तो हवा बहते समय आग में लकड़ी देकर निश्चिन्त सोती हो। विद्यापति जान बूझकर कहते हैं कि बुद्धिमती स्त्री हरि के ऊपर क्रोध नहीं करती है।

(१) दाक्षिण्य और दृढ़ अनुराग रहने पर प्रियतम पर दूसरों की बात का प्रभाव नहीं पड़ता है। अच्छी तरह सोच-विचार कर, धागा से सरोवर (प्रियतम का प्रेम) माप कर मैंने सब कुछ समझ लिया। राधे, तुम और किस

राधे चिते जनु झाखह आने तोके परसन पश्चवाने।
सुपहु-सुनारि-सिनेह चान्द कुमुद सम रेह।
दिवसे दिवसे घर जोति सोना मेलाओलि मोति।
सुकवि विद्यापति भान पुने मिल पिआ गुणमान।

प्राचीन तालपत्र पद ३६७

(६८)

मनारी (वी) राग

सुनि[1] मनमथ सर साजे समन्दि पठावह अओवह आजे।
वचनहु नहि निरवाहे जनि लोभी तह किअअ सताहे।ध्रुव।
पेअसि पेम बुझायी कइतव कपने कि फल कन्हायी।
सुपुरुष कें सब आसा चान्द चकोरी हरइ पिआसा।
अभिमव कहहि न जाइ पवनहु परसे कुसुम असिलाइ।
अधर न होइ उपामे विद्रुम थोएल जनि एकहि ठामे।
समय न सह विधिमन्दा मालति फुललि वासि मकरन्दा।
भनइ अमृत[2] अनुरागे कपटे कुसुमसर कौतुके गारे।
जसमा देवि रमाने भैरवसिंह भूप रस जाने।

प्राचीन तालपत्र पद ३६८

विषय की चिन्ता मत करो, पन्चवाण (काम) तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। आदर्श पति-पत्नी का प्रेम चन्द्रमा और कुमुदिनी के प्रेम के समान अटल होता है। जिस प्रकार सोने के साथ मिला हुआ मोती चमकता है उसी प्रकार उस प्रेम की भी चमक प्रतिदिन बढ़ती है। सुकवि विद्यापति कहते हैं कि पुण्य से गुणवान् पति मिलता है।

(१) ३६३ पद से अनेक अंशों में समानता है।
(२) शिवसिंह के मन्त्री, चन्द्रकर का पुत्र (देखिये पृष्ठ ३०)।

(६९)

मनारी राग

दुहुकं अभिमत एक न मिलने दूती के अपराधे।
आन आन खने संकेत भुलाएल दुहुक मनोरथ बाधे।ध्रुवं।
तरुणी कहओ कहा सफल भेने अभिसार।
राधा नयन जरद जओ बरिसए कन्हायी रहल न जाई।
दूती अपन चतुरपन खाएल चारिम कहहि न जाई।
दुअओ परम वेआकुल-मानस जस राधा तसु कान्ह।
एक मनोमव परिमव दाना दुअहु समहि समधान।
भनइ विद्यापति एहु रस जानए रायनि मह रसमन्ता।
सिवसिंह राजा रूपनराजेन लखिमा देवी कन्ता।

प्राचीन तालपत्र २६६

(७०)

मनारी राग

नुपूर रसना परिहरि देह पीत वसन हे युवति पिधि लेह।
सिथिल विलम्बे होएत (उप) हास गए नहि होएते कान्हक पास।ध्रुव।
गमन करह सखि वल्लभगेह पूरत अभिमत सकल सिनेह।

(१) दोनों को परस्पर मिलन की उत्कट इच्छा थी, किन्तु दूती के दोष से संकेत-स्थान भुला गया और दोनों के मनोरथ में बाधा पड़ गई। राधानयन-रूपी बादल बरसने लगा, कृष्ण से भी रहा नहीं जाता था। दूती ने अपनी चतुरता से सारा काम बिगाड़ दिया। दोनों ही अत्यन्त चिन्तित थे—जैसे कृष्ण, वैसी ही राधा। मनोभव दोनों के ऊपर साथ-ही साथ बाण चलाकर दोनों को सता रहे थे। रायनि मह—राजाओं में?

कुङ्कुमे तओन पसाहहि देह नयनयुगल भय काजर रेह।
अबहि उदित होत तम पिबि चन्द जानि पिसुन जने बोलव मन्द।
भनइ विद्यापति सुनु वरनारि अभिनव नागर रूपे मुरारि।
रूपनराएन एहु रस जान राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४००

यह पद गुप्तजी की पदावली में भी है। उस में 'परिहरि' की जगह 'परिहर', 'गए नहि' की जगह 'नहि गए', पूरत अभिमत सकल सिनेह की जगह 'अभिमत होएत इथि न सन्देह', 'कुङ्कुमे तओन पसाहहि देह' की जगह 'कुंकुम पङ्के पसाहते देह' 'उदित होत' की जगह 'उगत', 'पिबि' की जगह 'पिबि कहु' है

(७१)

मलार राग

वारिसं[2] सघन घन पेमे पुरल मन पिआ परदेस हमारे।
ऐसनि पाउस राति पुरुष कमन जाति गृह परिहरइ गमारे।
सजनी दुर करु दुरजन-नामे ।ध्रु०।

---

(१) हे युवती, नूपुर तथा काञ्ची हटाकर पीला वस्त्र पहन लो। आलस्य के कारण विलम्ब होने पर हँसी होगी। कृष्ण के पास जाना पड़ेगा। हे सखि प्रियतम के घर विदा होओ, सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। रोली लगाकर शृंगार करो और आँखों में काजल लगाओ। (जल्दी करो) अन्धकार पीकर (दूर कर) चन्द्रमा अभी उगेगा। यह देख दुष्ट निन्दा करेंगे।

(२) उमड़ा हुआ बादल बरसता है, मन प्रेमसे विह्वल है, हमारे प्रियतम परदेशमें हैं। वर्षा की ऐसी रात में कौन बेवकूफ़ घर छोड़कर जाता है। हे सखि, दुर्जनों का नाम भी मत लो। तुम बुद्धिमती तथा प्राण के सदृश प्यारी हो। इसलिये (अपने मन की बात तुम्हें कहकर) मन को कुछ देर विश्राम देता हूँ। कमल का फूल खिला। कोई बोल उठा कि भौंरा और भौंरी के विवाद होने पर कामदेव हँसा था। कामदेव मर गया, फिर वह कैसे जी उठा ? शिवजीकी भूल क्या मैं बताऊँ ? बिजली चमकती है, साँप घूमते हैं, मयूर ऊपर मुँह किए नाच रहे हैं कदंब की

तोहहिँ सश्रानि घनि श्रपन परान सुनि तें करिश्र चितविसरामे।
कमल फुल विगसु केश्रो बोल मश्रन हसु भमरा-भमरि विवादे।
मुइल कुसुमधनु से कैसे जीठल पुनु कि बोलब हरपरमादे।
विजुरि चमक घन, विसहर विसह रे, उनमुखे नाच मयूरे।
कदम पवन वह, से कैसे युवति सह, हृदय भमइ कति दूरे।

प्राचीन तालपत्र पद ४०१

(७२)

मनारी राग

श्रोहु राहुमीत पहु निसंक, श्रोहु कलंकी इ न कलंक।
सम बोलइते श्रनुचित मन जाग सोनाक तुरना काग की नाग। ध्रुव।
ए सखि पिश्रा मोर बड़ श्रगेश्रान बोलथि वदन तोर चान्द समान।
चान्दहु चाहि कुटिल कटाख तञे कामिनि किंकिरए राख।
उथि श्रछ सुधा, इथी श्रछ हास एतवा श्रछ किछु तुलना भास।
भनइ विद्यापति कवि-कण्ठहार तनिका दोसर काम प्रहार।
राजा रूपनरायन जान राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४०२

वायु (दक्षिणानिल) बहती है। युवती किस प्रकार सह सकती है; क्योंकि हृदय दूर तक घूम रहा है।

(१) वह चन्द्रमा राहु से डरता है, यह निर्भय है। चन्द्रमा कलङ्की है, यह निष्कलंक है। मुँह को चन्द्रमा के साथ तुलना करना अनुचित मालूम पड़ता है। कौए या साँप के साथ सोने की तुलना नहीं हो सकती। सखि, मेरे प्रियतम अज्ञानी हैं; क्योंकि वे कहते हैं कि तुम्हारा मुँह चन्द्रमा के समान है। कटाक्ष चन्द्रमा से भी अधिक कुटिल है............। चन्द्रमा में अमृत है तो मुँह में हँसी है। दोनों में यही समानता है।

(७३)

मनारी राग

कंत[1] एक हमे धनि कतए गोंआड़ा (ला) जले थरे कुसुम कैसनि हो माला।
पवन न सह दीपक जोती छुइलेहु मलिनि हो मोती। ध्रुव।
कि बोलिबो अरे सखि कि बोलिबो......अब आवह पुनु ऐसना कासे।
काञे निवेदसि कुमति सआनी सब मन मधुर तीन्ति बढ़ि बानी।
परब न नोत करए सब कोइ करिए पेम जञो विरह न होइ।
नागरि जन के बचहुँ विनासा रूखेहु बचने राखि गेलि आसा।
भणइ विद्यापति एहु रस जाने राए सिवसिंह लखिमा देवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ४०२

(७४)

चाँरि पहर राति संगहि गमाओल अबे पहु भेल भिनसारा।
चान्द मलिन भेल नखत मण्डल गेल हम देहु मुकुति गोपाला।ध्रुव।
माधव धनि समदह उठि जागी

---

(१) कहाँ मैं नायिका और कहाँ वह ग्वाला? पानी और जमीन पर होने वाले फूलों की (दोनों मिलाकर) माला किस प्रकार हो सकती है? दीपक हवा नहीं सह सकता है, छूने पर भी मोती मैला हो जाता है। मैं क्या बोलूँ........। पर्व के दिनों में सब कोई निमंत्रण नहीं देते हैं। यदि विरह नहीं हो तो प्रेम करना चाहिये। कौन नागरी (रसिक स्त्री) विनाश से बच सकती है? कठोर वचनों से भी आशा दिलाई गई।

(२) साथ-ही-साथ रहकर हम दोनों ने सारी रात बिताई, अब सवेरा हो गया। चन्द्रमा मलिन हो गया, तारे डूब गये, अब मुझे छोड़ दो। माधव, जागो और इस प्रकार समझाकर नायिका को विदा करो कि प्रेम से वशीभूत होकर वह फिर आवे। प्रियतम ने जो कुछ दिया उसे ढाँक लिया, और एक लम्बी साँस ली। बाल बिखरे हुए थे, अधर सूखा था, सखियाँ उपहास करती थीं।

पेसनि कए परिबोधि पठइहह पुनु आवए ओ अनुरागी।
जे किछु पिआ देल कञ्चुआ झापि लेल हृदय कमल नि···वासे।
केस रुझाएल, अधर सुखाएल, सखिन्हि कर वड़ उपहासे।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति दंड निकट परमाने।
राजा सिवसिंह रूपनराऐन लखिमादेवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ४०४ (क)

(७५)

नरित राग

पुरुष भमरसम कुसुमे कुसुमे रम पेअसि करए कि पारे।
डर न राखल पहु परतख मेलनहु ओर धरि भेल विचारे।ध्रुव।
भल न कएल तोहें सुमुखि सरुप कोहोँ उ लेपन पिअ-अपराधे।
सेहे सआनी नारि पिअ गुणे परचारि वेकतेओ दोस नुकावे।
निसि निसि कुमुदिनि ससधर पेम जिमि अधिक अधिक रस पावे।
भनइ विद्यापति अरे रे वर जुवति अवहु करिअ अवधाने।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ४०४

(७६)

नरित राग

डरे न हेरए इन्दु··· ···विन्दु मनआनिर बोल आगी।

---

(१) जिस प्रकार भौंरे अनेक फूलों पर घूमा करते हैं उसी प्रकार पुरुष भी चंचल होते हैं। प्रियतमा क्या कर सकती है? सामने होने पर भी प्रभु नहीं डरे, उनका विचार सीमा के बाहर चला गया। हे सुमुखि, तुमने अच्छा नहीं किया। मैं सच कहती हूँ। प्रियतम का अपराध छिपाना चाहिये। जो प्रगट दोषों को भी प्रियतम के गुणों का वर्णन कर छिपाती है वही बुद्धिमती स्त्री है। वह भी उसी प्रकार प्रतिदिन नया प्रेम पाती है जिस प्रकार कुमुदिनी चन्द्रमा के साथ।

(२) डर से चन्द्रमा की ओर नहीं देखती है, मलयानिल को आग कहती है,

तुअ गुण कहि कहि मुरुछि पलए महि रयनि गमावए जागी। ध्रु।
सुन्दरि कि कहव आबक सिनेहा
तुअ दरसने बिनु अनुखन खिन तसु अबे तसु जिवन सन्देहा।
नोरे नअन भरि तुअ पथ हेरि हेरि अनुखन रोअए कन्हाई।
तोहरि बचन लए धएल आस दए अबे न बचन पतिआई।
भनइ विद्यापति अरे रे कलामति न कर मनोरथ बाधे।
अधर सुधा दए पीति बढ़ावहि पुरओ मनमथसाधे।
प्राचीन तालपत्र पद ४८५

(७७)

नरित राग

जामिने दुर गेलि, नुकि गेल चन्द मेलिहु सिद्धि न बढ़ाइअ दन्द।
तसु छल-धुनि सुनि जीव मोर काप मञे जाएब जमुना जोरि झाप। ध्रुव।
हठ तेज माधव जाएवा देह राखल चाहिअ गुपुत सिनेह।
जागि जाएत पुरपरिजन मोर फाव चोरि जञो चेतन चोर।
मञे जानल पि.........म उसठ न कर सठ बढ़ाओल पेम।

तुम्हारे गुणों का वर्णन कर बेहोश होकर जमीन पर गिर जाती है, जाग कर रात बिताती है। सुन्दरि, इस समय का प्रेम क्या बताया जाय? तुम्हारे दर्शन के बिना वह व्याकुल है, इसमें संदेह है कि वह जी सकेगी या नहीं। तुम्हारी राह देख कर प्रतिक्षण रोती रहती है। तुम्हारी बातें सुनाकर आशा दी, किन्तु अब वह तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं करती है।

(१) बहुत रात बीत गई, चन्द्रमा डूब गया, सफलता मिलने पर भी कलह मत बढ़ाओ। कपटपूर्ण शब्द सुनकर मेरा हृदय काँप रहा है। मैं छिपकर यमुनातट जाऊँगी। माधव, हठ छोड़ो, जाने दो, गुप्त स्नेह की रक्षा करनी चाहिये। मेरे गाँव और घर के लोग जाग जायँगे। चोर यदि चालाक रहे तो चोरी में सफलता मिलती है।......। हे शठ, बढ़े हुए प्रेम को नीरस मत बना दो। सुधा और मधु से परिपूर्ण वचन बोलकर हरि ने रस की रक्षा कर नायिका को मनाया।

धनि परबोधलि हरि रस राखि बोललिए वचन सुधामधु माखि।
भनइ विद्यापति ई रस जान राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४०६

वसन्त-वर्णन

(७८)

नरित राग

सुरभि निकुञ्ज वेदि भलि मेलि जनम गेंठि दुहु मानस मेलि।
कामदेव करु कनेआदान विधि मधुपरक अधर मधु-पान।ध्रु०।
भल भेल ;राधे भेल निरवाह पानि-गहन-विधि बोध बिआह।
उजर ऐपन मुकुताहार नयने निवेदल वन्दनेवार।
पीन पयोधर पुरहर भेल करस झापन नव पल्लव देल।
भनइ विद्यापति रसमय रीति राधा माधव उचित पिरीति।

प्राचीन तालपत्र पद ४०७

(७९)

सारंगी राग

सहज सितल छल चन्द सब तह से भेल मन्द।
विरह सहाइअ नारि जिबैकके न हनिअ मारि।ध्रु।

---

(१) सुगंधित निकुञ्ज ही विवाह की वेदी है, दोनों का मन मिलाकर गँठ-जोड़ा किया गया। कामदेव ने कन्यादान किया, अधरमधुपान के द्वारा मधुपर्क की रीति संपन्न हुई। हाथ पकड़कर 'पाणिग्रहण' विधि का निर्वाह हुआ। मुक्ताहार ही उजला ऐपन था। आँखों ने वन्दनवार का काम किया। पीन पयोधर पूर्ण कलश थे। कलश ढाँकने के लिये नवपल्लव दिया।

(२) चन्द्रमा स्वभाव से शीतल था, किन्तु सबसे अधिक दुःखदायी हुआ। ......सखि, मेरी ओर से प्रियतम को कहना कि अब भी आग बुझावें। नायिका का कुल और धर्म नष्ट कर मैंने दूसरे से प्रेम बढ़ाया। सब का कारण तुम्हीं हो।

सखि हे पिआके कहब हम लागी अबहु मिझाइअ मागी।
परसओ पेम बढ़ाए घनि कुल धम्म छड़ाए।
इ सवे कएल हमे मोहि इथि सब कारण तोहि।
अनुसर मलय समीर मनयथ सोम समीर।
भल जन मन्द विकार तथि नहि कओन परकार।
सुकबि भनथि कण्ठहार होएब विरहनरि पार।
राए अरजुन रस जान गूणा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४०८

सारंगी राग का एक अस्पष्ट पद

कुसुम बोलि केश परिहल हार, काजरे बण्डु पयोधर भाल।
ऐसने ...[1]...हन लाग आरति जानल अधिक अनुराग।ध्रु।
कान्तु हे सकल सुखसार आइति राधा फलल अभिसार।
कुसुम सरासने साजलि को...[2] दुलभ अछलि सुलभ भए गेलि।
पुनु पुनु कन्त कहओ करे जोरि, तत राखब जत आनिअ बोलि।
एक दिस जीवन अओक दिस पेम पतौ निचा ओटाओल हेम।
हठे न धरल कर वचन हमार आरति धस दए भेलि जौन पार।
सरस अनुराग बुझ यदि केव अभिमत भने अभिनव जयदेव।
रसमय रूपनरायन जान राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४०६

(८०)

अभिसार-वर्णन

जखने संकेत चलु ससिमुखि तखने छल अन्धार।
आन्तर पान्तर बाट उगि गेल चन्दा करम चण्डार।
परम पेम परामवे पाओल देखि गमनेरि बाध।

(१) (२) यहाँ अक्षर उड़ गये हैं। ४१० वाँ पद उड़ गया है।

ठतिम वचन जदि बिहुचर आओर की अपराध ।ध्रु।
साजनि मन्दिर मेल असार
अपन आरति आगु न गुनल साजि हल अभिसार ।
सुखम हेतु कमने बिआरव कमने चिन्हल चोर ।
आसा दइअ सुपुरुसे बञ्चन दूषन लागत मोर ।
न परे पौलिहुँ न घरे गेलिहु दुहु कुल मेल हानि ।
विधि निकारुन परम दारुन अबे कि करब जानि ।
संकेत वन-गमन न संभव पुनु पलटए न जाए ।
युवति वव रे आध पञ्चसर काहु न कहहु जाए ।
भने विद्यापति सुन तए युवति अछए गुणनिधान ।
राए सिवसिंह रूपनराएन लखिमा देवि रमान ।
प्राचीन तालपत्र पद ४११

(८१)

सारंगी राग

जत जत तोहे कहल सुजानि से सबे मेल सरूप ।
माधुर जाइते आजे मए देखल कतेओ कान्ह··· ।
सञो मनसिजे वेआकुल थीर मन नहिं मोर ।
···मल कए हरि हेरि न मेले ई वड़ लागल मोर ।ध्रुव।
साजनि···अपन वेदन जाहि निवेदओ तैसन मेदिनि थोल ।
हमहु नव कुरवकहु से पहु राखलि चाहिअ···चाहिअ मेल चाहिअ समाज।'
से सबे कामिनि तोह तह सम्भव हैन मोर अनुमान ।
की···न्हि मोहि छाटें मेरावह की मोर नेहे परान ।
मनें विद्यापति सुन तए युवति निअ मनें अनुमान ।
रतने जदि जतने गोपिअ तैअओ न जानए आन ।
प्राचीन तालपत्र पद ४१२

(८२)

सारंगी राग

आनन विकच सरोरुह रे देखि कैसन हो भान।
नागर लोचनवरे भमि भमि कर मधुपान।ध्रुव।
तोर नयन धनि नोनुअ रे हेरइते न रहए लोम कि।
केसर कुसुम कपोलतल रे अधर-सुधाकर मन्द।
जे न बुझए वरु से भल हे जे बुझ तासओ मन्द।
उर अरगज मुकुतावलि रे कइसन दहु परिभास।
कुचयुग चकोर बझाओल रे मअने मेललि जनि फास।
सुकवि अमृतकरे गाओल रे पुहवी नव पञ्चवान।
मधुमति देवि················हरि विरेसर नान।

प्राचीन तालपत्र पद ४१.२

(८३)

कानल राग

नगरक बानिनि बानिनिओ रे हरि पुछ हरि पुछा
किए किए हाट विकाए
······ हिर मनि मानिकओ रे अनुपम अनुपमा
नाना रतन पसार
एक लागु दुइओ ले सिरिफल सिरीफला
सोनाकेर समान।
अधरा सिरिफलओ रे आश्वर आश्वरा
अधरा अधिके विकाए
विद्यापति कविओ गाविह गाविहा
झुमरि बुझ रसमन्त।
सिरि महेसर··· महेसर जुडमदेवि सुकन्त

प्राचीन तालपत्र पद ४१४

(८४)

कानल राग

करहिं सुन्दरि अलक तिलक बाधे अङ्ग विलेपन कर बाधे।
तञो··· · लि ··से अनुरागी भूषन होपत दुखन लागी। ध्रुव।
चल चल तञो चेतन साईं आसे पिआसल जनु कन्हायी।
समुद कुमुद लुबुध रसी अबहि उगत लुबुध ससी।
आएल चाहिअ तरुणि तोर पिसुन नयन मम चकोर।
चरन नेपुर ऊपर सारी मुखर मेखर करे नेवारी।
अमुर सानर देह नुकाई चलहि तिमिर पथ समाई।
मन विद्यापति युवति रीति मधुर जानि कर परतीती।
राजा रुपनरायन जान सुखे सुखमा देवि रमान।

प्राचीन तालपत्र पद ४१५

(८५)

कानल राग

प्रथेमहि हाथ पयोधर लागु पुलके प्रमोदे मनोभव जागु।
नीवीबन्ध के जान कि भेला चेतनपन··············। ध्रुवं।
कि सखि कहव मञो, कहल न जाइ
हरिक चरित कहइते रहञो न जाइ।
धाम्मिल धरइ अधरमधु पीवे वह ·····.··.·······जावे।
दइन न माने, दोप न जाने गहवर गाढ़ अलिङ्गन दाने।

---

(१) ४१६ वाँ पद अस्पष्ट है। उसका पाठ्य-अंश यह है "बङ्किम लोला लोचन वान। मार चण्डार गमार न मारए छोपए छैल परान। ध्रुव। साईंएआ आजे मनोभवे······कामिनिओ अभिसार। कङ्कन किङ्किनि रिमझिम चरणतञो रवए नुपूर। ते नव रङ्गहि······गए कति दूर। कुच कुम्भवेग···यखन सागल विद्यापति कवि गाव। राजा रूपनारायन लखिमा देवि रमान"।

अइसनि कहिनी न कहिअ आ·········कह दोर पराने।
भनइ विद्यापति एहु रस जाने राए सिवसिंह लखिमा देवि रमाने।

प्राचीन तालपत्र पद ४१७

(८६)

अभिसार-वर्णन

निसि[1] निसिअरे भम, भीम भुअङ्गम जलधर वीजु उजोर।
तरुन तिमिर निसि तइअओ चलल जासि बड़ सखि साहस तोर।
सुन्दरि कमन पुरुष धन जे तोर हरल मन ताहेरि उदेसे अभिसार।
आगे तओ जौन नरि से कैसे जएवह तरि आरति न करिअ झाप।
तोरा अछि पंचसर तें तोहि नहि डर मोर हृदअ बड़ काप।
भनइ विद्यापति अरे वर जउवति साहस कहहि न जाए।
अछए जुवति गति कमलादेवि पति मन वस अरजुन राए।

प्राचीन तालपत्र पद ४१८

यह पद गुप्तजी की पदावली में भी है। इसके बाद के पद नहीं मिल सके। वे नष्ट हो गये हैं।

इति शुभम्

---

(१) रात को निशाचर और भयंकर साँप घूम रहे हैं। बिजली के कारण बादल चमक उठता है, अन्धेरी रात है, तथापि तुम चली ही जा रही हो। यह तुम्हारा बड़ा साहस है। सुन्दरि, कौन पुरुष धन्य है, जिसने तुम्हारा मन हर लिया है और जिसके लिये यह अभिसार है। आगे जो नदी है उसको तुम कैसे पार करोगी? प्रेम मत छिपाओ। पाँच शरवाले कामदेव तुम्हारे सहायक हैं। इसलिये तुम्हें डर नहीं है, किन्तु सहायक नहीं होने के कारण मेरा हृदय बहुत जोर से काँप रहा है।

विद्यापति की भाषा

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

भाषा का इतिहास—विशेष कर उस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक तथा चित्ताकर्षक हुआ करता है; जिसके ऊपर अनेक अत्याचार हुए हैं तथा हो रहे हैं, जो विभिन्न विद्वानों के विचारानुसार कभी बँगला और कभी हिन्दी भी बन जाती है, और जिस भाषा के मन्त्रमुग्धकारी पदों का प्रकाशन भाषा-विज्ञान तथा मैथिली से अपरिचित अन्य भाषा-भाषी विद्वानों के द्वारा होने के कारण वह भाषा दूसरी भाषाओं के रंग में इस प्रकार रँग गई है कि उन रंगों को धोकर विद्यापति के समय की मैथिली के रंग में रँगना कठिन ही नहीं—असंभव-सा हो रहा है। गत अध्याय में उदाहरणों के साथ यह बतलाया जा चुका है कि किसी भी पदावली में विशुद्ध पाठ नहीं है और पदावलियों के वर्ण-विन्यास तथा शब्दों में मनमाना परिवर्तन कर डाला गया है। संपादकों के मैथिली से अपरिचित तथा प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावान्वित होने के कारण विद्यापति के पदों की किस प्रकार मनमानी व्याख्याएँ की गई हैं—इसके भी नमूने पाठकों के सामने उपस्थित किये जा चुके हैं। यह भी दिखलाया जा चुका है कि बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संपादित विद्यापति-पदावली में विद्यापति-रचित मानकर वे भी

शताब्दी के लोचन कवि ने स्पष्ट शब्दों में दूसरे कवियों की रचनाएँ बतलाया है और जिन पदों में दूसरे कवियों के नाम (राग-तरङ्गिणी की प्राचीन प्रति में) पदों के रचयिता के रूप में पाये जाते हैं। इसलिये विद्यापति के विशुद्ध पदों का संग्रह तथा प्रकाशन कितना आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है—यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में भाषा-विज्ञान के धुरंधर विद्वान् प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी, एम्. ए., डि. लिट् से मैं मिला था। आपकी राय है कि जबतक थोड़ी भी संख्या में विद्यापति के विशुद्ध पदों का संग्रह नहीं होता है तबतक 'विद्यापति' पर अनुसंधान करना निराधार है और उस निराधार अनुसंधान से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। विशुद्ध पदों का संग्रह करना ही सबसे बड़ा अनुसंधान है। आपका अंदाजा है कि खोज करने पर मिथिला के किसी विद्वान् के घर में विद्यापति के पदों की प्राचीन प्रति अवश्य मिलेगी। मुझे यह उपदेश युक्ति-संगत मालूम हुआ और परिणाम-स्वरूप मैंने मिथिला में खोज आरम्भ कर दी। कई महीनों के अनवरत उद्योग करने पर भी जब सफलता नहीं मिली तब निराश तथा विवश होकर मैंने वहीं अपने अनुसंधान की इति-श्री कर देने का निर्णय कर लिया, परन्तु भाग्यवश उसी अवसर पर पं० श्रीविष्णुलाल झा काव्य-व्याकरणतीर्थ (Gold medalist) के दर्शन हुए। आप विहार-रिसर्च सोसाइटी की ओर से मिथिला में प्राचीन पुस्तकों की खोज करते हैं। आपने बतलाया कि दरभंगा-जिले के अन्तर्गत रामभद्रपुर नामक गाँव में तालपत्र पर लिखे हुए कुछ पद हैं।

लिखावट तथा आकार से मालूम पड़ता है कि वह पुस्तक ३०० वर्षों से भी अधिक पुरानी है। जिस प्रकार प्यासा पानी की ओर दौड़ता है उसी प्रकार उसी समय मैंने रामभद्रपुर के लिये प्रस्थान किया और वहाँ तालपत्र पर लिखे हुए विद्यापति के पदों को देख मेरे आनन्द की सीमा न रही। उस पुस्तक में सब मिलाकर (कुछ पदांशों के अतिरिक्त) ८६ पद हैं। इसलिये उन पदों की प्रतिलिपि के लिये एक सप्ताह का समय ही मुझे पर्याप्त मालूम हुआ और पुस्तकाध्यक्ष से बहुत शीघ्र पुस्तक लौटा देने की प्रतिज्ञा कर मैं पुस्तक ले आया। आज-कल की मिथिलाक्षरों की लेख-शैली से उसकी लेख-शैली अनेक अंशों में विभिन्न है। यही कारण है कि आतशी शीशा (Magnifying glass) तथा मिथिलाक्षर के अनेक विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त करने पर भी पदों की प्रतिलिपि तथा तालपत्र के पदों के साथ बार-बार तुलना करने में पूरे नौ महीने लग गये। उस पुस्तक में व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान संबंधी अनेक नवीनताएँ देखकर मुझे प्रबल इच्छा हुई कि इन पदों के आधार पर मैं विद्यापति की भाषा का व्याकरण लिखूँ और साथ-साथ यह भी बतलाऊँ कि उस भाषा की उत्पत्ति तथा विकास किस प्रकार हुए हैं।

डा. सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा रचित "Origin and development of Bengali laugnage" की प्रणाली मुझे अच्छी जँची। मेरा विषय 'विद्यापति की भाषा' है। इसलिये जहाँ-तहाँ अर्वाचीन मैथिली का उल्लेखमात्र किया गया है, न कि उसका पूरा विवेचन। 'बँगला की उत्पत्ति और विकास'

में प्रधान रूप से अर्वाचीन बँगला पर ही प्रकाश डाला गया है। इसलिये विषय की विवेचना में उक्त पुस्तक से कुछ विभिन्नता आ गई है। जहाँ-तहाँ मतभेद होना भी स्वाभाविक है। मेरी पुस्तक में एक नई प्रणाली यह है कि मैंने विदेशीय विद्वानों के ग्रन्थों की अपेक्षा संस्कृत, पाली, प्राकृत, अवहट्ठ तथा अपभ्रंश के मूल ग्रन्थों से विशेष सहायता ली है तथा उदाहरण के रूप में मैंने जिन पदों को उद्धृत किया है वे पद इसके साथ प्रकाशित विशुद्ध विद्यापति-पदावली से ही लिये गये हैं; क्योंकि उनकी विशुद्धता में जरा भी संदेह नहीं है। जहाँ अन्य ग्रन्थों तथा पदावलियों के अंश उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं, वहाँ स्पष्ट शब्दों में ग्रन्थों के नाम बता दिये गये हैं। विषय-विवेचना की प्रणाली अच्छी हुई हो या बुरी, किन्तु इस प्रकार अनुसंधान करने का परिणाम यह हुआ कि मैथिली के संबंध में अनेक नई बातें ज्ञात हुईं जिनका पता अभी तक किसी भाषा-विज्ञान-वेत्ता को नहीं लगा था। आगामी अध्यायों में वे विषय विशेष रूप से बताये जायँगे। अनन्तर 'बौद्ध गान ओ दोहा' तथा 'चर्याचर्य-विनिश्चय' में मैथिली की अनेक विशेषताएँ देखकर यह संदेह होना स्वाभाविक है कि इनकी भाषा मैथिली है या बँगला। इसी प्रकार विद्यापति अवहट्ठ को देश भाषा (देसिल बअना) कहते हैं तथा राग-तरङ्गिणी के रचयिता लोचन कवि विद्यापति की भाषा को 'मिथिलापभ्रंश' भाषा कहते हैं। इस प्रकार मैथिली की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है या अवहट्ठ पिंगल की तरह केवल कवियों की भाषा है और देश-भाषा से इसका कुछ भी संबंध नहीं

है—यह भी एक जटिल प्रश्न है। 'मैथिली हिन्दी की उपभषा है या स्वतन्त्र भाषा—इस विषय में भी विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि मैथिली के साथ इन महत्त्वपूर्ण विषयों का घनिष्ठ संबंध है तथा इन विषयों की विवेचना के विना मैथिली-भाषा-संबंधी लेख अधूरा ही रह जायगा। यही कारण है कि जहाँ तक मुझसे बन सका है, मैंने इस छोटी-सी पुस्तक में भी इन विषयों का समावेश किया है।

भाषा-संबंधी अन्य पुस्तकों में 'भाषा की उत्पत्ति' पर ही पहला अध्याय लिखने की प्रथा है, किन्तु मैंने उस प्रथा का अनुसरण नहीं कर पहले विद्यापति की भाषा के अङ्गों की विवेचना की है; क्योंकि यह नया क्षेत्र है, इसमें भाषा के अङ्गों की विवेचना किये विना भाषा-संबंधी अन्यान्य विषयों की विवेचना नहीं हो सकती। शब्द-रूप भाषा का प्रधान अङ्ग है। इसलिये पहले अध्याय में संक्षेप में इसका वर्णन कर लिङ्ग, वचन, कारक, सर्वनाम, क्रिया आदि अङ्गों का वर्णन क्रमशः किया जायगा।

शब्द-रचना

प्रथम अध्याय

(क) शब्दरूप

बोलचाल की भाषा संस्कृत-व्याकरण के जटिल नियमों के बन्धन में जकड़ी हुई नहीं रहे, वरन् सीधी ...

युग का ही झुकाव था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये शब्दों के अन्तिम व्यञ्जनों का लोप हो गया और सब शब्द स्वरान्त बन गये। अ, इ, उ के अतिरिक्त स्वर भी इन्हीं के रूप में परिणत हो गये। इसमें संदेह नहीं कि आकारान्त शब्दों का रूप सबसे सरल हुआ करता है। संस्कृत में कमज़ोर लड़के चाहा करते हैं कि राम-शब्द की तरह सब शब्दों के रूप सरल हो जायँ। बहुधा वे राम-शब्द के साहश्य के आधार पर 'मुनिस्य' तथा 'साधुस्य' का व्यवहार भी कर डालते हैं। इस लोक-प्रवृत्ति के कारण लोगों के हृदय में समीकरण का भाव उदित होना स्वाभाविक है। परिणाम यह हुआ कि प्राकृत-युग में भी केवल अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त पुँल्लिङ्ग तथा आकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ही प्रयोग पाया जाने लगा और 'पुत्तस्स' की तरह 'अग्गिस्स' तथा 'वाउस्स' शब्दों का भी प्रयोग होने लगा। अपभ्रंश-युग में और भी कुछ उन्नति हुई। अन्तिम आ, इ, उ भी 'अ' के रूप में परिणत होने लगे। 'बाहु' का बाह (वलअ भाँगल बाँह ममोलि, विद्यापति), सरल बाह (पृ० ५०), सुललित बाह (पृ० ४६) वर्णरत्नाकर), रेखा का रेह (गो वि रेह, प्राकृतपिङ्गल पृ० ३४६, सुपहु-सुनारि-सिनेह चान्द-कुसुमसम रेह, विद्यापति), कला के स्थान में कल (इह दह कल गअगमणि प्राकृतपिङ्गल पृ० १४७) वायु के स्थान में वाअ [वहइ मलअ वाआ (वाअका बहुवचन) हंत कंपंत काआ प्राकृतपिङ्गल पृ० ४९२] आदि शब्दों के प्रयोग इसके प्रबल प्रमाण हैं। विद्यापति के समय तक देशी भाषाओं पर संस्कृत का पूरा प्रभाव पड़ चुका था और

फलस्वरूप उन भाषाओं में प्रचुर परिमाण में संस्कृत शब्दों का व्यवहार होने लगा था। इधर देशी भाषाओं पर जनसाधारण की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। यही कारण है कि विद्यापति के पदों में तथा 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में संस्कृत शब्दों की भरमार है, किन्तु उन संस्कृत शब्दों पर भी लोक-प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा और उसका परिणाम यह हुआ कि (१) अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो गया, (२) अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये तथा (३) अनेक इकारान्त, उकारान्त आदि शब्द अकारान्त भी बन गये। उदाहरण के लिये संस्कृत मनस्, कर्मन्, जन्मन्, यशस् आदि अनेक शब्दों के अन्तिम व्यञ्जनों का लोप हो गया और वे अकारान्त शब्दों की तरह व्यवहृत होने लगे। इसी प्रकार नागरी, परिपाटी, सुन्दरी आदि शब्द विद्यापति के पदों में ह्रस्व-इकारान्त भी पाये जाते हैं तथा गुरु शब्द आकारान्त 'गरुअ' के रूप में भी पाया जाता है। प्राकृत-पिङ्गल के (पृष्ठ ४५९) समुहि सुन्दरि पिङ्गल दोक्खिआ आदि अंशों में सुन्दरी के स्थान में 'सुन्दरि', समभागह तहि लहुअ मुणिज्जसु (पृ० ५९) में 'लघु' के स्थान में 'लहुअ' पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-युग में ही ये परिवर्तन हो चुके थे। संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता के कारण यह संभव नहीं था कि इस ओर और भी उन्नति हो सके और सब-के-सब शब्द अकारान्त बन जायँ। इसलिये भाषा को सरल बनाने के उद्देश्य से दूसरे उपाय का सहारा लिया गया।

यह पहले बताया जा चुका है कि प्राकृत-युग में भी सब शब्दों के बाद समान विभक्ति का प्रयोग हो—यह लोक-प्रवृत्ति

थी। इसके साक्षी प्राकृत व्याकरणों के नियम हैं। साथ-साथ द्विवचन की जगह (१) बहुवचन का ही व्यवहार होने लगा और द्विवचन का लोप हो गया। इनके अतिरिक्त और भी कई नई बातें विद्यापति की भाषा में पाई जाती हैं। विद्यापति की भाषा में विभक्तियाँ केवल आठ हैं। वे ये हैं—ए या एं या एँ, हि, क, के, एरि, कें, काँ या का, सञो। तह संस्कृत तस् (तसिल्) की तरह तद्धित प्रत्यय है। चाहि, लागि आदि संस्कृत 'कृते', 'हेतोः' आदि की तरह विभिन्न शब्द हैं, वे प्रत्यय या विभक्तियाँ नहीं हैं। तालपत्र के पदों में 'में' विभक्ति नहीं पाई जाती है। एक जगह 'मह' (रायनि मह रसमन्ता) शब्द मिलता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'मध्य' -शब्द से हुई है। प्राकृतपिङ्गल में 'आइकव्व उकच्छ मह (दोहा ८८) का 'मह' भी इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। सब लिङ्गों में समान विभक्ति का व्यवहार भी इस युग की विशेषता है। स्त्रीलिङ्ग आकारान्त शब्दों के बाद 'ए' की जगह 'ञे' चिह्न पाया जाता है, किन्तु छन्द इसका प्रबल प्रमाण है कि वहाँ भी एकारान्त उच्चारण होता है। संभव है कि वह सानुनासिक उच्चारण हो। चिन्ताञे आसा कवललि मोरि—इस पदांश में जैसा लिखा है, वैसा ही यदि उच्चारण किया जाय तो छन्दोभङ्ग हो जाता है। इसलिये इसका विशुद्ध उच्चारण 'चिन्तेँ आसा कवललि मोरि' है। मोरेँ आसेँ पिआसल माधव—आदि पदांशों में स्त्रीलिङ्ग आकारान्त शब्दों के बाद भी एँ विभक्ति पाई जाती है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि उच्चारण 'एँ'

(१) द्विवचनस्य बहुवचनम्। ८। ३। १३०। हैमव्याकरण।

होता था, किन्तु लिखने में ये और एँ दोनों ही शुद्ध रूप समझे जाते थे। इकारान्त, उकारान्त आदि शब्दों में अन्तिम स्वर का लोप कर एँ विभक्ति लगाने से शब्दों के रूप विकृत हो जाते और विकृत रूपों से अर्थ समझना कठिन हो जाता। इसलिये इस कठिनाई का सामना करने के लिये दूसरा उपाय ढूँढ़ निकाला गया। वह यह था कि विभक्ति में 'ए' का लोप कर दिया गया और उन स्थानों पर केवल चंद्रविन्दु ही विभक्ति का चिह्न माना जाने लगा। वैरी डीठिँ निहारति तोहि, राजभीतिँ पराउ— आदि पदांशों में प्राकृत तथा संस्कृत—दोनों शब्दों के बाद विभक्ति का चिह्न केवल चन्द्रविन्दु पाया जाता है। इस तरह 'एँ' की तरह चन्द्रविन्दु भी एक विभक्ति बन गया। संभव है कि कुछ दिनों तक इसका व्यवहार करण कारक तक ही सीमित रहा हो, किन्तु अन्त में सब कारकों के लिये इसका व्यवहार होने लगा जैसा कि विद्यापति के निम्नलिखित पदांशों के अध्ययन से ही स्पष्ट ज्ञात होता है—

उदअँ कुमुद जनि होए (कर्ता)
सखि बुझावए धरिए हाथँ (कर्म)
तें बिहिँ करु मोर सम अवधान (करण)
कमलँ झरए मकरन्दा (अपादान)
अथिरँ मानस लाव (अधिकरण)

प्राकृतपिङ्गल में दीर्घ ईकारान्त शब्दों के दीर्घ ईकार को ह्रस्व बनाकर वह परिवर्तित इकार अधिकरण कारक का चिह्न माना जाता था। एक 'मही' शब्द दो बार 'महि' के रूप में

पाया जाता है जिसका अर्थ 'पृथिवीमें' है। थप्पि जसु विमल महि (पृथिवी में विमल यश स्थापित करो), महि लोट्टइ (जमीन पर लुढ़कता है)। यह पहले बताया जा चुका है कि कर्ता कारक में दीर्घ ईकारान्त या ऊकारान्त शब्दों का ई या ऊ इ या उ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मही शब्द से बना हुआ ह्रस्व इकारान्त 'महि' शब्द भी कर्ताकारक में पिङ्गलसूत्र में पाया जाता है; जैसे कुम्म चलंते महि चलइ (कछुए के चलने पर पृथिवी चलती है), अहि ललइ, महि चलइ (शेषनाग विचलित हो जाते हैं, पृथिवी काँपने लगती है)। इनके अतिरिक्त कर्म कारक में भी 'महि' का व्यवहार पाया जाता है; जैसे खुर खुर खुंदि खुदि महि (खुरों से जमीन खोद खोद कर)। मुरछि पलए महि (पृथिवी पर), फूटि करसि फुलवालि (फुलवाड़ी में) नागरे कि करव नागरि पाए (कर्म), आदि विद्यापति के पदों में भी इस तरह का व्यवहार पाया जाता है। यह ईकारान्त या ऊकारान्त शब्दों तक ही सीमित नहीं रहा, अधिकरण, कर्म आदि कारकों में भी विभक्ति-रहित अकारान्त शब्दों का व्यवहार होने लगा। वहाँ किसी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी। इसलिये विभक्ति-सूचक कोई चिह्न या परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। संभव है कि लिखने में अन्तर नहीं होने पर भी सविभक्तिक तथा निर्विभक्तिक पदों के

(१) दोहा १५७ (२) दोहा १९० (३) दोहा ९६।

(४) प्राकृत पिङ्गल दोहा २०४। (५) दीप निभाएल ऐसना काज (३६), धैरज सबँ उपाय (३७), पावनि दीप निभाएल आज (३६), न घर गेलुहु, न पर भेलुहुँ (३७),

उच्चारण में भेद हो। विद्यापति के समय की कोई दूसरी पुस्तक उपलब्ध नहीं होती है जिसके सहारे यह निर्णय किया जा सके कि इस तरह का व्यवहार केवल पद्य में ही होता था या बोलचाल की भाषा में भी।

विद्यापति के पितामहभ्राता महामहोपाध्याय ज्योतिरीश्वर ठाकुर-रचित वर्णरत्नाकर पर दृष्टि डालने से संभव है कि इस विषय पर नया प्रकाश डाला जाय। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि वर्णरत्नाकर की भाषा विद्यापति की भाषा से भी प्राचीन है और गद्य में होने के कारण वह उस समय की बोलचाल की भाषा है। उसमें विद्यापति की भाषा की तरह करण कारक की विभक्ति और कर्ता कारक की विभक्ति में कोई भी अन्तर नहीं है। ब्राह्मणे मध्याह्न आरहु, ब्रह्मान्वे चतुर्मुख कएहलु, अपूर्व विश्वकर्मान्वेँ निर्मउलि, स्थलकमलेँ निकुञ्ज आश्रय कएल, कदलीँ विपरीत गति कइलि आदि वाक्यों में कर्ता कारक में पाई गई विभक्तियाँ 'ए' 'न्वे', 'एँ' चन्द्रविन्दु आदि करण कारक में भी पाई जाती हैं; जैसे रूपेँ कन्दर्प, दाने वलि, परोपकारें जीमूतवाहन, सत्यें युधिष्ठिर, आज्ञान्वे लङ्केश्वर आदि। जब गद्य में भी चन्द्रविन्दु विभक्ति का काम करता था तब यह निश्चित है कि चन्द्रविन्दु[1] ने भी विभक्ति का रूप प्राप्त किया था और और कारकों में भी इसका व्यवहार हुआ है; जैसे सेवाँ वइसलि छथि (पृ० ८)।

हि, क, के, कें, काँ, सन्वो विभक्तियाँ विद्यापति के पदों में

(१) वाजँ प्रभातज्ञान कराओल आदि वाक्यों में अकारान्त शब्दों के वाद भी चंद्रविंदु मिलता है।

पाई जाती हैं, और वर्णरत्नाकर में भी मिलती है। केवल 'एरि' विभक्ति वर्णरत्नाकर में नहीं मिलती है। विद्यापति के पदों में भी इसका बहुत कम व्यवहार पाया जाता है। इससे यह निश्चित है कि यह लोकप्रिय विभक्ति नहीं थी। संभव है कि मागधी अपभ्रंश की यह विभक्ति बंगाल में जाकर ही उन्नत हुई हो और 'एर' के रूप में इस समय भी वर्त्तमान है। मागधी से उत्पन्न मैथिली में कुछ दिनों तक रहकर इसने सर्वदा के लिये पूरब की ही यात्रा की।

हेमचन्द्र के सूत्रों से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-युग में भी कर्त्ता, कर्म, सम्बन्ध आदि विभक्तियों का लोपकर निर्विभक्तिक पदों का व्यवहार होता था। वर्णरत्नाकर के 'यं रात्रि पातक शब्दें तरुज्ञान' (पृ० १६) आदि वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि "आइ राति हम एही ठाम रहब" आदि अर्वाचीन मैथिली के वाक्यों की तरह प्राचीन मैथिली में भी निर्विभक्तिक पदों का व्यवहार होता था। संभव है कि छन्द के अनुरोध से पद्य में इस तरह का व्यवहार होना आरम्भ हुआ हो और क्रमशः निर्विभक्तिक पदों का व्यवहार गद्य में भी प्रचलित हो गया हो।

(ख) लिङ्ग

संस्कृत, पाली तथा प्राकृत में तीन लिङ्ग हैं, किन्तु अपभ्रंश में अकारान्त शब्द की तरह सब शब्दों का रूप बनाकर एक ही लिङ्ग बना देने की कोशिश की गई और पुँल्लिङ्ग,

(१ स्यम् जस्शसो लुक् ८।४।३४४, षष्ठ्याः ।८।४।३४५ 'सिद्धहेमचन्द्र'।

स्त्रीलिङ्ग, और क्लीवलिङ्ग में जो अन्तर था, वह शिथिल-सा पड़ गया। हेमचन्द्र के व्याकरण 'लिङ्गमन्त्रम्' ।८।४।४४५। सूत्र से भी यही प्रमाणित होता है। लिङ्ग-बहिष्कार की ओर अपभ्रंश-युग की प्रवृत्ति अनार्यों (कोलों) के साथ संसर्ग का प्रभाव पाकर और भी प्रबल हो उठी। कोलों की भाषा बंगाल में प्रचलित थी। उनकी भाषा में स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग में अन्तर नहीं होता है। यही कारण है कि इससे प्रभावान्वित बँगला की क्रिया, विशेषण आदि में लिङ्ग-भेद नहीं पाया जाता है, किन्तु तरुणी नायिका, भाग्यवती स्त्री आदि वाक्यों के तत्सम शब्दों में लिङ्ग से छुटकारा नहीं मिला। ललितमोहन वनर्जी (व्याकरण-विभीषिका पृष्ठ २७) आदि विद्वान् वहाँ भी उसे स्थान नहीं देना चाहते हैं।

इधर विद्यापति की भाषा में भूत और भविष्यत् कालों में कर्ता के अनुसार क्रिया का लिङ्ग होता है; जैसे एक ही पद (१७) में 'राजा भेल वसन्त' 'अवसरँ भेलि सआनी', 'एकर होएत परिनामे' (२४) 'कओन होइति ई गारि।' पुँल्लिङ्ग कर्ता वसन्त के साथ क्रिया का पुँल्लिङ्ग रूप 'भेल' है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग कर्ता सआनी के साथ उसी का स्त्रीलिङ्ग रूप 'भेलि' पाया जाता है। इसी प्रकार एक ही क्रिया पुँल्लिङ्ग कर्ता 'परिनाम' के साथ होएत (पुँल्लिङ्ग) है और स्त्रीलिङ्ग कर्ता 'गारि' के साथ होइति (स्त्रीलिङ्ग) है। वर्तमान काल में यह भेद नहीं पाया जाता है; जैसे दूती भए जनु जनमए नारि (२०), हास-कला से हरए साँचीत आदि पदांशों में स्त्रीलिङ्ग कर्ता होने पर भी उसी क्रिया का व्यवहार किया जाता है जिसका

व्यवहार पुँल्लिङ्ग कर्ता के साथ होता है। इस समय तक मैथिली में केवल वर्तमान काल की क्रियाओं में लिङ्ग-भेद नहीं है। प्राचीन मैथिली की तरह भूत और भविष्यत् कालों में कर्ता के अनुसार क्रिया में विभिन्न लिङ्ग होते हैं; जैसे राम गेलाह, सीता गेलीह, राम जयताह, सीता जयतीह आदि।

विद्यापति के पदों में स्त्रीलिङ्ग शब्दों के विशेषणों के बाद भी स्त्रीलिङ्ग का चिह्न 'ई' या 'इ' हर जगह पाया जाता है; जैसे 'कानकदु भेलि कहिनी तोरि, हमे अभागलि नारि, तवे दुति भोरी, ई वड़ि लाज' इनमें क्रमशः कहिनी, नारि, दुति, और लाज शब्दों के विशेषण तोरि, अभागलि, भोरी, और वड़ि स्त्रीलिङ्ग हैं। अर्वाचीन मैथिली में संस्कृत पढ़े-लिखे मैथिल तत्सम विशेषणों का व्यवहार साधारणतः स्त्रीलिङ्ग में करते हैं, जैसे सुन्दरी स्त्री, भाग्यवती कन्या आदि, किन्तु अनपढ़ मैथिल 'ई स्त्री सुन्दर अछि' आदि वाक्यों में स्त्रीलिङ्ग के चिह्न से रहित विशेषणों का भी व्यवहार करते हैं, किन्तु स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ तद्भव या अर्धतत्सम, वुधिआरी, अभागलि आदि विशेषणों का व्यवहार केवल स्त्रीलिङ्ग में होता है।

साधारणतः स्त्रीलिङ्ग संस्कृत शब्दों से बने हुए प्राकृत या अपभ्रंश के शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही व्यवहृत होते हैं; जैसे लाज (संस्कृत लज्जा), सिधि (सं० सिद्धि) मोती (मुक्ता) कई पद ऐसे भी मिलते हैं जो संस्कृत में पुँल्लिङ्ग हैं, किन्तु हिन्दी की तरह विद्यापति के पदों में स्त्रीलिङ्ग व्यवहृत हुए हैं,

---

१ साधारणतः 'स्त्री सुन्नरि (सुन्दरि) अछि' बोलते हैं।

जैसे आगि (सं० अग्नि, प्रा. अग्गि) और तत्सम निधि शब्द [खरि विरहानल आगि (२२), अपनेहिं निधि आइलि जनि पास (३२)]। कई शब्द ऐसे भी हैं जो हिन्दी तथा अर्वाचीन मैथिली—दोनों में पुँल्लिङ्ग हैं, किन्तु विद्यापति के पदों में स्त्रीलिङ्ग व्यवहृत होते हैं; जैसे तोहरि वचन (७५), कतए मलिनि जन माने। मलिनि जन, और तोहरि वचन में लेखक की भूल होना भी संभव है। यह भी संभव है कि विद्यापति के समय में ये शब्द स्त्रीलिङ्ग में भी व्यवहृत होते हों। वर्णरत्नाकर में भी स्त्रीलिङ्ग कर्ता रहने पर स्त्रीलिङ्ग क्रिया पाई जाती है तथा स्त्रीलिङ्ग विशेष्यों के स्त्रीलिङ्ग ही विशेषण सर्वत्र मिलते हैं। यथा—तीनि रेखा समन्विति ग्रीवा (पृष्ठ ४), से हो मन्दि होथि (५), विश्वकर्माजे निर्मउलि स्वर्गनारि बइसलि चौपालि एक (११), भीतर भूमि चतुःसमे अनुलेपलि अछ (११), दरिद्रीक अइसनि संतप्ति पृथ्वी भेलि अछ (१५), दशओ दिश मृगतृष्णाव्ने कवलित भए गेलि (१५)—आदि इसके उदाहरण हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार जिन शब्दों के बाद 'ई' नहीं लगना चाहिये उन शब्दों के बाद भी 'ई' देखकर यह मालूम पड़ता है कि प्राचीन मैथिली में स्त्रीलिङ्ग का चिह्न केवल 'ई' था।

बंगाली विद्वानों की राय में चर्याचर्यविनिश्चय की भाषा प्राचीन बँगला है, किन्तु उसमें मैथिली की तरह स्त्रीलिङ्ग

---

(१) यह भी संभव है कि 'जन' शब्द का व्यवहार दोनों लिङ्गों में होता हो। यहाँ 'जन' शब्द स्त्रीलिङ्ग है—यह बतलाने के लिये स्त्रीलिङ्ग विशेषण व्यवहृत हुआ हो।

क्रिया तथा विशेषण पाये जाते हैं; जैसे तोहोरी कुड़िआ (चर्या १०), मए दिवि पिरिच्छा (चर्या २९), टुटि गेलि कांखा (चर्या ३७)। लागेलि आगि (चर्या ४७) में हिन्दी तथा प्राचीन मैथिली की तरह 'आगि' शब्द स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत हुआ है। प्रोफेसर चटर्जी इसकी उत्पत्ति संस्कृत अग्निका और प्राकृत अग्गिआ से बताते हैं और आपकी राय में 'आगि' शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने का भी यही कारण है, किन्तु तत्सम निधि शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने का क्या कारण है—यह ज्ञात नहीं। संभव है कि सीधि (सिद्धि) शब्द के सादृश्य के आधार पर यह भी स्त्रीलिङ्ग मान लिया गया हो।

(ग) वचन

पालीयुग में ही बहुवचन ने द्विवचन का स्थान ले लिया और परिणाम-स्वरूप एकवचन और बहुवचन—दो ही वचन बच गये और द्विवचन को सदा के लिये विदाई मिल गई। इन बचे हुए दोनों वचनों के लिये पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश युगों में विभिन्न विभक्तियाँ पाई जाती हैं। अनेक अंशों में महाराष्ट्री, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी आदि देशी भाषाओं में भी वे विभक्तियाँ सुरक्षित हैं। दूसरे शब्दों के विभिन्न वचनों में विभिन्न रूप होने पर भी हिन्दी के अकारान्त तथा ईकारान्त पुँल्लिग शब्दों के दोनों वचनों में एक ही रूप होते हैं और क्रिया के वचन से ही कर्त्ता का वचन जाना जाता है। विद्यापति की भाषा में हिन्दी के अकारान्त पुँल्लिग शब्दों की तरह सब शब्दों के दोनों वचनों में समान रूप होते हैं।

एक ओर 'सबे सबे पार', 'सबे गेल', 'सब उपाय', 'से

सबे परके कहि न जाए', 'कतौँ जलासञ्ञँ', 'दुइ खञ्जन खेल', 'षट ऋतु सोभे'—आदि पदांशों में ए, चंद्रविंदु आदि विभक्तियाँ बहुवचन प्रकट करती हैं तथा निर्विभक्तिक पदों से एक से अधिक वस्तुओं का बोध होता है, दूसरी ओर 'कामे संसार सिंगार सिरिजल', 'उदञ्ञँ कुमुद जनि होए' आदि पदांशों में एकवचनान्त शब्दों के बाद भी ए और चंद्रविंदु विभक्ति के रूप में पाये जाते हैं तथा 'जलद बरिस जलधार,' 'दीप निझाएल' आदि पदांशों में विभक्ति-रहित एकवचनान्त शब्द भी मिलते हैं। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि ये किसी विशेष वचन की विभक्तियाँ नहीं हैं, वरन् इनसे दोनों वचनों का बोध होता है। इसी तरह निर्विभक्तिक पदों का भी व्यवहार दोनों वचनों में होता है।

मैथिली में बहुवचन प्रकट करने के लिये सब या सभ (सबके अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं, सभका व्यवहार अर्वाचीन मैथिली में होता है), सकल (डाइन सकल भेल), जन (गुरुजन कहि परिजन वारि), संख्यावाचक शब्द (दुइ खञ्जन खेल, षट ऋतु सोभे), एत, कत, आदि शब्दों का व्यवहार होता है। अर्वाचीन मैथिली के बहुवचन में सभ या सब तथा 'लोकनि' (सजीव पदार्थ) का व्यवहार होता है; जैसे विद्यार्थी सभ, विद्यार्थी लोकनि आदि। संस्कृत नपुंसक लिंग के बहुवचन 'आनि' से ही 'लोकनि' के 'नि' की उत्पत्ति हुई है। बँगला के 'तिनि' भोजपुरिया और मगही के 'तोहनी,' 'हमनी' आदि शब्दों में भी 'नि' विभक्ति पाई जाती है। बँगला तथा उड़िया में संबन्ध की विभक्ति 'र' के बाद 'आ' लगाकर

भी वहुवचन वनता है; जैसे—राजा से राजारा। मैथिली में संज्ञा या विशेषण के वाद इस विभक्ति का व्यवहार नहीं पाया जाता है, किन्तु सर्वनामों के वाद 'रा' लगाकर उसके वाद सब या सभ तथा लोकनि का व्यवहार कर्ता के वहुवचन में पाया जाता है; जैसे—हमरा लोकनि, हमरा सभ, तोरा लोकनि, तोरा सभ, तोहरा लोकनि, तोहरा सभ, ओकरा लोकनि, ओकरा सभ आदि। वँगला में भी आमरा सव, तोरा सव, तोमरा सब आदि शब्द व्यवहृत होते हैं।

वर्णरत्नाकर के वायंसन्हि (पृ० १४), जनन्हि (पृ० १५) युवतिन्हि (पृ० १५) पत्तिन्हि (पृ० ३३) आदि शब्दों में वहुवचन का चिह्न 'न्हि' तथा उत्तीर्णाह, विशुद्धाह (पृ० ३०) आदि शब्दों में वहुवचन का चिह्न 'आह' मिलता है। प्राकृत-पिङ्गल के एक पद्यांश में 'धणुंहि' शब्द (गेहइ·····धणुंहि किल कामो पृ० १२२) कर्त्ता कारक के वहुवचन में पाया जाता है। इससे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश-युग में सं० नि (फलानि) से उत्पन्न 'न्हि' भी वहुवचन की एक विभक्ति थी। संभव है कि इसी सादृश्य के आधार पर और-और शब्दों के वाद भी वहुवचन में इसका उपयोग होना आरम्भ हुआ हो। इसका प्रयोग शब्द और धातु—दोनों के वाद होता है। ग्रियर्सन साहब ने इसकी उत्पत्ति 'र्णोहिं' (= तैः) से वतलाई

---

(१) कीर्तिलता में भी यह विभक्ति पाई जाती है। युवराजन्हि मझ्झ पवित्र पृ० १२; तन्हिकरे ओ अहंकार पृ० १४।

है। मागधी प्राकृत में षष्ठी एकवचन में 'आह' विभक्ति क (अवर्णाद्वा ङसो डाहः हेमचन्द्र ८।४।२९९) व्यवहार होत है। संभव है कि कर्ता कारक में भी उसी विभक्ति का व्यवहार होने लगा हो। अर्वाचीन मैथिली में 'सदृश' अर्थ में इस 'आह' विभक्ति का प्रयोग होता है; जैसे—ई श्लोक अशुद्धाह लगैत अछि। इस 'आह' के बाद 'सन' (सदृश) शब्द भी लगाया जाता है; जैसे—ई श्लोक अशुद्धाह सन लगैत अछि। इसका कारण यह मालूम पड़ता है कि पीछे 'आह' करण कारक की विभक्ति मान लिया गया। जिस प्रकार संस्कृत में रामेण गच्छति और रामेण सह गच्छति—दोनों का एक ही अर्थ होता है उसी प्रकार अशुद्धाह लगैत अछि और अशुद्धाह सन लगैत अछि—दोनों वाक्यों का व्यवहार एक ही अर्थ में होने लगा। अथवा संभव है कि आह संस्कृत आभ (सदृश) का प्राकृत या अपभ्रंश रूप है।

बँगला के सम्बन्ध कारक में 'आह' का व्यवहार होता है; जैसे—ताह, जाह आदि। इसकी उत्पत्ति संस्कृत अस्य, प्राकृत अस्स और मागधी अश्श से हुई है। मागधी, प्राकृत तथा अश्वघोष के नाटकों में 'आह' शब्द पाया जाता है। (Origin and development of Bengali language Page 751)

---

(१) ग्रियर्सन साहब षष्ठी बहुवचन की विभक्ति "डाहँ" से इसकी उत्पत्ति बताते हैं। आपने उदाहरण के रूप में 'अम्हाहँ' बताया है। उसी सादृश्य के आधार पर बहुवचन में 'आह' का प्रयोग होता है। मागधी प्राकृत के सम्बन्ध कारक के एकवचन की विभक्ति 'आह' और बहुवचन की विभक्ति 'आहँ' है (P. L. Vaidya Page 20) ।

(घ) कारक

कर्त्ता कारक

विद्यापति के पदों में कर्त्ता कारक की तीन विभक्तियाँ पाई जाती हैं—(१) ए (२) एँ और (३) चंद्रविंदु। आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के बाद 'एँ' के स्थान में 'न्ने' हो जाता है; जैसे—चिन्तान्ने आसा कवलित मोरि। यह पहले बताया जा चुका है कि वर्णरत्नाकर में आकारान्त पुँल्लिंग शब्दों के बाद भी 'न्ने' विभक्ति पाई जाती है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका उच्चारण 'एँ' होता था—'चिन्तान्नें' उच्चारण नहीं होकर 'चिन्तें' उच्चारण होता था।

'अत एत् सौ पुंसि मागध्याम ८।५।२८७' सूत्र के द्वारा हेमचन्द्र ने बतलाया है कि कर्त्ता कारक में एकारान्त रूप होना भी मागधी की एक विशेषता है। अशोक के शिलालेख से अपभ्रंश-युग तक के साहित्य की ओर दृष्टि डालने से भी यही प्रमाणित होता है। शुतनुका (अशोक) शिलालेख (देवॅदिन्ने नाम लूपदक्खे) की प्राचीन मागधी, अर्धमागधी

---

(१) कामे संसार सिंगार सिरिजल, सवे सवे पार, काम्प सवे सरीरे।

(२) उपर हेरि तिमिरेँ करु वाद, चापि चकोरेँ सुधारस पीउल धमिलेँ कएल अवसाद।

(३) जमुना जलँ विपरीत तरंग, उदअँ कुमुद जनि होए।

(४) Origin and development of Bengali language Page 59.

(उज्जाने होत्था), तथा नाटकों की मागधी में एकारान्त रूप पाया जाता है। उस मागधी से उत्पन्न मैथिली (विद्यापति की भाषा) में एकारान्त रूप होना स्वाभाविक है। इसीलिये राए (राजा), कओने, हमे, तोहें आदि अनेक एकारान्त रूप पाये जाते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन बँगला, आसामी तथा उड़िया में भी एकारान्त रूप मिलते हैं।

मार्कण्डेय ने "सौ पुंस्येदितौ" सूत्र के द्वारा बतलाया है कि मागधी में एकारान्त तथा इकारान्त—दोनों रूप होते हैं। मागधी, अपभ्रंश तथा प्राचीन बँगला के इने-गिने शब्दों के अन्त में 'इ' भी पाई जाती है। वररुचि के समय तक कर्ता कारक में इकारान्त तथा एकारान्त शब्दों के अतिरिक्त निर्विभक्तिक पदों का भी प्रयोग होने लगा था। वररुचि का सूत्र है—'अत इदेतौ लुक् च' ९।१० अर्थात् प्रथमा के एकवचन में अकारान्त शब्दों के अन्तिम 'अ' के स्थान में इ या ए होता है तथा विभक्ति का लोप भी होता है अर्थात् कर्ता कारक के एकवचन में निर्विभक्तिक पदों का भी प्रयोग होता है।

---

(१) Ardhamagadhi reader Page 1. इस तरह के अनेक उदाहरण हैं।

(२) यं लाउत्ते (राजपुत्रः) आणवेदि (अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क ६)। किं णु खु शोहने बाम्हने सि (अभिज्ञानशाकुन्तल षष्ठ अङ्क)। भग्गे में दण्डणिअले (भग्नो में दण्डनिगडः), कधं अपावे चालुदत्ते वावदी अदि, हगे णिअलेण शामिणा बन्धि दे (कथम् अपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते , अहं निगडेन स्वामिना बद्धः) (मृच्छकटिक दशम अङ्क)।

संस्कृत, पाली तथा प्राकृत में कर्मवाच्य का व्यवहार प्रचुरता से होता है और उस वाच्य के कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। इस साहश्य के आधार पर देशी भाषाओं में भी 'कर्मणि प्रयोग' होने लगा और कर्ता के बाद करण कारक की विभक्ति एँ या ने लगाई जाने लगी। समानता होने के कारण निरनुनासिक रूप ए तथा एँ—दोनों ही कर्मवाच्य के कर्ता के चिह्न माने जाने लगे और कर्तृवाच्य में विभक्ति का लोपकर विभक्ति का नहीं होना ही कर्ता का चिह्न माना जाने लगा। अथवा संभव है कि अधिकरण कारक में एकारान्त रूप होता है और करण कारक में भी वही रूप। इसलिये विभक्ति से करण, अधिकरण या कर्ता कारक का जानना कठिन-सा होने लगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कर्ता कारक में विभक्ति-शून्य रूप रखना ही निरापद समझा गया।

यह पहले बताया जा चुका है कि चंद्रबिंदु को विभक्ति का रूप कैसे मिला और चंद्रबिंदु के द्वारा सब कारकों का बोध किस प्रकार होता था। उदाहरण भी साथ-साथ दिये जा चुके हैं।

'अत् ओत् सोः' ५।१ (प्राकृतप्रकाश), 'अतः सेर्डोः' ८।३।२ (सिद्ध हेमचन्द्र) आदि व्याकरण के सूत्रों से ज्ञात होता है कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतों में कर्ता कारक के एकवचन में ओकारान्त रूप होता है। सातवाहन-कृत गाथासप्तशती, प्रवरसेन-विरचित सेतुबन्ध तथा प्राकृतपिङ्गल छन्दः-सूत्र में ओकारान्त रूप मिलते हैं।

गाथा सप्तशती

इमेहिँ दिट्ठो तुमं (आभ्यां दृष्टस्त्वम्) श्लोक ४०, जणो असह (जनो हसति) श्लोक ४१, हीरइ कलम्बो (ह्रियते कदम्बः) श्लोक ३७, विरसो रसो होइ (विरसो रसो भवति) श्लोक ५३।

सेतुबन्ध

रसन्तो रसाअले व्व समुद्दो श्लोक ४५, जह दीसइ साअरो तहेव हुअवहो श्लोक ६६, विअम्भइ जलणो श्लोक ६८।

प्राकृतपिङ्गल छन्दः-सूत्र (अपभ्रंश)

सक्को संभो सूरो गंडो खंधो (पृष्ठ १९२), चंदो चंदणहारो ताबअ रूअं पआसंति (पृष्ठ १०७), दीहा बीहा रामो कामो (पृष्ठ ३४४)।

अभिज्ञानशाकुन्तल के छठे अङ्क में बराबर एकारान्त रूपों का व्यवहार करते-करते कालिदास ने दो ओकारान्त रूपों का भी व्यवहार कर दिया है; जैसे 'आगमो दाणीं एदस्स विमरिसिदव्वो'। बीच-बीच में 'पारि दोसिओ दे पसादो कि दो' आदि अनेक अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। इसका यह कारण मालूम पड़ता है कि संस्कृत नाटकों में उत्तम तथा मध्यम अभिनेत्रियों के लिये उपयुक्त दो ही प्राकृत भाषाएँ मानी जाती हैं; (१) महाराष्ट्री (२) तथा शौरसेनी। पद्य में महाराष्ट्री तथा गद्य में शौरसेनी का व्यवहार होता आया है। इसलिये कवियों के लिये इन दोनों प्रधान भाषाओं से प्रभावान्वित होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका

में एकारान्त तथा निर्विभक्तिक अनेक पदों के अतिरिक्त ओकारान्त 'जो', 'सो' शब्द भी पाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ संज्ञाओं तथा विशेषणों के आकारान्त रूप भी मिलते हैं; जैसे—कुल-कुल रहु गगन चन्दा, काजर अञ्जने न करु भीमा, तत से पए अवस करए जकर जे वेवहारा आदि। यह भी शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रभाव है। शौरसेनी अपभ्रंश में अन्तिम दीर्घ स्वर के स्थान में ह्रस्व स्वर तथा ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ स्वर होता है (स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ८।४।३३० हैम व्याकरण)। विद्यापति के पदों में दोनों ही पाये जाते हैं। सुन्दरी के स्थान में सुन्दरि, मही के स्थान में महि आदि अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा चुके हैं जहाँ दीर्घ के स्थान में ह्रस्व स्वर होता है। ऊपर के उदाहरणों में ह्रस्व के स्थान में दीर्घ अर्थात् 'अ' के स्थान में 'आ' हुआ है। अर्वाचीन मैथिली में भी 'अवज्ञा' अर्थ में आकारान्त रूप व्यवहृत होते हैं। नीच जातियों के नाम प्रायः आकारान्त ही व्यवहृत होते हैं; जैसे—लक्ष्मना, मंगला, शनिचरा, चुमना, शुकना आदि।

करण कारक

जिस प्रकार संस्कृत में कर्ता (कर्मवाच्य) तथा करण के बाद एक ही 'एन' विभक्ति आती है उसी प्रकार उसी 'एन' के 'न' को अनुनासिक या अनुस्वार के रूप में परिवर्तित कर बनी हुई 'एँ' या 'ए' विभक्ति कर्ता और करण दोनों कारकों में आती है; जैसे—चम्पकें कएल पुहवि निरमान, वड़ें मनोरथें साजु अभिसार। संभव है कि सानुस्वार या सानुनासिक उच्चारण क्लिष्ट होने के

कारण विभक्ति के रूप में केवल 'ए' का ही उपयोग होने लगा हो। रोपभरमे जनु बोलह गमार, तुश्र गुने झामरि वामा आदि इसके अनेक उदाहरण हैं। यह बतलाया जा चुका है कि आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के बाद 'ये' विभक्ति भी आती है। उच्चारण की सरलता की दृष्टि से इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के बाद केवल चंद्रविंदु आता है; जैसे—वैरी डीठिं निहारति तोहि, राजभीतिं पराउ, तें विहिं करु मोर सम अवधान आदि। चर्याचर्य विनिश्चय के डरे (२), वेगें (५), मांसे (८) आदि शब्दों में, वा वर्णरत्नाकर के गुणे (पृष्ठ ४), डोरेँ (७) आदि शब्दों में यही ये ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। प्राचीन उड़िया में केवल 'ए' मिलता है। कर्ता कारक की तरह करण कारक में निर्विभक्तिक पद भी पाये जाते हैं; जैसे—हास कला से हरए साँचीत। बोलचाल की भाषा में भी इस तरह का व्यवहार होता था या नहीं—यह निश्चित रूप से बतलाने का कोई साधन नहीं है। अनेक स्थानों में संस्कृत की तरह विशेषणों के बाद भी विभक्तियाँ आती हैं; जैसे—अश्रोधें नअने निझावए दीव। समान दो शब्दों के रहने पर कहीं-कहीं एक सविभक्तिक और दूसरा निर्विभक्तिक पाया जाता है; जैसे—परिपाटि सिखावए चाटें चाट। इनके अतिरिक्त अनेक जगह विद्यापति ने संस्कृत तृतीयान्त शब्दों का भी व्यवहार किया है; जैसे—भल जन भये वाचा चूकह। गुनक बान्धल आएल नागर—इस पदांश में करण की विभक्ति 'क' है। संस्कृत में तृप्त्यर्थक तथा अज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातुओं के करण में षष्ठी होती है; जैसे—नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्, सर्पिषो ज्ञानम्। संभव है कि इन्हीं सादृश्यों के आधार पर यह

परिवर्तन हुआ हो। अर्वाचीन मैथिली में भी इस तरह के प्रयोग होते हैं।

'सह' (साथ) के अर्थ में 'सञो' विभक्ति का व्यवहार होता है; जैसे—गोपवधूसञो जन्हिका मेलि, दूती बोलसि कान्ह-सञो केलि। 'कृष्णेन सह' में 'एन' और 'सह'—इन दोनों से जिस अर्थ का बोध होता है वही अर्थ 'कृष्णसञो' में 'सञो' से प्रकट किया जाता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत तथा पाली 'समम्' (साथ), प्राकृत समो, अपभ्रंश 'सउँ' से हुई है। प्रोफेसर चटर्जी इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश 'सवो' से बताते हैं। 'साथ' शब्द के साथ करण कारक की विभक्ति 'एँ' पाई जाती है; जैसे—सखि पचारसि मन्देँ साथ। संस्कृत 'द्वारा' तद्भव 'द्वारा' से बना हुआ 'दए' शब्द भी करण कारक की विभक्ति के रूप में पाया जाता है; जैसे—पर दए समन्दए न जाइ।

अधिकरण कारक

अर्वाचीन मैथिली में इसका चिह्न 'में' है। इस 'में' की उत्पत्ति संस्कृत 'मध्ये' से हुई है। मध्ये मध्ध, मध, मह, माह बनता हुआ 'में' के रूप में परिणत हुआ है। विद्यापति की भाषा तथा वर्णरत्नाकर में इस 'में' का प्रयोग नहीं पाया जाता है; किन्तु (१) ए (२) एँ (३) चंद्रबिंदु (४) हि या अहि—इन

---

१ करण में 'सँ' का भी व्यवहार होता है; जैसे—जसु परिमलसँ परवस मधुकर।

२. Compative grammar by Beams Part II 58.

३. तनु आइहि पुण एक्क सउ, पदमे बेवि मिलंत (तस्य आदौ पुनः एकेन सह प्रथमं द्वावपि मिलितौ) प्राकृतपिङ्गल पृष्ठ ८०।

चार विभक्तियों से अधिकरण का बोध होता है; जैसे—सपने देखल हरि, चितें न झाँपहि आन, तेसर माथें सबे अपराध, आपदँ अधिक धैरज करव, अइसनि निसिँ अभिसार—तोहि तेजि करए के पार, करहि मिलल रह नहि मुख सुन्दर, नव मधुमासहि तइसन देखिअ आदि।

संस्कृत के अधिकरण कारक में अकारान्त शब्द एकारान्त बन जाते हैं। अन्य रूपों के अतिरिक्त पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश के सप्तमी-एकवचन में एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं। इसलिये विद्यापति की भाषा के अधिकरण कारक में एकारान्त रूप होना स्वाभाविक है। गेश्रान, कश्रोन आदि सानुनासिक रूप देखकर ज्ञात होता है कि इस भाषा में प्रचुरता से सानुनासिक उच्चारण होता था। संभव है कि इसीलिये वह 'ए' सानुनासिक बन गया हो। चंद्रविंदु के विषय में पहले बतलाया जा चुका है। ग्रंथविस्तार के भय से वह नहीं दुहराया जाता है।

'हि' या 'अहि' का इतिहास बहुत रोचक है। संस्कृत अधि, पाली धि, प्राकृत हि, हिं से इसकी उत्पत्ति हुई है। ग्रीक में थि, तथा लैटिन में फि और फिं विभक्तियों का व्यवहार साथ (by, along with) अर्थ में होता है। यही या कोई समान विभक्ति (जिससे पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों विभक्तियों की उत्पत्ति हुई है) भि और भिं के रूपमें बदलकर हि और हिं के रूप में परिणत हुई हो—यह सर्वथा संभव है। 'एँ' भी 'हि' का ही रूपान्तर मालूम पड़ता है; जैसे—चितेँ 'चित्तहि' का रूपान्तर है।

---

1. Origin and development. Page 745

यह भी संभव है कि संस्कृत अस्मिन् (सर्वस्मिन्) स्सि (सव्वस्सि), म्हि (इमम्हि) और म्मि (सव्वम्मि) के रूप में वदलता हुआ 'हि' (एकवचन) तथा 'हिं' (बहुवचन) के रूप में परिणत हुआ हो। पाली-युग की स्सि तथा म्हि, तथा प्राकृत युग की स्सि, म्मि, हिं विभक्तियाँ केवल सर्वनामों के बाद आती हैं, किन्तु अपभ्रंश की हि तथा हिं[1] विभक्तियाँ सब शब्दों के वाद आती हैं। इसीलिये मैथिली, बँगला तथा उड़िया में सब शब्दों के वाद इन विभक्तियों का व्यवहार होता है। इस 'हि' विभक्ति का व्यवहार व्रजभाषा तथा प्राचीन अवधी में भी होता है।

सर्वनामों के तो, मो, ओ, ता, जा आदि विकारी रूपों के वाद भी 'हि' विभक्ति आती है। अर्वाचीन मैथिली में भी 'हि' विभक्त्यन्त रूप पाये जाते हैं।

हार्नली तथा वीम्स साहव की राय है कि संस्कृत 'स्य' (षष्ठी एकवचन) से 'ही' की उत्पत्ति हुई है तथा डाक्टर वावूराम सक्सेना संस्कृत भिः, प्राकृत हिं से इसकी उत्पत्ति वताते हैं, किन्तु प्रोफेसर चटर्जी इससे सहमत नहीं हैं। आपका कहना है कि किस, जिस, तिस आदि अनेक हिन्दी तथा वँगला के रूपों में 'स्य' का स अपरिवर्तित रूप में दिखाई पड़ता है। इसलिये यह संभव नहीं है कि दूसरी जगह उसी 'स्य' का स 'ह' के रूप में परिवर्तित हो जाय। इसी प्रकार इसका भी कोई विशेष

---

१ विद्यापति की भाषा में भी 'हिँ' रूप भी पाया जाता है; जैसे—अपदहिँ गेल मुखाए।

कारण नहीं है कि बहुवचन की विभक्ति 'हिं' का व्यवहार एकवचन में हो। इसलिये बहुत संभव है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'अधि' तथा पाली 'धि' से हुई है।

अन्य कारकों की तरह अधिकरण कारक में भी निर्विभक्तिक पद पाये जाते हैं; जैसे—फूटि करसि फुलवालि, न मुख वचन, न मन थीरे, आधहि पथ ससी हसि ऊगल, मनओ फेदाएल अइसना काज, धैरज सब उपाए, धाए मरिअ बरु आगी आदि। कीर्तिलता में भी निर्विभक्तिक पद पाये जाते हैं; जैसे—उद्यम लक्खित वस, साहस सिद्धि, आदि।

भावे सप्तमी

संस्कृत में जब एक क्रिया (जो साधारणतः शतृ, शानच् या क्त प्रत्ययान्त रहती है) के काल से दूसरी क्रिया का काल ज्ञात होता है तो पहली क्रिया तथा उसके कर्ता से सप्तमी होती है। इस सप्तमी को 'भावे सप्तमी' कहते हैं (यस्य च भावेन भावलक्षणम् ।२।३।३७।, पाणिनि) जैसे—सूर्ये अस्तं गते स गतः। अँगरेजी में इसको Nominative absolute कहते हैं। इस तरह के प्रयोग पाली तथा प्राकृत में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक कृदन्त से बने हुए शब्दों तथा उनके कर्ताओं के बाद अधिकरण कारक का प्रयोग होता है और उससे उत्तरकालिक क्रिया का समय ज्ञात होता है; जैसे—गामहिँ एसलेँ बोलिअ गमार, अवसर गेलेँ कि नेह बढ़ाओव, दूती बोलइतेँ कान्ह लजाएल, पुन कलें सबे-सबे पार, मञे पओले कारण किछु न भाव, साजनि मोहि पुछइतें

-लाज, वसन हरइतें लाज दुर गेल, अनुपम रूप घटइते सब विघटल जत छल रूपक सारे आदि अनेक उदाहरण हैं।

सम्बन्ध कारक

प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली में सम्बन्ध कारक की प्रधान विभक्ति 'क' है। जैसे—चोरक मन जञो बसए तरास, मनक पाहुन मदन धावे, नीविक संगेँ लाज विघटलि आदि। विद्यापति के पदों में 'क' के अतिरिक्त 'के', 'केर', 'एरि' तथा 'काँ' विभक्तियाँ भी पाई जाती हैं; जैसे—कुल के गारि, लङ्का के राए, परिहर सखिकेरि सङ्ग, सोनाकेर समान, देखि गमनेरि वाध, काजेरि ठाम अठाम न गूनल, ताहि तरुनिकाँ कञोन तरङ्ग—जकरा मदन महीपति संग आदि, किन्तु इनका व्यवहार इने-गिने पदों में ही देखकर ज्ञात होता है कि 'क' ही प्रधान विभक्ति थी। एक जगह 'नूतन रस संसारक सार' और दूसरी जगह 'चोरी पेम संसारेरि सार' पाया जाता है—इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'क' तथा 'एरि'—दोनों विभक्तियों का व्यवहार एक ही अर्थ में होता था। अर्वाचीन मैथिली में केवल 'क' का व्यवहार होता है। 'वावूकेर श्राद्ध थिकैन्ह' आदि वाक्यों में विरले ही 'केर' विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु 'के' तथा 'एरि' का प्रयोग तो नहीं ही होता है। यही कारण है कि वावू नगेन्द्रनाथ गुप्त-द्वारा संपादित विद्यापति-पदावली में दो-तीन स्थानों पर सम्बन्ध का चिह्न 'एरि' देखकर वहुत-से मैथिल विद्वान् उन शब्दों को वँगला का शब्द समझते थे और समझते थे कि वे पद विद्यापति से भिन्न किसी अन्य कवि की रचनाएँ

हैं। मैथिल विद्वान् के घर में सुरक्षित, मिथिलाक्षर में तालपत्र पर लिखित, तीन सौ वर्षों से भी अधिक प्राचीन (जैसा उसके आकार से मालूम पड़ता है) विद्यापति की पदावली में 'एरि' विभक्त्यन्त शब्दों को देखकर यह मानना पड़ता है कि 'एरि' मैथिली की प्राचीन विभक्ति थी और मैथिल विद्वानों का यह अनुमान निराधार-सा मालूम पड़ता है। इन विभक्तियों के अतिरिक्त सर्वनामों के बाद र, रा (राँ) तथा कर विभक्तियाँ भी आती हैं; जैसे—विमल चरित मोर,तोर गतागत जीवन मोर, हृदअ तोहर जानि न भेला, पुनु जनु आवह हमर समाजे, ताकर पुन अपार आदि।

इनकी उत्पत्ति

'कार्य' से कज्ज, काइर, केर, कर बनती हुई 'केर' और 'कर' विभक्तियाँ बनी हैं—यह पिशेल का मत है। प्रोफेसर चटर्जी भी इसमें सहमत हैं। आपकी राय है कि 'कृत' से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई है; क्योंकि कित, किद आदि रूपों में परिवर्तित होता हुआ कृत 'किअ' बन जायगा न कि कर या केर।

सम्बन्ध अर्थ में प्राकृत में 'केर' प्रत्यय होता है; जैसे—युष्मद् से तुम्हकेरो (युष्मदीयः) होता है (इदमर्थस्य केरः-हेमचन्द्र ८।२।१४७)। इसी अर्थ में तृतीयान्त 'केर' शब्द का व्यवहार अपभ्रंश में पाया जाता है। हेमचन्द्र ८।४।४२२ सूत्र के उदाहरण-स्वरूप अपभ्रंश का एक पद्य उद्धृत किया गया है जिसमें इस तरह का प्रयोग पाया जाता है। पद्यांश नीचे उद्धृत किया जाता है—

'जसु केरए' हुंकार डए' मुहहुं पडन्ति तृणाइं

—प्राकृत व्याकरण पृष्ठ १६९

यस्य संवन्धिना हुङ्कारेण मुखेभ्यः पतन्ति तृणानि

'संस्कृत अनुवाद'

सम्भव है कि यही 'केर' राजस्थानी, पूर्वी बँगला, और प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली की सम्वन्ध कारक की विभक्ति के रूप में परिणत हो गया हो। पिशेल साहव ने 'प्राकृत प्रश्न' में जो 'केर' का 'केल' मागधी रूप दिखलाया है वह 'केर' का रूपान्तर-मात्र है। मृच्छकटिक नाटक में केरओ, केरको, केरकं केलके आदि शौरसेनी तथा मागधी—दोनों प्राकृतों के रूप पाये जाते हैं। मागधी अपभ्रंश में भी इसका व्यवहार होता था।

सर्वनामों के वाद केवल 'र' या 'रा' विभक्ति आती है; जैसे—हमर, तोहर, मोर, तोर, हमरा, तोरा आदि। ताकर[1] (उसका), जकर, अनकर आदि शव्दों में 'केर' विभक्ति 'कर'[2] के रूप में मिलती है। मागधी, प्राकृत तथा मागधी अपभ्रंश के सम्वन्ध कारक में कर, कार तथा कअ विभक्तियों का प्रयोग पाया जाता है। इसलिये कर या केवल र (‘कर’ का

---

(१) अर्वाचीन मैथिली में 'तकर' होता है।

(२) कभी-कभी वह 'रा' के रूप में परिणत हो जाता है; जैसे—ककरा, तकरा, जकरा आदि। 'र' या 'रा' का प्रयोग उत्तम तथा मध्यम पुरुषों के सर्वनामों के वाद होता है। हार्नली साहव ने Gaudian Grammar के २३६ की पादटिप्पणी में 'क' तथा 'र' को दो भागों में विभक्त किया है।

एक देश) का मैथिली में व्यवहृत होना अस्वाभाविक नहीं है। र या रा प्रत्ययान्त शब्द विशेषण की तरह भी व्यवहृत होते हैं और उन विशेषणों के बाद संस्कृत की तरह विशेष्य की विभक्तियाँ भी आती हैं, जैसे—मोरें आसें पिआसल माधव।

मालूम पड़ता है कि उच्चारण की सुविधा के लिये केर, क तथा एर—दो भागों में विभक्त कर दिये गये तथा क और एर—दोनों विभक्तियों का व्यवहार सम्बन्ध कारक में होने लगा। बँगला में 'एर' का अविकृतरूप सुरक्षित पाया जाता है; किन्तु मैथिली में वही 'एर' 'एरि' के रूप में परिणत हो गया। तालपत्र पदावली (इसके साथ प्रकाशित) में इस विभक्ति का प्रयोग केवल तीन बार पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय भी इसका प्रयोग विरले ही होता था। 'क' ने इसका स्थान ग्रहण किया और इस समय तक मैथिली में 'क' का ही साम्राज्य है। 'क' के ऊपर मागधी का प्रभाव पड़ा और परिणाम-स्वरूप वह 'के' के रूप में परिणत हो गया। इसलिये दो स्थानों पर 'के' भी पाया जाता है।

इस 'क' या हिन्दी 'का' की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न भाषाशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। वे ये हैं—

(१) उत्पन्न अर्थ में संस्कृत में 'क' प्रत्यय (मद्रवृज्योः कन् पाणिनि ४।२।११३) होता है; जैसे—मद्रक (मद्रदेश में त्पन्न)। संभव है कि सीधे संस्कृत से यह 'क' प्रत्यय लिया या हो। प्राचीन हिन्दी (विशेषकर प्राचीन अवधी) में 'क' ा ही व्यवहार होता था।

(२) संस्कृत कृते कद्, कअअ बनता हुआ 'क' के रूप में परिणत हो गया है। संस्कृत में भी 'कृते' (लिये) के साथ षष्ठी विभक्ति का व्यवहार होता है। प्राकृतिक युग में 'सम्बन्ध' अर्थ में 'कृत' का व्यवहार पाया जाता है। जैसे—उदयनकृतमासनम् (स्वप्नवासवदत्ता)।

(३) प्राकृत इदमर्थ 'क' प्रत्यय से ही रूपांतरित होकर 'क' विभक्ति बनी है। डाक्टर चटर्जी इसमें सहमत हैं।

(४) डाक्टर भाण्डारकर 'के' तथा हिन्दी 'को' की उत्पत्ति 'केहिं' से 'मानते हैं। अपभ्रंश में (हेमचन्द्र ८।४।४२५) केहिं 'कृते' संस्कृत का परिवर्तित रूप है।

'काँ' की उत्पत्ति 'कक्ष' से कह, काह होकर हुई है।

सम्बन्ध में निर्विभक्तिक पदों का भी प्रयोग पाया जाता है; जैसे—ससिमुखि नोर ओल नहिं होए, अङ्गिरिअ कामिक दुहु कुल गारि। हेमचन्द्र ने बताया है कि अपभ्रंश में बहुधा षष्ठी का लोप होता है (षष्ठयाः ८।४।३४५)। इससे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंशयुग से ही सम्बन्ध कारक में निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग होता आया है।

वर्णरत्नाकर में सम्बन्ध कारक की विभक्तियाँ 'काँ' 'क', 'कें' हैं; जैसे—श्वेत पङ्कज काँ दल (पृ० ५), तकाँ उपर कम्बल (पृ० १४), सेज काँ समीप (पृ० १४), दिनक दीर्घता,

---

(१) Comparative grammar, Part II, Page 51, Eastern Hindi grammar Page 377, Kellogg's Hindi Grammar Page 129.

(१) हउँ झिज्जउ तउ केहिं = अहं क्षीणा तव कृते।

रात्रिक संकोच, पृथ्वीक कर्कशता, रौद्रक तीक्ष्णता (पृ० १५), आदित्य कें भव्वे नुकाएल अन्धकार (पृ० १५); कोकिला कें नादे वाचाल (३९)।

क (सम्बन्ध कारक का चिह्न) के बाद मागधी प्राकृत से प्रभावान्वित होने के कारण 'ए' लगाकर 'के' बनता है। बीम्स साहब ने 'कक्ष' से इसकी उत्पत्ति मानी है (Comparative Grammar Page 252-259)। केलौग साहब ने भी इसका समर्थन किया है। यह पहले बताया जा चुका है कि हार्नली साहब इसकी उत्पत्ति 'कृत' से मानते हैं। 'कें' या 'कें' 'के' का रूपान्तर मात्र है।

संप्रदान

प्राकृतों में (महाराष्ट्री के अतिरिक्त) संप्रदान विभक्ति नहीं पाई जाती है। हेमचन्द्र, वररुचि, चण्ड आदि वैयाकरणों ने तृतीया बहुवचन के स्थान में हि, हिँ, हिं परिवर्तन बतलाकर (संप्रदान की विभक्तियों का उल्लेख नहीं कर) पञ्चमी एक-वचन के स्थान में जो परिवर्तन होते हैं उनका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राकृत-युग में ही संप्रदान का लोप हो गया और दूसरे कारकों ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को सरल बनाने की ओर लोगों की प्रवृत्ति थी। इसलिये अपभ्रंश-युग में भी संप्रदान का पुनरुज्जीवन नहीं हो सका। विद्यापति के पदों में भी संप्रदान को स्वतन्त्र विभक्ति नहीं मिलती है। संप्रदान (जिसको कोई चीज दी जाती है) के बाद कर्म या संबंध कारक की ही विभक्तियाँ आती हैं। अर्वाचीन

मैथिली में भी यही होता है। 'राम कें पोथी देलिएन्ह' आदि वाक्यों में कर्म कारक की विभक्ति 'कें' का ही प्रयोग होता है। विद्यापति के पहले भी इसी तरह के प्रयोग होते थे; किन्तु उस समय केवल चंद्रविंदु भी विभक्ति के रूप में व्यवहृत होता था; जैसे—सेवाँ वइसल छथि (वर्णरत्नाकर पृष्ठ० ८)।

'लिये' अर्थ में 'लागि' विभक्ति का प्रयोग विद्यापति के पदों में बार-बार किया गया है; जैसे—काँ लागि आनल चान्दक कला, दरसन लागि पूजए नित काम, विद्यापति भन अपने हिं आओत सिरि सिवसिंह रस लागि, तोहराँ प्रेम लागि धनि खिनि भेलि। 'में' और 'से लेकर' अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे—दिन दुइ चारि जिउति महिं लागी, प्रथम समागम दरसन लागि—बारिस रअनि गमाओलि जागि आदि। संस्कृत लग् (संङ्गे) धातु से प्राकृत तथ अपभ्रंश में 'लग्ग्' होता है। हेमचन्द्र ने शक्रादीनां द्वित्वम् ८।४।२३० का उदाहरण लग्—लग्गइ दिया है और उसी अध्याय के ४२० (आसु न लग्गइ कण्ठि) तथा ४२२ (जो लग्गइ निज्व्वदु) सूत्रों के उदाहरण के रूप में उद्धृत दो अपभ्रंश-पद्यों में 'लग्गइ' का व्यवहार किया है। विद्यापति की भाषा में 'इ' लगाकर पूर्वकालिक क्रिया बनती है और भाषाविज्ञान के नियम के अनुसार लग्ग् का 'लाग्' होना भी अस्वाभाविक नहीं है। इस तरह मालूम पड़ता है कि यह किसी खास कारक की विभक्ति नहीं है, किन्तु यह पूर्वकालिक क्रिया है और इसका प्रयोग 'लिये', 'से लेकर' और 'में' अर्थों में होता है।

१ 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' में इसकी उत्पत्ति संस्कृत लग्ने, प्राकृत लग्गे या लग्गि से हुई है।

कर्म कारक

के और कें इस कारक की प्रधान विभक्तियाँ हैं; जैसे—के तोके बोलए सञ्चानी, से सबे परकें कहहि न जाए आदि। इन विभक्तियों की उत्पत्ति कैसे हुई—यह पहले बताया जा चुका है। इन विभक्तियों के अतिरिक्त कर्ता कारक की तरह ए तथा एँ विभक्तियाँ भी कर्म कारक प्रकट करती हैं; जैसे—पिआगुणे परचारि वेकतेओ दोस नुकावे, अबहु करिअ अवधाने, सिसिरें महीपति दापें चापिकहुँ। केवल चंद्रविंदु के द्वारा भी कर्म कारक का बोध होता है; जैसे—सखि बुझावए धरिए हाथँ, हाथँ बान्धि कुञ्जँ मेललह मोही आदि। हिन्दी, बँगला, उड़िया आदि देश-भाषाओं की तरह निर्जीव पदार्थों के बाद कर्म कारक की विभक्ति नहीं आती है; जैसे—कुसुम आनि, विरचि विविध बानि। इस तरह निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग अपभ्रंश-युग में भी पाया जाता है (स्यम्-जस्-शसां लुक् ८।४।३४४ हैमव्याकरण)।

अपादान कारक

विद्यापति के भाषा में इसकी प्रधान विभक्ति 'सञो' है; जैसे—कालि दिवस सञो होएत अन्धार, जमुना तीरँ सञो समन्दल मान, मूवा जञो मूलहिं सञो भाङ्गल आदि। प्राकृत में पञ्चमी बहुवचन के स्थान में हिन्तो, सुन्तो आदि आदेश होते हैं। वही सुन्तो 'सञो' के रूप में परिणत हो गया है। यही कारण है कि वर्णविन्यास (Spelling) की समानता होने पर भी अपादान के सञो (से) और करण के सञो

---

१ हार्नली का ईस्ट हिन्दी ग्रामर ३७६

(साथ) में वहुत वड़ा अन्तर है। पहले बताया जा चुका है कि करण 'सञ्चो' की उत्पत्ति संस्कृत 'समम्' से हुई है।

जहाँ दो या अधिक वस्तुओं में तुलना की जाती है वहाँ 'सञ्चो' की जगह 'चाही' या 'तह' का प्रयोग होता है; जैसे—सब तह खरि विरहानल आगि, पिअ-विसरन मरनहुँ तह आगर, तोहें नागर सब चाही, चान्दहु चाहि कुटिल कटाख। संस्कृत में पञ्चमी विभक्ति के स्थान में तस् (तसिल्) प्रत्यय होता है; जैसे—अतः (अस्मात्), यतः (यस्मात्), कुतः (कस्मात्)। इन शब्दों के वाद किसी शब्द का अध्याहार कर शब्दार्थ पूरा होता है; जैसे—'अतः' के वाद 'कारणात्' छिपा हुआ रहता है और इस प्रकार इसका अर्थ 'इसलिये' होता है। इसी तरह 'कुतः' के वाद स्थानात् छिपा हुआ है और उसका अर्थ 'कहाँ से' है। पाली (पाली-प्रकाश पृष्ठ २४१) तथा प्राकृत में (प्राकृत-प्रकाश परिच्छेद ५, सूत्र २०, २१, ९, १०) इसने 'तो' रूप धारण किया। हेमचन्द्र ने प्राकृत में 'तद्' शब्द के पञ्चमी-एकवचन में भी 'तो' रूप (८।३।६७) वतलाया है। अपभ्रंश की षष्ठी के वहुवचन में 'तहं' भी होता है। 'प्राकृत पिङ्गल' में 'तथा' के अर्थ में उनतीस वार, 'ततः' और 'तत्र' के अर्थ में एक-एक वार 'तह' शब्द का प्रयोग हुआ है। वही 'तह' शब्द 'अपेक्षा' (पञ्चमी एक वचन) अर्थ में विद्यापति की भाषा मेंव्यवहृत हुआ है।

'चाहि' चाह धातु को पूर्वकालिक क्रिया है; किन्तु अवधी की तरह 'अपेक्षा' अर्थ में इसका प्रयोग होता है। तुलसीदास ने इसका वार-वार व्यवहार किया है; जैसे—कहाँ धनु कुलिसहु चाहि कठोर—कहाँ स्यामल मृदुगात किसोर।

अपभ्रंश में पञ्चमी एकवचन में 'हु' और बहुवचन में 'हुं' विभक्ति का प्रयोग होता है (हेमचन्द्र ।८।४।३३६ और ३३७) । कई पदों में 'हुंप्रत्ययान्त' शब्द पाये जाते हैं; जैसे—तलितहुं तेज मिलए अन्धकार। साथ-साथ दूसरा भी 'हुं' शब्द है, जो अव्यय है और प्राकृतयुग में जिसका व्यवहार निश्चय, प्रश्न, वितर्क आदि अर्थों में होता था (हुं क्खुं निश्चय-वितर्कसम्भावनेषु, प्राकृतप्रकाश परिच्छेद ९, सूत्र ६ ; हुं दान पृच्छानिवारणे सिद्ध हेमचन्द्र ।८।२।१९७) । विद्यापति की भाषा में इसका व्यवहार 'भी' अर्थ में पाया जाता है; जैसे—मुनिहुँक मन हो लोभे, हमहु ने से पहु राखलि चाहिअ, अइसनहुँ सुमुखि करह तोहें रोस, आदि । गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'कुलिसहु चाहि कठोर' में 'हु' का व्यवहार 'भी' अर्थ में किया है, किन्तु अर्वाचीन मैथिली में भी 'हु' तथा उसी 'हु' का सानुनासिक रूप 'हुँ' दोनों पाये जाते हैं; जैसे—कखनहुँ, कतहु आदि ।

दूसरे कारकों की तरह चंद्रविंदु से भी अपादान कारक का बोध होता है; जैसे—कमलँ झरए मकरन्दा।

द्वितीय अध्याय

संख्यावाचक

तालपत्र पर लिखित इन ८६ पदों में संख्यावाचक शब्दों की संख्या बहुत कम है । उनमें भी एक, षट्, पञ्च—ये तीन तत्सम शब्द हैं । ये संस्कृत से ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं ।

इनके अतिरिक्त दुअ, दुहु, दुइ, चारि, दस, दह, दोआदस, सोलह और सहस—संख्यावाचक शब्द पाये जाते हैं।

इनकी उत्पत्ति

'एक' तत्सम शब्द है या प्राकृत तथा अवहट्ठ 'एक्क' से इसकी उत्पत्ति हुई है। संस्कृत द्वे (नपुंसक लिङ्ग द्विवचन) से पाली तथा प्राकृत में 'दुवे' होता है। अशोक के जौगड़ शिलालेख में भी 'दुवे' पाया जाता है। उसीका विशुद्ध मागधी-रूप 'दुई' है जो बँगला में भी पाया जाता है। संस्कृत 'द्वय' से 'दुअ' की उत्पत्ति हुई है। 'दुहु' का अर्थ है 'दोनों ही'। इसलिये दु (दुइ) और हु (अव्यय शब्द, हैम व्याकरण ।८।२।१९८) दो शब्दों के मेल से इसकी उत्पत्ति हुई है। संस्कृत चत्वारि, पाली और प्राकृत चत्तारि और अपभ्रंश चारि से मैथिली 'चारि' की उत्पत्ति हुई है। समास होने पर 'चउ' होता है; जैसे—चउदह, चउवीस, चउदिस आदि। प्राकृत से प्रभावान्वित होने के कारण संस्कृत 'दश' 'दस' के रूप में परिणत हो गया है। 'दश' का प्राकृत रूप 'दह' है (दशपाषाणे हः ।८।१।२६२ हैम व्याकरण)। विद्यापति ने उसी तद्भव शब्द का व्यवहार किया है। द्वादश संस्कृत शब्द है। कठिन शब्दों के उच्चारण में सरलता आ जाय—इस उद्देश्य से दो व्यंजनों के बीच स्वर का आगम हो जाता है; जैसे—स्नेह से सिनेह, भ्रम का भरम, धर्म का धरम। भाषा-विज्ञान में इसको स्वरभक्ति या विश्लेष

(१) कीर्तिलता में 'दुवे' शब्द 'दो' के अर्थ में पाया जाता है। 'पाने चलु दुअओ कुमर' आदि अंशों में 'दुअओ' भी पाया जाता है।

कहते हैं। संस्कृत युग में भी इस तरह के विश्लेष पाये जाते हैं; जैसे—स्वर्ण से सुवर्ण, पृथ्वी से पृथिवी आदि। इस प्रकार द् और वा के बीच 'ओ' आ गया है। यह भी संभव है कि प्राकृत में अवतार का ओदार, भवति का भोदि होता है उसी प्रकार 'व' के स्थानों में 'ओ' होकर दोआदश बना और प्राकृत के प्रभाव से 'श' का 'स' हो गया। इस तरह 'दोआदस' शब्द की उत्पत्ति हुई। संस्कृत षोडश, पाली सोरह या सोलस, प्राकृत सोलह से 'सोलह' शब्द की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार सूत्र से सूत, पुत्र से पूत होता है उसी प्रकार रेफ का लोपकर 'सहस' बन गया है। इस पुस्तक में तालपत्र के पदों के ही संख्यावाचक शब्दों की ही विवेचना की गई है। इसलिये यह प्रकरण यहीं समाप्त किया जाता है।

तीसरा अध्याय

सर्वनाम

(क) उत्तम पुरुष

हम

कर्त्ता— हमे, हँमे, मए, मञे

---

(१) हमहु न से पहु राखलि चाहिअ।
(२) हमें अभागलि नारि, कएल हमें अकाज।
(३) मए कतेओ देखल।
(४) मञे दिढ़ कए जानू, आनक रतन आनि मञे देला।

कर्म और सम्प्रदान—मो[1], मोहि[2] (ही) (केवल संप्रदान में 'हमलागी' का प्रयोग होता है) ।

सम्बन्ध—मोर[3], मोरा[4], हमर[5], हमारा[6]

स्त्रीलिङ्ग शब्दों के विशेषण होने पर 'मोरि' होता है ; जैसे नीन्द भाँगलि मोरि, की भेलि कामकला मोरि घाटि ।

सर्वनाम की उत्पत्ति

संस्कृत 'अहम्' से प्राचीन मागधी 'अह्कम्' की उत्पत्ति हुई (Introduction to Prakrit Pages 40 and 74) अश्वघोष ने अपने नाटकों में इसी का व्यवहार किया है (H. Liders 'Bruchsticke' Page 36) प्राकृत-प्रकाश में (परिच्छेद ९ सूत्र[7] ९) इसके हके, हगे और अहके—तीन रूप बतलाये गये हैं । भास ने अपने नाटकों में बहुधा 'अहके' का व्यवहार किया है और साथ-साथ 'अहं'[8] का भी व्यवहार किया है । जिस प्रकार संस्कृत में भागुरि आचार्य अव और अपि—इन दोनों उपसर्गों के 'अ' का लोप कर देते हैं उसी

(१) होएत मो बड़ पाप ।

(२) मोहि बडि लाज, मोहि पुछइतें लाज, पुछिहिसि मोही, कुअँ मेलल मोही ।

(३) मन न मानए मोर, कहब संवाद कृष्णकें मोर ।

(४) नोनुआ अङ्ग मोरा ।

(५) तेसर जनइत हमर परान ।

(६) हमराहुँ जनु पल से अपवाद ।

(७) अस्मदः सौ हके हगे-अहके ।

(८) जाव अहं वि ····करेमि – स्वप्नवासवदत्त, अङ्क ४

प्रकार अश्वघोष और भास के बहुत पहले अशोक के पूर्वी शिलालेखों में आदिम अक्षर का लोप कर 'हकम्' रूप पाया जाता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि 'हकम्' ने उस समय से ही लेकर बोलचाल की भाषा में स्थान में पाया था। महाराष्ट्री अहअम् (अस्म दो म्मि, अम्मि, अम्हि, हं, अहं, अहयं, सिना—सिद्धहेमचन्द्र ८।३।१०५) और अर्धमागधी अहयंम् ने साहित्यिक रूप धारण किया। संभव है कि इसीसे अपभ्रंश हउँ, व्रजभाषा हौं[2] तथा प्राचीन बँगला हाउँ[3] या हाँउ (मैं) और अवहट्ठ 'हँओ' की उत्पत्ति हुई। सिद्ध हेमचन्द्र व्याकरण के (अपभ्रंश के) उदाहरणों में तेरह बार 'हउं' शब्द पाया गया है और प्राकृत-पिङ्गल में 'हउ' शब्द तीन बार मिलता है; जैसे—जो हउ रंको सो हउ राआ (योऽहं रङ्कः स एवाहं राजा), हउ किम परिपलिअ दुरंत (अहं कया परिपाट्या) दुरन्तं (समयं रक्षिष्यामि), उपाउ हीणा हउ एक णारी (उपाय हीना अहम् एका नारी)। इस तरह मालूम पड़ता है कि हउ, हउं, हउँ—तीनों रूप प्रचलित थे। आर्षव्याकरण (चण्डकृत प्राकृतलक्षण) में 'हउं' भी कर्ता कारक के एकवचन का रूप माना गया है। आपका सूत्र है—हउं, हं, अहं सौ सविभक्तेः ३२ और उदा-

---

(१) अहं और हं का भी व्यवहार होता है – अर्धमागधी रीडर।

(२) हौं लागी गृहकाज रसोई ; वरज्यो हौं न रहौंगो – सूरदास।

(३) तू लो डोम्बी हाउँ कपाली (चर्या १०) हाँउ निवासी खमण भतारे (चर्या २०)।

(४) मन्द करिअ हओ, कम्म (पृ० १८), कित्ति सिंह गुण हओ कहउ (पृ० ८०) 'कीर्तिलता'

हरण है 'हउं सो णरो'। इस तरह संभव है कि प्राकृत युग में ही 'अस्मद्'[१] शब्द को 'हउं' रूप मिला हो। मालूम पड़ता है कि इसी 'हउँ' या 'हव्वो' से 'हम' (मैथिली) की उत्पत्ति हुई है। मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व (पाद १७ सूत्र ४८) में 'अस्मद्' शब्द के स्थान में 'हमु' आदेश किया है। इस तरह तो सब झंझटों से ही छुटकारा मिल जाता है।

हिन्दी में 'हम' बहुवचन का रूप है। इसलिये वैदिक अस्मे, संस्कृत वयम्, प्राकृत अम्हे (शौरसेनी वश्रं और अम्हे) और अपभ्रंश 'अम्हइँ' से 'हम' की उत्पत्ति मानी जाती है। 'अ' का लोप और म-ह में विपर्यय होकर हम रूप बनता है, किन्तु यह निरा खींचा-तानी मालूम पड़ती है। मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण विद्यापति की भाषा में एकारान्त रूप 'हमे' का भी प्रयोग पाया जाता है। इस समय भी मुँगेर, भागलपुर और दुमका जिले के रहनेवाले मैथिल 'हमे' का ही व्यवहार करते हैं।

अर्वाचीन मैथिली के एकवचन में 'हम' और बहुवचन में 'हमरा लोकनि' या 'हमरा सभ' (या सब) होता है, किन्तु विद्यापति की भाषा में कर्ता कारक में 'हम' और 'हमे' के अतिरिक्त 'मए' और 'मञे' का भी व्यवहार होता है। इसके साथ प्रकाशित (तालपत्र के) पदों में ये ही चार मिलते हैं; किन्तु बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त की पदावली में मोए, मोये आदि शब्द भी

(१) हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० १५३, हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २६५

(२) रागतरङ्गिणी के पदों में 'मोञे' भी पाया जाता है।

पाये जाते हैं; क्योंकि प्राचीन बँगला के ये शब्द वैष्णव पदावलियों में पाये जाते हैं। संभव है कि विद्वान संपादक पर उनका प्रभाव पड़ा हो या मैथिली से अपरिचित लेखक ने लिखने में भूल की हो।

भाषाविज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि संस्कृत मया (तृ० एक वचन), प्राकृत मए, मइ, और अपभ्रंश मइँ (सिद्ध हेमचन्द्र के अपभ्रंश-प्रकरण में उदारण के पद्यों में मइँ शब्द सोलह बार आया है) से हिन्दी और पंजाबी 'मैं' तथा सिंधी और उड़िया 'मूं' की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार विकारी रूप 'मो' के बाद करण कारक की विभक्ति 'ए' लगाकर मोए, मोएँ, मोञे आदि बँगला शब्दों की उत्पत्ति मानी जाती है, किन्तु प्राचीन मैथिली मए तथा मञे शब्दों पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला है। विद्यापति के पदों में अनेक तद्भव शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं। इसलिये संभव है कि प्राचीन मैथिली ने प्राकृत 'मए' शब्द को अपनाया हो और उसी का सानुनासिक रूप 'मञे' हो। विद्यापति के पदों में गेञान (ज्ञान), भञे (भये), नराञेन (नारायण) आदि शब्द साक्षी दे रहे हैं कि प्राचीन मैथिली में सानुनासिक उच्चारण की प्रचुरता थी। इसलिये 'मए' का 'मञे' के रूप में परिवर्तित होना असंभव नहीं है। वर्णरत्नाकर में मञो (मञो तोहि लए जाञो, पृ० २७) और मञि (मञि नगरक सोष सोहर देखि जाञो पृ० २८) शब्द भी पाये

(१) मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ णे टा–(सिद्धि हेमचन्द्र ८।३।१०९) इस शब्द का व्यवहार पाँच बार किया गया है। डौच मइ, मए (प्राकृत-प्रकाश; परिच्छेद ६, सूत्र ४६)।

जाते हैं। संभव है कि शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावान्वित होने के कारण ओकारान्त और मागधी अपभ्रंश से प्रभावान्वित होने के कारण इकारान्त रूप भी होते थे। मागधी अपभ्रंश में पुत्तं शब्द के कर्ता एकवचन में 'पुत्ति' होता है।

इन ही शब्दों से घिस-घिसा कर या संस्कृत मम, अपभ्रंश मव से विकारी रूप (Obligue form) 'मो' बना है। विद्यापति ने पदों में इस विकारी रूप का भी व्यवहार किया है; जैसे— होयत मो बड़ पाप। इस 'मो' के बाद अधिकरण कारक की विभक्ति 'हि' (या ही) लगाकर कर्म तथा सम्प्रदान कारकों का रूप मोहि या मोही बनता है। इसी प्रकार सम्बन्ध कारक की विभक्ति र तथा रा लगाकर मोर तथा मोरा शब्द बनते हैं। सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'र' और 'रा' तथा संप्रदान कारक की विभक्ति 'लागि' हम शब्द के बाद भी आती है। अर्वाचीन मैथिली में भी हमर तथा हमरा शब्दों का व्यवहार होता है, किन्तु 'हमलागि' शब्द का प्रयोग केवल प्राचीन मैथिली में (पिआ कें कहब हमलागी) होता है। छन्द के अनुरोध से कहीं-कहीं 'हमर' का 'अ' 'आ' के रूप में परिणत हो जाता है; जैसे—पिअ परदेस हमारा। हेमचन्द्र ने 'मदीय' (मेरा) के स्थान में 'महारा' और 'अम्हारा' आदेश (८।४।३४) बतलाये हैं। यह असंभव नहीं है कि इन ही प्राकृत रूपों से हमारा, हमर, हमरा आदि शब्दों की उत्पत्ति हुई हो।

(१) Beam's Comparative grammar Part II Article 63.

इनकी उत्पत्ति

संस्कृत 'त्वम्' से प्राकृत तुं, तुमं, अर्धमागधी और मागधी प्राकृत 'तुमे' और पाश्चात्य अपभ्रंश 'तुहुं' (युष्मदः सौ तुहुं हैमव्याकरण ८।४।३६८) की उत्पत्ति हुई है। इन ही शब्दों से विशेषकर 'तुं' से पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी और प्राचीन मैथिली का 'तूं' शब्द बना है। प्राचीन बँगला तथा उड़िया में 'तु' का व्यवहार होता है। संभव है कि त्वम् (तु + अम्) में 'अम्' को विभक्ति समझकर 'तु' का व्यवहार शुरू हुआ हो। प्राकृत के सम्बन्ध कारक के एकवचन में 'तु' का भी प्रयोग होता है (हेमचन्द्र ८।३।९९)। इसीका सानुनासिक रूप मराठी गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी और सिंधी में पाया जाता है।

संस्कृत 'त्वया' से प्राकृत में तए, तइ, ते (टाङ्योस्तइ-तए-तुमए-तुमे, प्राकृत-प्रकाश, परिच्छेद ६, सूत्र ३०, सिद्ध हेमचन्द्र ८।३।९४) आदि अनेक रूप होते हैं। अपभ्रंश में ये शब्द सानुनासिक बन गये हैं (टाङ्यमा पइँ तइँ ८।४।३७०)। वे ही सानुनासिक शब्द विद्यापति की भाषा में तञे और तें रूपों में पाये जाते हैं। कई पदों में तद्भव 'तए' शब्द भी पाया जाता है; जैसे—सुन तए युवति।

संस्कृत 'तव' से विकारी रूप 'तो' बनता है। उस 'तो'[2] के बाद अधिकरण की विभक्ति 'हि' (ही), सम्वन्ध की विभक्ति

---

१ यह डा० चटर्जी का अनुमान है। मुझे अभी तक किसी साहित्य में यह शब्द नहीं मिला है।

२ इसके बाद करण कारक की विभक्ति 'ञे' लगाकर 'तोञे' का व्यवहार कीर्तिलता में पाया जाता है।

र या रा लगाकर तोहि (ही), तोर, तोरा शब्द बनते हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में इस विकारी रूप 'तो' का बीस वार (दो वार प्राकृत में और अठारह वार अपभ्रंश के उदाहरणों में) व्यवहार किया है। अपभ्रंश में 'तों' का भी व्यवहार होता है। अर्वाचीन मैथिली के एकवचन में भी 'तों' का प्रयोग होता है। अपभ्रंश के संवंध कारक के वहुवचन में तुम्हाणं, तुम्हहं (भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं हैम व्याकरण ८।४।३७३) रूप होते हैं। मागधी अपभ्रंश में तोहँ, तोन—शब्दों का प्रयोग होता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-युग में ही 'ह' और 'न' विभक्तियाँ व्यवहृत होती थीं। मैथिली में केवल 'ह' लगाकर 'तोंह सभ' तथा भोजपुरी और मगही में 'ह' और 'न'—दोनों विभक्तियाँ लगाकर 'तोंहनी' (तों + ह + न + ई) शब्द वनता है। जिस प्रकार भोजपुरिया और मगही में 'तों' के वाद ह और न—दोनों विभक्तियाँ आती हैं, उसी प्रकार 'तों' के वाद 'ह' विभक्ति जोड़कर वने हुए 'तोंह'[१] के वाद संवंध की र या रा विभक्ति लगाकर तोहर, तोहार, तोहरा तोहराँ (सानुनासिक रूप) आदि शब्द वनते हैं। इस 'तों' के वाद कर्म कारक की विभक्ति 'कें' लगाकर 'तों कें' शब्द वनता है। 'तों' के वाद वहुवचन की विभक्ति 'ह' लगाकर मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त रूप 'तोहँ' होता है। संभव है कि उच्चारण की सुविधा के लिये 'तों' का अनुस्वार 'ह' के वाद आ गया हो।

---

१ केवल तोहँ का भी व्यवहार होता है; जैसे—तन्हि तोहँ उचीत वहुत जे भेद।

प्राकृत का 'तुअ' और संस्कृत का 'तव' भी विद्यापति के पदों में मिलते हैं। मझु की तरह तुझ और तुज्झ का भी व्यवहार होता है। पश्चिमी अपभ्रंश 'दुहु' से तुहुँ और तुहुं बनते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
बँगला	तुइ, तुमि	तोरा, तोमरा
आसामी	ताइ	तुमि, तोमालोके
उड़िया	तु, तुम्भे	तुम्भे माने
मगही	तूँ, तों	तोंहनी, तोहरनी
भोजपुरी	तूं, तों	तोंहनी, तोहरन
मैथिली (अर्वाचीन)	तों	तोंहसभ, तोहरासभ
मैथिली (प्राचीन)	मए, मञे	हम, हमें[1]

(ग) अन्यपुरुष

(Third Person)

से (वह)

संस्कृत 'सः', मागधी तथा अर्धमागधी प्राकृत 'से' शब्द से मैथिली का 'से' (वह) बना है। विद्यापति के पदों में सर्वत्र 'से' ही पाया जाता है। वर्णनरत्नाकर में भी यही पाया जाता है। पहले बंगाल के प्रचलित पदों में 'जो', 'सो' आदि शब्द व्यवहृत होते थे, किन्तु विद्यापति के हस्त-लिखित 'श्रीमद्भागवत' के साथ तालपत्र पर लिखी हुई विद्यापति-पदावली की खण्डित प्रति मिली थी, जिसके आधार पर यह निर्णीत हो चुका है कि शुद्ध शब्द जे और से हैं, न कि जो और सो। इस पुस्तक के

---

१ इस समय भी भागलपुर और दुमका जिलों में 'हमें' का व्यवहार होता है।

साथ प्रकाशित तालपत्र के पदों में भी सब जगह जे और से शब्द ही पाये जाते हैं। मागधी अपभ्रंश 'सि' का व्यवहार (शि रूप में) केवल आसामी में होता है, मागधी प्राकृत से उत्पन्न अन्य भाषाओं में 'से' ही पाया जाता है। संस्कृत, पाली तथा प्राकृत में स्त्रीलिङ्ग का रूप 'सा' पाया जाता है, किन्तु मागधी प्राकृत से उत्पन्न भाषाओं के तीनों लिङ्गों में 'से' ही व्यवहृत होता है।

प्रो० चटर्जी संस्कृत सकः, सके, सगे, सए, सै से 'से' की उत्पत्ति मानते हैं। संस्कृत तृती० एक० तेन के 'ते'[1] से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त 'से' व्यवहृत होता है। प्रायः यही कारण है कि इसी अर्थ में वर्णनरत्नाकर में 'तें'[2] शब्द का प्रयोग होता है। 'वे' अर्थ में 'ते' का व्यवहार हिन्दी में भी होता है। संभव है कि संस्कृत 'तव' की तरह संस्कृत 'ते' का भी व्यवहार देश-भाषाओं में हुआ हो या प्राकृत 'तेहिं' से इसकी उत्पत्ति हुई हो। इसी का सानुनासिक रूप 'तें' (इसलिये) का व्यवहार अर्वाचीन मैथिली में भी होता है।

कीर्तिलता में 'सो' शब्द भी मिलता है; जैसे—जो बुज्झिअ सो करिह पसंसा। हो सकता है कि यह लेखक की भूल हो या पश्चिमी शौरसेनी का प्रभाव हो।

---

१ चर्याचर्य विनिश्चय में भी इसका व्यवहार पाया जाता है; जैसे—ते अजरामर किम्पिन होन्ति (चर्या २२)।

२ वर्णनरत्नाकर में करण कारक में वार-वार तें शब्द का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—तें संयुक्त (पृ० ४), तें भरल (पृ० १); तें समन्वित (पृ० ३); तें अलङ्कृत (पृ० १४)।

वैदिक 'तात्' से महाराष्ट्री 'ता' बनता है। यह 'ता' प्राचीन गला तथा प्राचीन मैथिली में पाया जाता है। इसी विकारी प 'तं' के बाद अपादान की विभक्ति सञ्ो, संबंध की विभक्तियाँ + एरि और कर तथा अधिकरण की विभक्ति 'हि' लगाकर सञ्ो, [3]ताहेरि, [4]ताकर, ताँहि शब्द बनते हैं। सं० तेषाम्, दिक तानाम्, तेसम्, तानम्, ताण, तान बनते हुए तान् और ँ शब्द बने हैं। इसके बाद 'न्हि' जोड़कर विकारी रूप 'तन्हि' न जाता है। केवल 'तन्हि' का व्यवहार कर्त्ता कारक में होता ; जैसे—तन्हि पठओलाहुँ तोहर ठाम। 'तन्हि' के बाद संबंध की भक्तियाँ क, का, कर, जोड़कर तन्हिक, तन्हिका (तनिका), न्हिकंर शब्द बनते हैं। विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर इनके न्त में इ या ई लगती है; जैसे—तन्हि करि धसमसि विरहक ास, तन्हिकि ताहिं पिआरि आदि। 'तहिं' भी 'तन्हि' का पान्तर मात्र है। मगही और भोजपुरी में 'तिन्ह' शब्द ाया जाता है।

वर्णनरत्नाकर में विकारी रूप 'तं' और उसके बाद 'क' ा' और 'काँ' विभक्तियाँ लगाकर बने हुए शब्द तंक (तंक ारग, पृ० ३), तँका (तँका ऊपर, पृ० १४), तंकाँ (तँका

---

१ वर्णनरत्नाकर में 'ताक' और 'ताकाँ' शब्द भी पाये जाते हैं; से—ताक कुशल (पृ० ३), ताकाँ कइसन देषु (पृ० ७)। जे न बुझाए बरु से भलहे जे बुझ तासञे मन्द। ३ तहुँ ; ताहेरि सउभागे। ४ ताकर पुन अपार। ५ ताहि तिरिवध लाइ कि लेबो तोही। ६ तन्हिकाहुँ कुल भेलि···। ७ कीर्तिलता में 'तान्हि करो ।' पृ० १२, तन्हिकरेओ अहंकार पृ० १४ में मिलता है।

मध्य पृ० ८) पाये जाते हैं। केवल 'तं' भी पाया जाता है; जैसे—तं कुशल (पृ० ३)

सं० तत्र प्रा० 'तत्थ' से तथि (वहाँ) बनता है; जैसे—तथि नहि कओन परकार। सं० तस्य, प्रा० तस्स, अप० तस्सु और तसु से तस और तसु बनते हैं। कीर्तिलता में तसु, तासु और तिसु शब्द मिलते हैं। विद्यापति ने कर्ता कारक में भी 'तसु' का व्यवहार किया है; जैसे—तुअ दरसने बिनु अनुखन खिन तसु।

से (वह)

कर्त्ता—से, ते, तन्हि

कर्म, संप्रदान—ताहि, ताकें।

संबंध—ताहेरि, ताकर, तन्हिक (तनिक), तान्हिका (तनिका), तन्हिकर।

अपादान—तासओो।

(घ) निश्चयवाचक सर्वनाम

इ, एहु, एहि, एहे आदि समीपार्थक

ये समीपार्थक चार सर्वनाम विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं। इन सर्वनामों की उत्पत्ति के विषय में प्रो० चटर्जी का मत है कि संस्कृत में निश्चयवाचक (समीपार्थक) दो सर्वनाम हैं—(१) एत (पुं० एषः, स्त्री० एषा; क्ली० एतद्) और इदम् (पुं० अयम्, स्त्री० इयम्, क्ली० एतद्)। एत (प्रा० एसो) शब्द दो भागों में विभक्त है—ए (अवेस्टा और भारत-

ईरानी भाषा ऐ) और तो (प्रा० सो)। इसी प्रकार 'इदम्' शब्द में चार भाग हैं:—(१) अ (अस्मै, अस्य, अस्यै आदि रूपों में यह पाया जाता है), (२) अन् (अनेन, अनयोः), (३) इ (इयम्, इदम्) और (४) इम (इमम्, इमाम्, इमान्, इमाः)। संभव है कि प्राचीन समय की बोलचाल की भाषा में ये स्वतन्त्र शब्द हों। इस तरह मैथिली 'ए' की उत्पत्ति संस्कृत एत (द्) शब्द से हुई है। संभव है कि 'इ' (स्वतन्त्र शब्द की तरह जिसका व्यवहार प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली में होता है और जिसके संबंध कारक में इनका या हिनका शब्द का प्रयोग होता है) का गुण कर 'ए' बना है।

हेमचन्द्र ने 'एतद्' शब्द के अपभ्रंश रूप एह (स्त्री०), एहो (पुं०) और एहु[1] (क्ली०) (एतदः स्त्री-पुं०-क्लीवे एह-एहो-एहु ८।४।३६२) बतलाये हैं। संभव है कि मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण विद्यापति की भाषा में एकारान्त रूप 'एहे' पाया जाता है। प्राचीन बँगला तथा बौद्ध-दोहा में 'एहु' शब्द का प्रयोग बार-बार पाया जाता है। इस प्रकार सं० एषः[2], पाली तथा प्राकृत एसे, मागधी प्राकृत एशे, अपभ्रंश एहो, मागधी अपभ्रंश 'एह' से प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा प्रभावान्वित होने के कारण एहु, एहि, एहे शब्दों की उत्पत्ति हुई है। इसी विकारी रूप 'ए' के बाद संबंध की विभक्ति लगाकर एकर और एकरा

---

१ जे एहु जुगति, से एहु ज अति (चर्या २२)। दोहा कोष में 'एहु' का प्रयोग पाँच बार पाया जाता है।

२ प्राचीन फारसी में इसी अर्थ में 'ऐत' शब्द पाया जाता है।

शब्द बनते हैं। अर्वाचीन मैथिली में भी इन शब्दों का व्यवहार होता है। बँगला की तरह इन शब्दों (इ, ई, एहु, एहि, एहे, एकर, एकरा) का प्रयोग सब लिङ्गों में होता है।

सं० अत्र, पाली तथा प्रा० एत्थ, अपभ्रंश एत्थु (सिद्धहेम व्याकरण ८।४।४०४) से 'इथि' 'इथी' और 'एथी' (यहाँ) की उत्पत्ति हुई है।

(ङ) निश्चयवाचक सर्वनाम

ओ, ओअ, ओहे, ओहु आदि दूरार्थक

सर्वनाम 'ओ' शब्द संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के साहित्य में नहीं पाया जाता है; किन्तु अव्यय 'ओ' का व्यवहार संस्कृत (Sanskrit English Dictionary by V. S. Apte Page 124), पाली (Andersen's Pali Reader Page 61) तथा प्राकृत (हेम व्याकरण ८।१।१७२, ८।२।२०३) में प्रचुरता के साथ पाया जाता है। अपभ्रंश के उदाहरणों में हेमचन्द्र ने ओइ और ओ शब्दों का व्यवहार किया है। जैसे—

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ (८।४।३६४)

अर्थात् यदि बड़े घरों के विषय में पूछते हो तो वे बड़े घर हैं। हेमचन्द्र ने 'अदस्' के स्थान में 'ओइ' आदेश किया है।

ओ गोरी-मुहनिज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियङ्कु (८।४।४०१)

अर्थात् गोरी स्त्री के मुँह से पराजित होकर चन्द्रमा वादल में छिपता है।

प्रो० चटर्जी की राय में इस पद्यांश का 'ओ' सर्वनाम है, किन्तु प्रो० पी. एल्. वैद्य एम्. ए. डी. लिट् (Paris) ने इस 'ओ' शब्द को अव्यय ही माना है।

प्राकृत पिङ्गल में 'ओ' शब्द का तीन बार प्रयोग पाया जाता है। जैसे—

(१) ओ बक्कल अरु कठिणतणु।

(२) ओ पसु ओ पासाण।

(३) ससी ओ जणीओ।

इन तीनों ही पद्यांशों में 'ओ' सर्वनाम की तरह व्यवहृत हुआ है।

विद्यापति ने कीर्तिलता में भी इसका प्रयोग किया है। जैसे—

ओ परमेसर हर सिर सोहइ इ णिच्चइ णाअर जन मोहइ।

व्रजभाषा, अवधी, पंजाबी, लहँदा, सिंधी, राजस्थानी भाषाओं में भी इसका व्यवहार होता है।

ईरानी, अवेस्टा और पुरानी फारसी के 'अव' से उत्पन्न 'ओ' तथा 'ऊ' शब्द नई फारसी में पाए जाते हैं. संभव है कि ऋग्वेद के समय में भी बोलचाल की भाषा में मूल रूप अव का व्यवहार होता हो। साहित्यिक भाषा में षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचन में 'अवोः' शब्द मिलता है।

इसलिये संभव है कि अवेस्टा के 'अव' शब्द के सदृश किसी वैदिक शब्द से 'ओ' की उत्पत्ति हुई हो या संस्कृत के अमू, अमी आदि शब्द अवू, ओ आदि रूपों में परिणत होता हुआ 'ओ' बन गया हो। यह भी संभव है कि विदेशी भाषाओं के भारतवर्ष में प्रचार होने के बाद प्रचुरता के साथ इसका व्यवहार हुआ हो। वास्तव में इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। 'एहु' की तरह 'ओहु' शब्द भी विद्यापति की भाषा में मिलता है। जैसे—ओहु राहुभीत एहु नि सङ्क; ओहु कलङ्की इ न कलङ्क।

(च) संबंधवाचक सर्वनाम

जे, जेहे, जन्हिका, जासु, जाहि, जाकर

सं० यः (एक०) पाली यो, प्रा० जो, मागधी 'ये' से 'जे' की उत्पत्ति हुई है। अनेक भाषा-विज्ञानवेत्ता सं० ये, पाली ये प्रा० 'जे' से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। इस मत में बहुवचन-बोधक संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के शब्दों से एकवचन 'जे' की भी उत्पत्ति माननी पड़ती है। मागधी से उत्पन्न सब भाषाओं में इसका प्रयोग होता है। प्राचीन वंगभाषा में 'जे' के रूप में यह पाया जाता है,किन्तु अर्वाचीन बँगला में 'ये' व्यवहृत होता है। तालपत्र के पदों में सब जगह 'जे' ही शब्द मिलता है। वर्णनरत्नाकर में 'ये' ही प्रचुरता से से पाया जाता है। आजकल संस्कृत के विशेषज्ञ अनेक मैथिली विद्वान् 'ये' ही लिखते हैं; क्योंकि उनका विचार है कि संस्कृत 'यत्' इसकी उत्पत्ति हुई है तथा सं० 'यत्' में 'य' है; इसलिये मैथिली में भी 'ये' होना चाहिये। इसका उच्चारण 'ज्' ही होता है—चाहे 'ये' लिखा जाय या 'जे'[1]। विद्यापति की भाषा में सब वचनों में 'जे' ही व्यवहृत होता है, किन्तु अर्वाचीन मैथिली में बहुवचन बोध करने के लिये सभ या लोकनि लगाया जाता है। 'सेहे' की तरह जोर देने के लिये 'जेहे' (जोही) का भी व्यवहार होता है।

संबंध कारक में जसु, जाकर, जन्हिका—आदि रूप पाये

---

१ 'भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक में इसका विशेष विचार किया जायगा।

जाते हैं। सं० यस्य, पाली यस्स, प्रा० जस्स या 'जासु' की उत्पत्ति हुई है। विकारी रूप 'जा' के बाद 'हि' 'कर' आदि विभक्तियाँ लगाकर 'जाहि' 'जकरा' आदि शब्द बनते हैं। 'जा' की तरह 'ज' भी विकारी रूप है, जिसके बाद 'कर' विभक्ति लगाकर अर्वाचीन मैथिली का 'जकर' शब्द बनता है। 'वचन' में बताया जा चुका है कि प्राचीन मैथिली के बहुवचन की विभक्ति 'न्हि' है। कीर्तिलता में भी 'जन्हि' शब्द पाया जाता है। इसी 'जन्हि' के बाद संबंध कारक की विभक्तियाँ लगाकर जन्हिक, जन्हिका, जन्हिकर आदि शब्द बनते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश—दोनों ही भाषाओं में करण कारक के एकवचन का रूप 'जेण' है। विद्यापति की कीर्तिलता में वही 'जेन' के रूप में पाया जाता है। मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण इसीका सानुनासिक एकारान्त रूप 'जेन्हे' भी अवहट्ठ में बार-बार पाया जाता है। जेन्ने भी इसी का रूपान्तर मात्र है। विद्यापति की कीर्तिलता में 'जे' के स्थान में 'जो' पाया जाता है।

	एकवचन			बहुवचन
मैथिली	जे,	जाहि,	ज (विकारी रूप)	जे सभ
मगही	जे,	जेह	(,,)	जिन्हकनि
भोजपुरी	,,	,,	(,,)	जिन्हका
उड़िया	जे,	जाहा		जेमाने
बंगाली	जे	,,		जिनि, जेहँ, जिहँ

(छ) प्रश्नवाचक सर्वनाम

के, कि, की, किदहुँ, कओन (ने), काओ, कालागि, काँलागि

मागधी से उत्पन्न सब भाषाओं में तथा अवधी में 'के' पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत, पाली तथा प्राकृत 'के' से हुई है। संस्कृत, पाली, प्राकृत किं (किं उण—किं पुनः Introduction to Prakrit Page 11) से 'कि' (क्या) की उत्पत्ति हुई है। यही कारण है कि पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में 'के' का व्यवहार होता है और केवल नपुंसक लिङ्ग में 'कि' व्यवहृत होता है। कहीं छन्द के अनुरोध से और कहीं जोर देने के लिये 'कि' 'की' के रूप में भी परिणत हो जाता है। अपभ्रंश में 'किम्' के स्थान में 'कवण' पाया जाता है (किमः काइ-कवणौ वा ८।४।३६७ हैम व्याकरण)। इसी के रूपान्तर कमण, कवन तथा कवोण शब्द कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका में, और कमन, कवोन तथा (मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त रूप) कवोने शब्द पदावली में पाये जाते हैं। हार्नली साहब कवणु (कौन) की उत्पत्ति केवडु, अपभ्रंश रूप से बताते हैं (Gaudian Grammar Page 29), किन्तु यह युक्ति संगत नहीं है; क्योंकि 'केवडु' की उत्पत्ति सं० कति (कितने) से हुई है। (वेदं किमोर्यादेः ८।४।४०८ हैम व्याकरण)। पिशेल साहब की राय है कि जिस प्रकार संस्कृत में 'कु' के स्थान में 'कव' आदेश कर कवोष्ण (थोड़ा गरम) शब्द बनता है उसी प्रकार 'कवण' के 'क' की भी उत्पत्ति हुई है, किन्तु आपने यह नहीं बतलाया कि 'णु' कहाँ से आया। डा० सुनीति कुमार चटर्जी बतलाते हैं कि इसकी उत्पत्ति 'किम्' का मूल रूप 'क' तथा पुनः, उन, वुन, वन से हुई है। किसी भी भाषा में 'पुनः' का अर्थ नहीं पाया जाता है—यह इसमें भी

खटकता है। अर्वाचीन मैथिली में 'कोन' के रूप में यह पाया जाता है। विद्यापति की कीर्तिलता में शौरसेनी अपभ्रंश का रूप 'को' भी पाया जाता है (कवन वंस को राय सो कित्तिसिंह को होइ, कीर्तिलता पृ० ८)। जथी, तथी, एथि आदि के सादृश्य पर 'कथी' भी होता है। अपभ्रंश में भी 'केत्थु' होता है। संज्ञा की तरह विभक्ति लगाकर भी इसका व्यवहार होता है; जैसे—जे फलें नहि निरबाह ए पारि अ से बोलिअ कथिलागी। अर्वाचीन मैथिली में 'कथी लए' बोलते हैं। विकारी रूप 'का' से कान्चे (करण कारक), काँ लागि (काँ लागि आनल चान्दक कला) शब्द बनते हैं। 'काँ' 'का' का ही सानुनासिक रूप है। यह बार-बार बताया जा चुका है कि मैथिली में सानुनासिक उच्चारण की प्रचुरता है। इसी 'का' से बना हुआ 'काहु' शब्द भी (काहु कहहु न जाए) पाया जाता है। विकारी रूप 'का' के बाद करण कारक की विभक्ति 'न्चे' लगा कर 'कन्चे' शब्द बनता है—इसका अर्थ है 'क्यों' (कन्चे निवेदसि कुमति सआनी)। कीर्तिलता में इसी अर्थ में 'कान्चि' शब्द (तिहुअन खेतहि कान्चि तसु कित्तिवल्लि पसरेइ) पाया जाता है। यह भी 'कान्चे' का रूपान्तर है। इसी प्रकार मागधी रूप 'कि' के बाद करण कारक की विभक्ति 'ए' जोड़कर किए (क्यों) बनता है; जैसे—किए किए हाट विकाए।

(ज) अनिश्चयवाचक सर्वनाम

संस्कृत कोऽपि, मागधी केपि, केव होता हुआ 'केओ' (कोई) या के अ बना है। बँगला में के हो, केह, के ओ; उड़िया में केइ; मगही में केऊ; भोजपुरिया में केहू, केऊ—शब्द

पाये जाते हैं। पूर्वी हिन्दी में भी केऊ, केहु शब्द मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी में 'कोई' (कोपि—'कोवि' से बना हुआ) शब्द मिलता है। अवधी में कोऊ तथा कोई शब्द भी मिलते हैं "रघुवंसिन महँ जहँ कोऊ होई, तेहि समाज अस कहहिं न कोई"—रामचरितमानस)। विद्यापति की कीर्तिलता में ह्रस्व इकारान्त कोइ शब्द पाया जाता है (खले सज्जन परिभाविअ, कोइ नहि होइ विचारक—पल्लव २, श्लोक ६)। मिथिला में प्रचलित विद्यापति के पदों में 'कउ' भी मिलता है।

सं० किञ्चित्, पाली किंछि, किछि (अशोक के पूर्वी शिलालेखों में पाया जाता है) से 'किछु' बना है। हार्नली साहब की राय में किंचि + हु से किछु बना है। इसका जोरदार शब्द 'किच्छु' है। यही हिन्दी में 'कछु' तथा 'कुछ' के रूप में पाया जाता है।

सर्वनाम

(क) निजवाचक सर्वनाम

अपन, अपना (अवहट्ट अप्प, अप्पु)

सं० आत्मन, पाली अत्ता, शौ० मागधी अत्ता (गिरनार शिलालेख में 'अत्पा' पाया जाता है) से अवहट्ट अप्प तथा अप्पु बनते हैं। इसीसे सम्बन्ध कारक में अपन तथा अपना शब्द बनते हैं। अपभ्रंश में आत्मीय के स्थान में अप्पण होता है (आत्मीयस्य अप्पणः हैमव्याकरण ८।४। ४२२)। संभव है कि इसीका परिवर्तित रूप (१) 'अपन' है।

१ दक्षिण पूर्वी गिरनार शिलालेख में 'किंचि' पाया जाता है।

२ यह शब्द कीर्तिलता में पाया जाता है।

अर्वाचीन मैथिली में कर्ता कारक में अपने (आप) और उसके बाद अपने सञो, अपनेक आदि रूप बनते हैं। करण कारक के प्रा० रूप अप्पण, अपभ्रंश अप्पणें (आत्मना, हैम व्याकरण ८।४।४१६) से इसकी उत्पत्ति हुई है। यह सम्मान। सूचक शब्द विद्यापति के पदों में नहीं पाया जाता है। इसके स्थान में तें, तञे आदि शब्दों का व्यवहार होता है। अर्वाचीन 'अहाँ' की उत्पत्ति सं० आयुष्मान्, पाली आयस्मा, अपभ्रंश आअम्ह, आम्ह से हुई है। डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने पत्रों में यह 'एहाँ' के रूप में पाया जाता है। संभव है कि इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश एहा (यह) से हुई है। मैथिली में सानुनासिक रूप बनना एक साधारण बात है। आजकल भी जिनके प्रति सम्मान दिखाना अभीष्ट रहता है, उनके साथ बातचीत करते समय स्त्रियाँ अन्यपुरुष का व्यवहार करती हैं। इसलिये यह असंभव नहीं है कि अन्यपुरुष सर्वनाम से 'अहाँ' की उत्पत्ति हुई हो।

(ञ) अन्यान्य सर्वनाम

सबे, सब, सव्ब

संस्कृत सर्व, पाली तथा प्राकृत सव्ब से 'सब' की उत्पत्ति हुई। विद्यापति ने पदों में 'सब' और मागधी से प्रभावान्वित 'सबे' का व्यवहार किया है। कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका में 'सव्ब' और 'सब'—दोनों ही शब्द पाये जाते हैं। 'सब' का व्यवहार सबही देशी भाषाओं में होता है।

आन, आण, अओक, अओका

संस्कृत 'अन्य' पाली तथा प्राकृत 'अण्ण' 'अन्न' से 'आन'

की उत्पत्ति हुई है। अवहट्ठ में यह 'आण' के रूप में भी पाया जाता है। भाषाविज्ञान का एक साधारण नियम है कि देशी भाषाओं में प्राकृत के दो समान व्यञ्जनों में एक का लोप होता है और पूर्व स्थिति स्वर का दीर्घ होता है; जैसे—अद्य-अज्जु-आज, कार्य-कज्ज-काज, कर्ण-कन्न-कान आदि। इसी नियमानुसार अन्न से आन बना है। पदावली में सम्बन्ध कारक में 'अओक' और 'अओका' शब्द भी पाये जाते हैं। वर्णनरत्नाकर में भी अओकें (पृ० ४५) शब्द पाया जाता है।

अन्य सर्वनाम

सकल (तत्सम), उभअ (उभय), निअँ (निज), इअर (इतर) आदि शब्द भी पाये जाते हैं।

(ट) सर्वनाम से बने हुए विशेषण और क्रियाविशेषण

कइसन, जइसन, तइसन

संस्कृत ईदृश, कीदृश, यादृश, तादृश आदि शब्दों के दृश के स्थान में दिस हुआ और क्रमशः 'द' का लोप हो गया। अनन्तर 'न' प्रत्यय लगाकर अइसन, कइसन, जइसन, तइसन आदि शब्दों की उत्पत्ति हुई। तालपत्र की पुस्तक में यही वर्णविन्यास पाया जाता है। अन्तिम लेखक के पदों में ऐसन, जैसन, तैसन, कैसन आदि रूप भी पाये जाते हैं। इन्हीं रूपों के 'स्' को 'ह' के रूप में परिणत कर अर्वाचीन मैथिली के एहन, तेहन, जेहन आदि शब्द बनते हैं।

तत, एत, जत, कत, जतवा, ततवा, एतवा

तत, एत, जत, कत शब्दों का व्यवहार प्राचीन बँगला तथा मैथिली में तेते, एते, जेते, केते के रूप में उड़िया में, तेतेक,

जेतेक आदि रूपों में आसामी में ततेक, (१) जतेक, (२) कतेक, एतेक आदि रूप अर्वाचीन मैथिली में होता है। संस्कृत इयत्, कियत्, यावत्, तावत्, वैदिक इयत्त, यावत्त, तावत्त पाली एत्तक, कित्तक, यत्तक प्राकृत और अपभ्रंश एत्तिअ, केत्तिअ, आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। विद्यापति ने 'काति' अर्थ में कत शब्द का व्यवहार किया है (कत न वासर पलटि अविह कति न होइह राती)। संभव है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'कति' से हुआ हो। विद्यापति ने कतवा, जतवा, ततवा शब्दों का भी व्यवहार किया है, जैसे—से ततवाहिं गेलि। 'ताहिखने' जोरदार शब्द (Emphatic form) है। 'ततेओ' भी जोरदार शब्द है।

अब, तब, जब, कब

प्राचीन बँगला और मैथिली में इनके एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं। उडिया में तेबे, जेबे आदि रूप पाये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि वैदिक एव (इस तरह) (३) से एव्व, एब्ब होता हुआ अब बनता है। इसी सादृश्य के आधार पर विकारी रूप त, ज, क के बाद एब प्रत्यय लगाकर तेब, केब, जेब आदि बनते हैं। उन्हीं का रूपान्तर जब, कब, तब आदि हैं। मागधी अपभ्रंश

---

१ 'तते' के रूप में विद्यापति ने भी इसका व्यवहार किया है; जैसे—काज न सिभल तते बहल।

२ 'जखन जते विभव रहए' विद्यापति।

३ आपकी राय में एवम् भी इसी का रूपान्तर है।

तत्व, जत्व आदि की भी उत्पत्ति इसी तरह हुई है। जब ही 'एत्व' का रूपान्तर 'एत्त' हुआ तबही उसने अपना पुराना अर्थ छोड़ दिया। उसके अधिकरण का रूप एत्वहि ही इसका प्रबल प्रमाण है। हेमचन्द्र ने (८।४।४२०) इदानीम् के स्थान में एम्वहि आदेश किया है। संभव है 'अबे' की उत्पत्ति इसी से हुई हो, किन्तु भाषा-विज्ञान के विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं।

तखन, जखन, कखन, एखन

तत्क्षण, यत्क्षण, किंक्षण, एतत्क्षण आदि शब्दों से बने हुए तक्खन, जक्खन आदि शब्द प्राकृतपिङ्गल में पाये जाते हैं। संयुक्त व्यञ्जन के 'क' का लोप कर तखन, जखन, कखन, एखन आदि शब्द बने हैं। मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं; जैसे—तखने गरज घन-घोर, जखने जते विभव रहए तखने तेहिँ गमाव।

तथि, जथी, एथी, कथी

तथि, जथी, की तरह एथी और कथी भी होता है। विद्या-पति ने 'उथ' का भी व्यवहार किया है।

ततय, जतय, कतय,

संस्कृत तत्र, यत्र, कुत्र, पाली तत्थ, यत्थ, कत्थ पाश्चात्य अपभ्रंश तेत्तहे, एत्तहे आदि से आसामी तत, जत, कत आदि की और मैथिली ततए (तते), जतए (जते) कतए (कते), एतए (एते) आदि की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य पर ओतए शब्द का भी व्यवहार होता है।

जेम

पाश्चात्य अपभ्रंश जेम्व से प्राचीन बँगला जिम, मैथिली जेम, पूर्वी हिन्दी जिमि की उत्पत्ति हुई है।

चौथा अध्याय

धातुरूप

शब्दरूप की अपेक्षा प्राकृत धातुरूप में अधिक परिवर्तन हुए हैं। संस्कृत में भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि आदि दस गण थे और हरएक गण के लिये शप्, श्यन्, श आदि विभिन्न चिह्न थे। भाषा को सरल और सुबोध बनाने के उद्देश्य से लोगों के मन में समीकरण का भाव उदित हुआ था और परिणाम-स्वरूप सब धातु अकारान्त बना दिये गये और भ्वादि-गणीय धातुओं की तरह सब धातुओं के रूप होने लगे; क्योंकि भ्वादिगणीय धातुओं का रूप सबसे सरल होता है और भ्वादि गणीय धातुओं की संख्या भी सबसे अधिक है। जैसे—सं० क्रीणा (खरीदना) से प्रा० किण (मै० किन), सं० जाना (जानना) से प्रा० जाण (मै० जान), सं० शृणो (सुनना) से प्रा० सुण (मै० सुन), सं० नृत्य से प्रा० नच्च (मै० नाच), सं० बुध्य से प्रा० बुज्झ (मै० बुझ) आदि। पर ना, नु, श्यप्, आदि विभक्तियाँ लगाकर संस्कृत धातुओं के रूप बतलाये गये हैं। धातुओं के मूल-रूप हैं; क्री—ज्ञा, श्रु, नृत् और बुध्। इन मूल-रूपों से यहाँ परिवर्त्तन नहीं हुए हैं। परिवर्तन हुए हैं क्रीणा, जाना, नृत्य, बुध्य आदि सविभक्तिक

शब्दों से; क्योंकि प्राकृत-युग में दो तरह के परिवर्तन हुए—(१) निर्विभक्तिक धातुओं का परिवर्तन—जैसे नश् से नस (२) सविभक्तिक धातुओं का परिवर्तन; जैसे—बुध्य, नृत्य आदि से बुज्झ, नाच आदि। इस तरह संस्कृत को य, नु, ना—आदि विभक्तियाँ प्राकृतों तथा उनसे उत्पन्न सब ही भाषाओं के अनेक धातुओं में सुरक्षित हैं; क्योंकि भारतवर्ष की हरएक भाषा में (जिसकी उत्पत्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश के द्वारा संस्कृत से हुई है) इस तरह के शब्दों की भरमार है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि पाली-युग में ही द्विवचन को विदाई मिल गई थी। इस तरह उसी युग से केवल एकवचन और बहुवचन—ये दो ही वचन शब्दरूप की तरह धातुरूप में भी पाये जाते हैं। संस्कृत में तीन तरह के धातु होते हैं—(१) परस्मैपदी, (२) आत्मनेपदी और (३) उभयपदी। पाली-युग में ही आत्मनेपदी की शिथिलता नज़र आती है। बहुतेरे आत्मनेपदी धातुओं का भी प्रयोग परस्मैपद में होता है तथा कर्मवाच्य और भाव-वाच्य में परस्मैपदी विभक्तियों का प्रयोग ही पाली-साहित्य में प्रचुरता से पाया जाता है। प्राकृतयुग में समीकरण के उद्देश्य से अनेक नई विभक्तियों की[1] उत्पत्ति हुई और सब धातुओं के बाद (चाहे वे आत्मनेपदी हों या परस्मैपदी) समान विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। अपभ्रंशयुग में भी यही क्रम जारी रहा। इनके अतिरिक्त भूतकाल-बोधक लिट्, लङ्, तथा लुङ् का लोप हो गया और कृदन्त प्रत्यय लगाकर भूतकाल

---

१ हैम व्याकरण आठवाँ अध्याय, तृतीय पाद, सूत्र १४०—१४९,

का बोध होने लगा। भविष्यत् काल के (१) अनद्यतन और (२) सामान्य—ये दो मिलकर अपभ्रंश युग में ही एक बन गये। लिङ् और लोट्—दोनों मिलकर एक हो गये।

(क) धातुओं के भेद

सिद्धान्त-कौमुदी के धातुपाठ में १९६६ धातु हैं। संस्कृत में प्रचलित सब ही धातु इसमें सम्मिलित हैं; किन्तु साहित्यों में ८०० से कुछ ही अधिक धातु पाये जाते हैं। उनमें भी २०० धातु ऐसे हैं जिनका व्यवहार केवल वेदों तथा ब्राह्मणों में पाया जाता है और ५०० धातु ऐसे हैं जिनका व्यवहार वैदिक तथा संस्कृत—दोनों साहित्यों में पाया जाता है। जिन धातुओं का व्यवहार केवल नये संस्कृत-साहित्यों में पाया जाता है उनकी संख्या १५० से भी कम है। ह्निटनी साहब ने गिनकर यह जाना है और "The Roots, Verb-forms and primary Derivations of the Sanskrit Language" नामक पुस्तक में यह बतलाया है। उन ८०० धातुओं में अनेक धातु, जिनका व्यवहार वैदिक तथा संस्कृत दोनों साहित्यों में पाया जाता है, मौलिक हैं।

अनेक मौलिक धातु प्राकृत युग में आकर प्राकृत के ढाँचे में ढल गये। इस तरह वे मौलिक धातुओं के रूपान्तर हैं। वैदिक-साहित्य में २०० धातु ऐसे हैं जिनका व्यवहार संस्कृत-साहित्य में नहीं होता है। उन भावों को प्रकट करने के लिये संस्कृत-साहित्य में नये धातुओं की रचना हुई। अनार्य भाषाओं के संसर्ग से भी नये धातुओं की सृष्टि में सहायता

मिली। सब ही वैयाकरण इसमें सहमत थे कि प्राकृतों की उत्पत्ति संस्कृत से हुई। इस मत के समर्थन के लिये संस्कृत धातुकोष में नये धातु भी मिला लिये गये; क्योंकि वे धातु प्राकृत साहित्य में पाये जाते हैं और हरएक प्राकृत धातु की उत्पत्ति संस्कृत धातु से हुई है। इस प्रकार संस्कृत धातुकोष में स्था, भू, गम्; दृश्—आदि मौलिक धातुओं के अतिरिक्त गुडि वेष्टने, रक्षण इत्येके, डिप क्षेपे, भडि परिभाषणे, खडि मन्थे, जमु अदने जिमि केचित् पठन्ति, वुक्क भाषणे आदि नये धातु भी मिला लिये गये। इनमें अनेक धातुओं की उत्पत्ति मौलिक धातुओं से बने हुए धातुओं से हुई है और अनेक धातुओं की उत्पत्ति अज्ञात है। इस तरह प्राकृत के द्वारा संस्कृत से उत्पन्न देशभाषाओं में दो तरह के धातु पाये जाते हैं—(१) मौलिक या मूल धातु और (२) यौगिक धातु।

(१) मूल धातु

जिन धातुओं की उत्पत्ति संस्कृत धातुओं से हुई है वे मूल-धातु हैं। मूल धातुओं में भी तीन तरह के धातु पाये जाते हैं—(१) तत्सम, (२) अर्धतत्सम और (३) तद्भव।

(२) तत्सम धातु

संस्कृत भाषा के पुनरुत्थान के बाद उसकी सर्वतोमुखी उन्नति हो चुकी थी और फल-स्वरूप भारतवर्ष के कोने-कोने में इसका प्रचार हो चुका था। उस उन्नत भाषा (संस्कृत)

1 Origin and development of Bengali language Pages 870–872.

का देश-भाषाओं पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। मिथिला में संस्कृत-विद्वानों की भरमार थी। सुना जाता है कि विद्यापति के समय में ही केवल मीमांसा-दर्शन के विशेषज्ञों की संख्या अठारह सौ थी। इस प्रकार और भाषाओं की अपेक्षा मैथिली पर संस्कृत का विशेष प्रभाव पड़ा और संस्कृत के धातु, संज्ञा, सर्वनाम आदि ज्यों-के-त्यों ले लिये गये। इस समय तक अनपढ़ मैथिलों की भी भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता पाई जाती है। उस समय संस्कृत का इतना जोरदार प्रभाव पड़ा कि विद्यापति तथा उस समय के अन्य कवि केवल संस्कृत शब्दों के व्यवहार से ही संतुष्ट नहीं हुए, किन्तु संस्कृत विभक्तियों को भी अपनाने में उन्हें गौरव मालूम पड़ा। पिता, माता, मम, तव, कर्मणा, मनसा, वाचा आदि संस्कृत विभक्त्यन्त शब्दों का व्यवहार तो हरएक देश-भाषा में हो ही गया था, किन्तु विद्यापति ने जा, कर, धर, बोल आदि मैथिली क्रियाओं के बाद ति, सि आदि विभक्तियाँ जोड़कर जाति, जासि, करसि, धरसि, बोलसि, पचारसि आदि क्रियाओं का भी प्रयोग किया जिसका अनुकरण और-और देश-भाषाओं में भी हुआ। कीर्तिलता में हर जगह इस तरह के प्रयोग पाये जाते हैं।

(१) विशुद्ध पदावली के तत्सम धातु

विद्यापति की विशुद्ध पदावली (जो इसके साथ पाठकों की सेवा में उपस्थित की गई है) में निम्नलिखित तत्सम धातु हैं।

उपसर्ग रहित धातु—(१) इछ्-इच्छ् (इष्) (२) खण्ड्-खण्ड् (खडि) (३) खेल-खेल् (४) गल-गल (चुरादि) (५) गोप-गोप (गुप् + णिच्) (६) घट-घट् (७) चल-चल् (८) चेत-चेत (चित्) (९) छुट-छुट (छेदने) (१०) जप-जप् (११) जिव्-जीव् (१२) तर-तर (तृ) (१३) दुह-दुह (१४) धर-धर (धृ) (१५) धाव-धाव् (१६) निन्द्-निन्द् (१७) पीव्-पीव् (पा) (१८) पूज-पूज् (१९) पुर-पुर् (२०) वह-वह् (२१) भर-भर (भृ) (२२) भास-भास् (२३) भाव-भाव (भावयति) (२४) मिल-मिल् (२५) ला-ला (२६) वम्-वम् (२७) वस्-वस् (२८) वार (वारि)-वारि (वारयति) (२९) रम-रम् (३०) सह-सह् (३१) सूच-सूच् (पैशून्ये) (३२) हर-हर (हृ) (३३) हस-हस् ।

उपसर्ग-सहित धातु

(१) अनुरञ्जन—अनु + रञ्ज् (२) अवगाह—अव + गाह् (३) निवेद—नि + विद् + णिच् (निवेदयति) (४) परिहर—परि + हर (हृ) (५) विघट—वि + घट् (६) विलस—वि + लस् (७) विरच—वि + रच् (८) संसर—सम् + सर (सृ) ।

(२) अर्ध तत्सम धातु

'अर्धतत्सम धातु' के अन्तर्गत वे संस्कृत धातु हैं जिनका रूपात्मक विकास प्राकृत-भाषियों द्वारा होते-होते भिन्न रूप हो गया है (भाषा-विज्ञान पृ०२९०) ।

उपसर्ग रहित धातु

(१) कर-कृ (२) कह-कथ् (३) काङ्क्ष-कांक्ष् (काङ्क्षि) (४) कान्द-क्रन्द् (५) काप या काम्प—कम्प् (६) गह-ग्रह् (७) गरज-गर्ज् (८) गरस-ग्रस् (९) गा-गै (गाना) (१०) गान्त-ग्रन्थ् (११) गु (गू)न-गण् (१२) गो-गोप् (१३) जा-या (१४) जान-जाना (ज्ञा) (१५) जाग-जागृ (१६) जीउ-जीव (१७) जोह-जुष् (१८) तेज्-त्यज् (१९) दा, दे, दि—दा (२०) दूल-दुल् (२१) धा-धाव् (२२) नस्-नश् (२३) पल-पत् (२४) परस-स्पृश् (२५) फुल-फुल्ल् (२६) बान्ध्-बन्ध् (२७) भन-भण् (२८) भम-भ्रम् (२९) मान-मन् (३०) पढ़-पठ् (३१) माख-म्रक्ष् (३२) फुञ्ज-खुज (स्तेयकरणे) (३३) रह-रक्ष् या रह् (३४) राख-रक्ष् (३५) री-ली वा री (३६) लह-लभ् (३७) लज-लज्ज् (३८) लूल-लू (३९) लख-लक्ष् (४०) वरिस-वर्ष (वृष्) (४१) सोह या सोभ-शोभ्—(शुभ्) (४२) हेर-हेड् (४३) मर-मृ ।

उपसर्ग-सहित धातु

(१) आव—आ + गम् (२) आन—आ + नी (३) उठ—उत् + स्था (४) उतर—उत् + तृ (५) उपज—उप[1] + जन् (६) उसर—उत् + सृ (७) निहार—नि + भाल् (भल् + णिच) (८) निभाव—निर् + वप् (९) पखाल—प्र + क्षाल् (१०) पसर—प्र + सृ (११) पहिर—परि + धा (१२) पसाह—प्र + साध् (सिध् + णिच्) (१३) पाव—प्र + आप् (१४) पराए—

१ प्रो० चटर्जी इसकी उत्पत्ति 'उत्पद्यते' से बताते हैं ।

परा + अप् (१५) पिधि—'परिधेहि' का संक्षिप्त रूप है (१६) पेख—प्र + ईक्ष् (१७) विसर—वि + स्मर (स्मृ) (१८) विहल— वि + ह्र (ह्र) (१९) विगस—वि + कस् (२०) सोम्प—सम् + अर्प् (ऋ + णिच्)

(३) तद्भव धातु

जो धातु सीधे प्राकृत से आये हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं उनको तद्भव धातु कहते हैं। विशुद्ध पदावली के तद्भव धातु प्राकृत तथा संस्कृत रूपों के साथ नीचे दिये जाते हैं।

उपसर्ग रहित धातु

(१) अछ्—अच्छ (प्रा०) आस् (सं), (२) काढ़—कड्ढ (प्रा०) कृप् (सं०) (३) खा—खा (प्रा०) खाद् (सं०) (४) घुर—घुल (प्रा०) घुर्ण् (सं०) (५) छाड—छड्ड (प्रा०) क्षर (सं०) (६) जर—जल (प्रा०) ज्वल् (सं०) (७) झर—झड (प्रा०) शद् (सं०) (८) झाँप—झम्प (प्रा०) (९) झाँप—झंख (प्रा०) (१०) थाक—थक्क (प्रा०) स्था (सं०) (११)

---

१ वररुचि ने 'अस्' के स्थान में 'अच्छ्' आदेश किया है। अस्तेरच्छः ।१२।१६

२ शदो झड-पक्खोडौ ।८।४।११० हैम व्याकरण, किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'शद्' का 'झड' होना असंभव-सा मालूम पड़ता है। संस्कृत के साहित्यिक निर्झर और झर शब्दों से ज्ञात होता है कि संस्कृत में भी 'झर' धातु था।

३ हैम व्याकरण में इसकी उत्पत्ति सं० सम् + तप् से बतलाई गई है।

देख—देक्ख (प्रा०) दृश् (सं०) (१२) नाँच—नच्च (प्रा०) नृत् (सं०) (१३) लुका—लुक्क (प्रा०) लुक्काय (सं०)। शब्दकल्पद्रुम में बताया हैं कि लुक् (लुञ्च् से बना हुआ) कायः यस्य सः लुक्कायः। उससे नामधातु बनकर लुक्कायते बनता है। (१३) पूछ—पुच्छ (प्रा०) पृच्छ् (सं०) (१४) फार—प्रा० फार या फाड (चीरना) (१५) बुझ—बुज्झ (प्रा०) बुध्य (सं० बुध्) (१६) बोल—बोल (प्रा०) ब्रू (सं०) (१७) भुल—भुल्ल (प्रा०) भ्रंश् (सं०) (१८) मेट (इसका प्रयोग प्राकृत पिङ्गल में भी पाया जाता है)—मेट्ट, मेल्ल (प्रा०) (१९) ममोड—मोड्ड (प्रा० पिङ्गल में यह रूप पाया जाता है) मोट्ट (प्रा०) मुड (सं०) (२०) रो—रोत (प्रा०) रुद् (सं०) (२१) रुझ—रुज्झ् (प्रा०) रुध् (सं०) (२२) सिझ—(प्रा०) सिध्य (सं० सिध्) (२३) हो—हो या हु (प्रा०) भू (सं०) (२४) चूक—प्रा० चुक्क, सं० च्युत् + कृ।

उपसर्ग सहित धातु—

(१) पजार—प्रा० प्र + जाल् (जल् + णिच्) सं० प्र + ज्वाल् (२) पलट—पलोट्ट (प्रा०) प्रति + आ + गम् (सं०) (३) विक—विक्क (प्रा०) वि + क्री (सं०) (४) समार—समार (प्रा०) सम् + आ + रच् (सं०)। (५) ओछाए—अवच्छादयति—ओच्छादइ—ओच्छाइ—ओछाए। (६) अछोल—प्रा० अवछोल्ल् (सं०) अवतक्ष (संभवतः) (७) परस—प्र + विश्।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनकी उत्पत्ति किस

भापा से हुई है—यह अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१ फेदाएल—प्रसन्न हुआ (अर्वाचीन मैथिली में 'फौदा-एल' का शाखा-पल्लव से समृद्ध अर्थ में प्रयोग होता है, किन्तु इसकी उत्पत्ति किस शब्द से हुई है—यह मालूम नहीं)।

२ चाँपिलेल—दबा दिया। डा० चटर्जी बताते हैं कि इसकी उत्पत्ति अज्ञात है। प्रो० रामशङ्कर शुक्ल ने 'भापाशब्द-कोश' में 'चाप = धनुप' से इसकी उत्पत्ति बताई है।

३ चाह—इच्छा करना। 'Origin and Development of Bengali language' नामक पुस्तक में प्रश्न के चिह्न के साथ चक्षु (?) दिया है।

४ बेसाह—खरीदना। यह देशी शब्द मालूम पड़ता है।

५ थाह—पानी की गहराई का अंदाज लगाना। हेमचन्द्र-रचित देशनाममाला के देशी शब्दों में एक यह भी है (वर्ग ५ गाथा ३०)।

६ उभकल—?

(४) गौण या यौगिक धातु

यौगिक धातुओं की उत्पत्ति संस्कृत धातुओं के मूलरूप से नहीं होती है; किन्तु धातु, संज्ञा, विशेपण आदि के बाद प्रत्यय लगाकर, दो क्रियाओं के संयोग से या अनुकरण शब्दों से ये बनते हैं। इसीलिये ये गौण कहलाते हैं। ये हैं—(१) प्रेरणार्थक (२) नामधातु (३) संयुक्तधातु (४) अनुकरण-धातु।

(१) प्रेरणार्थक धातु। हरएक धातु से तथा नामधातु से

प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। संस्कृत में प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिये 'णिच्' प्रत्यय का व्यवहार होता है और वही 'णिच्' प्रत्यय चुरादिगणीय धातुओं के बाद स्वार्थ में होता है; जैसे पारयति, रचयति, चोरयति—आदि शब्दों में प्रेरणा का अर्थ नहीं है। जिन धातुओं की उत्पत्ति चुरादिगणीय धातुओं से हुई है या जिनके बाद उसी भ्रमात्मक अनुरूपता (False analogy) के आधार पर स्वार्थ में प्रेरणार्थक प्रत्यय लगाया गया है, वे मौलिक धातु हैं; क्योंकि वहाँ उस प्रत्यय से किसी यौगिक अर्थ का बोध नहीं होता है; जैसे पारे। यहाँ पसारे = फैलाता है (प्रसारयति) की तरह प्रेरणा अर्थ का बोध नहीं होता है। इस तरह 'पारे' (पारयति) मौलिक धातु का एक उदाहरण है और 'पसारे' यौगिक धातु का।

(२) **नामधातु**। हरएक संज्ञा तथा कृदन्त प्रत्यय लगाकर बना हुआ विशेषण धातु के रूप में परिणत हो सकता है—यह संस्कृत व्याकरण का ही नियम है। भाषा-वैज्ञानिकों की राय है कि प्राकृत तथा देश-भाषाओं से प्रभावान्वित होने के कारण ही संस्कृत व्याकरण में नामधातु की सृष्टि हुई। नामधातु के विशेष उल्लेखनीय उदाहरण भूतकालिक कृदन्तों से बने हुए धातु हैं। यह विस्तृत रूप से बताया जायगा कि किस प्रकार भूतकालिक कृदन्त प्रत्ययों ने ही भूतकालिक प्रत्ययों का स्थान ले लिया। समीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। इसलिये भूतकालिक कृदन्त से बने हुए शब्दों को नामधातु बनाकर वर्तमान काल के बोधक प्रत्ययों को भी बिदाई मिलने की तैयारी होने लगी। सं० उपविष्ट प्रा० उपविट्ठ से हिन्दी बैठना (मैथिली

में विश् से वइस होता है) इसका एक उदाहरण है। विद्यापति के पदों में प्रयुक्त कुछ शब्द उदाहरण के रूप में नीचे उद्धृत किये जाते हैं—(१) उगे—प्रा० उग्ग, सं० उद्गत (२) छिने—सं० छिन्न (३) तिते या तीन्तलि—तिन्त (तिम् आर्द्रीभावे) (४) सुत (सि)—प्रा० सुत्त; सं० सुप्त (५) सु (सू) ख (सूखना)—प्रा० सुक्ख, सं० शुष्क (६) जनितसि—जनित = (ज्ञात)।

इनके अतिरिक्त उपहासए, पुलकलि, हठेंवि आदि तत्सम शब्दों से बने हुए जनमए, समन्दए, मुलइहइ आदि तद्भव शब्दों से बने हुए अनेक नामधातु विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं।

(३) **संयुक्तधातु**। जागि जाएत, गेल सुखाए, कहहि जाए, ठगि गेल—आदि संयुक्त धातुओं की उत्पत्ति किसी एक मूलधातु से नहीं हुई है; किन्तु दो धातु मिलाकर हुई है। चूकव (च्युत् + कृ) भी इसीका उदाहरण है।

(४) **अनुकरणधातु**। विद्यापति के पदों में इनकी संख्या नहीं के बराबर है। धसि, झाँखि—जैसे कुछ इने-गिने शब्द ही पाये जाते हैं।

अर्थ (Mood)

(ख) सकर्मक तथा अकर्मक

धातु सकर्मक या अकर्मक होते हैं। प्रेरणार्थक बनाकर अकर्मक धातु भी सकर्मक हो जाते हैं; जैसे सिखाएब, पजरब से पजारब, मिलब से मिलाएब आदि। प्रो० चटर्जी ने दिसब

(१) हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० २७६।

से दीसब का होना बतलाया है। जहाँ तक मुझे मालूम है, बिहार की किसी भाषा में इस शब्द का व्यवहार नहीं होता है।

सकर्मक क्रियाओं के निर्जीव कर्म में कर्म कारक की विभक्ति 'कें' का प्रयोग नहीं होता है। घरकें जाह—घर जाओ—अशुद्ध वाक्य है, इसकी जगह 'घर जाह' होना चाहिये। सजीव कर्मों के बाद 'कें' का व्यवहार होता है; जैसे—राम कें पढ़ाउ, काका कें नोत दए अवहुन्ह आदि।

(ग) अर्थ (Mood)

विद्यापति के पदों में निश्चयार्थक तथा आज्ञार्थक—दो ही तरह की क्रियाएँ पाई जाती हैं। आज्ञार्थक क्रियाओं का भी प्रयोग केवल अन्य पुरुष तथा उत्तम पुरुष में पाया जाता है; जैसे—(१) पसरओ बोथी पेमपसार (२) खान्त निसाकर गरस-ओ राहु (३) सिव सिव सिव जाओ दुर जिब (अन्य पुरुष) (४) परिहर सखिकेर सङ्ग (५) साजनि थिर मन कए थाक (६) चल चल माधव, बुझल सरुप सब (मध्यम पुरुष)। इन पदों में उत्तम पुरुष की आज्ञार्थक क्रिया अभी तक मुझे नहीं मिली है। संदेहार्थक क्रिया का एक ही बार प्रयोग पाया जाता है; जैसे—मञे मरितहुँ ताहि तिरिविध लाइ। क्रिया के

---

(1) The Subjunctive mood, which was of great importance in Verb, was dropped in classical Sanskrit, although it lingered on in early MIA (Miller Pali

अन्यान्य अर्थ इन पदों में नहीं पाये जाते हैं। 'जदि' शब्द के साथ भी क्रिया का कोई विशेष रूप नहीं दिखाई देता ; जदि तोहें चञ्चल सुनह सकन भए। अर्वाचीन मैथिली में तथि, तहुँ, तह लगाकर संदेहार्थक क्रियाएँ बनती हैं ; जैसे—यदि से पढ़ितथि (सम्मान सूचक), यदि से पढ़ैत, यदि हम पढ़ितहुँ, यदि तों पढ़ितह आदि।

आज्ञार्थक क्रियाएँ और विद्यापति के पद

मध्यम पुरुष में साधारणतः धातु के मूल-रूप में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है ; जैसे—बदन सरिस न कर ससी, राख मोरि विनती, चल चल सुन्दरि न कर बेआज आदि। (१) इ, (२) हि और (३) उ लगाकर भी मध्यम पुरुष की आज्ञार्थक क्रियाएँ बनती हैं; जैसे—साजनि अवेकत देह असवास, मधुर वचन भरमहुँ जनु बाजेह, भल जन भए वाचा चूकह, चितें न झाँपहि आन, सुन्दरि तुरित चलहिं अभिसार, चलहिं सुन्दरि तेजि बेआज, काजर अञ्जने न करु भीमा, हरि रहु

---

grammar P. 108). Bengali in Common with other NIA (except Assamese) possesses a Present Participle form, which is used for the past Subjunctive or Conditional as well as Past Habitual e-g. (यदि) करिताम (करिते, करिते), Oriya मु करन्ति, तु करन्तु, से करन्ता etc ; So Maithili हम करितहु से करितइ, Western Hindi में करता, हम करते etc. (Origin and development of the Bengali language Page 902)

(१) लेह, देह, तोरह, उठावह आदि पृ० २ (वर्णरत्नाकर)

मन लाए, पुनु लोचन पथ सीम न आउ आदि। अर्वाचीन मैथिली में साधारणतः 'ह' का प्रयोग होता है, किन्तु संमान सूचित करने के लिये उ या ऊ का व्यवहार होता है; जैसे तों पाठशाला जाह वा काज करह, (अहाँ) पाठशाला जाउ वा काज करू।

अन्यपुरुष की प्रधान विभक्ति 'ओ' है; जैसे, सिव सिव जाओ दुर जिव। इनके अतिरिक्त 'कहदहुँ कओन होइति ई गारि', 'नारी भए जनु जनमए कोइ' आदि पदों में 'हुँ' तथा वर्तमान काल की विभक्ति 'ए' का भी प्रयोग पाया जाता है। प्राचीन बँगला की (लेहु-देहु आदि पदों में) 'हु' विभक्ति के अतिरिक्त प्राचीन तथा मध्यकालीन बँगला में ह (अह) विभक्ति भी पाई जाती है। कर्तृवाच्य में इन विभक्तियों का प्रयोग होता है। कर्मवाच्य में तो उस वाच्य की विभक्ति 'इअ' ही हर जगह पाई जाती है।

इन विभक्तियों की उत्पत्ति

संस्कृत में 'अ' या 'उ' के बाद परस्मैपदी धातुओं के लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन की विभक्ति 'हि' का लोप होता है और परिणाम-स्वरूप अकारान्त रूप ही बच जाता है; जैसे—गच्छ, वद, कुरु, शृणु आदि। इसी सादृश्य के आधार पर कर, चल, बुझ आदि आज्ञार्थक क्रियाओं का प्रयोग विद्यापति के पदों में पाया जाता है। अर्वाचीन मैथिली में नीच (मनुष्य या पशु-पक्षी) के कर्ता रहने पर ही अकारान्त रूप का व्यवहार होता है; जैसे—बइस, पढ़, कर आदि।

संस्कृत में लोट् (परस्मैपद) मध्यमपुरुष एकवचन की विभक्ति 'हि' है। 'याहि' (जाओ), 'पाहि' (रक्षा करो) का प्रयोग देश-भाषा के पद्यों में भी पाया जाता है। विद्यापति के पदों में तथा प्राचीन बँगला में इस 'हि' का प्रयोग पाया जाता है।

संस्कृत में आत्मनेपद मध्यमपुरुष, एकवचन की विभक्ति 'स्व' है। वह पाली में स्सु और प्राकृत में सु के रूप में बदल जाता है (Introduction to prakrit page 45)। यह 'सु' 'हु' भी बन जाता है ; जैसे—चलसु, चलहु। देखहु बनरनकेरि ढिठाई—आदि चौपाई के अंशों में गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसका व्यवहार किया है। पिशेल साहब की राय है कि अन्य-पुरुष की विभक्तियाँ तु, अन्तु उकारान्त हैं। इसी सादृश्य के आधार पर 'स्व' भी उकारान्त 'सु' के रूप में परिणत हो जाता है। वूलनर साहब की राय है कि पाली 'स्सु' की उत्पत्ति संस्कृत 'स्व' से हुई है और पाली-युग में भी इसका व्यवहार परस्मैपदी धातुओं के बाद भी होता था (E. Müller pali grammar, page 107) और इसी भ्रमात्मक अनु-रूपता के आधार पर इसका प्रयोग कर्तृवाच्य में भी होता है। प्राकृत पिङ्गल में सु और हु—दोनों का प्रयोग पाया जाता है। उच्चारण के सौलभ्य के कारण 'ह' उड़ाकर केवल 'उ' विभक्ति का भी प्रयोग होता है ; जैसे—चलु, करु, रहु आदि। संस्कृत के मध्यम पुरुष बहुवचन, थ के स्थान में शौरसेनी अपभ्रंश में

(१) उ, सु, मु विध्यादिष्वेकास्मिन् ७।१८। प्राकृतप्रकाश।

'हु' होता है (बहुत्वे हुः ८।४।३८४ हैम व्याकरण) ; जैसे— इच्छहु। इस तरह उत्पन्न 'हु' का व्यवहार परस्मैपदियों के बाद भी हो सकता है। इससे भी उकारान्त रूप की उत्पत्ति हो सकती है। 'हु' और 'उ' का प्रयोग दोनों वचनों में होता है ; क्योंकि 'स्व' से उत्पन्न 'हु' एकवचन है और 'थ' से उत्पन्न 'हु' बहुवचन।

संस्कृत में लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन की विभक्ति 'त' है। उसके स्थान में पाली में 'थ' (पाली-प्रकाश, पृ० १९१) विभक्ति है। वही 'थ' 'द' के रूप में बदलता हुआ प्राकृत में 'ह' हो जाता है (बहुषु न्तु-ह मो ८।३।१७६ हैम व्याकरण) प्राकृत-पिङ्गल में भी 'करह' शब्द का प्रयोग (चउ मत्त करह = चतस्रः मात्राः क्रियन्ताम्, पृ० २१७) पाया जाता है। बोल-चाल की भाषा में उच्चारण-सौलभ्य के लिये 'अह' के स्थान में केवल 'अ' का उच्चारण होता है ; जैसे—जाह (= जाओ) के स्थान में जाअ। प्रो० चटर्जी की राय है कि इसीसे 'ओ' विभक्ति की भी उत्पत्ति हुई है। बंगला तथा हिन्दी के मध्यम-पुरुष में करो, जाओ, चलो आदि शब्दों का प्रयोग होता है। उन भाषाओं की 'ओ' विभक्ति की उत्पत्ति प्राकृत के मध्यम-पुरुष की विभक्ति से हुई हो—यह सर्वथा युक्तिसंगत है, किन्तु उससे मैथिली के अन्यपुरुष की विभक्ति का उत्पन्न होना युक्तियुक्त नहीं मालूम पड़ता है। संभव है कि संस्कृत की 'तु' विभक्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'उ' के रूप में परिणत होकर मैथिली में 'ओ' के रूप में परिवर्तित हुआ हो। 'कृ' धातु के लोट्, अन्यपुरुष के एकवचन में 'करोतु' रूप होता है।

मैथिली के मध्यमपुरुष एकवचन में कर, चल, परिहर आदि निर्विभक्तिक पदों का व्यवहार बहुत प्राचीन समय से होता आया है। संभव है कि इसी सादृश्य के आधार पर करो या करओ शब्द का प्रयोग होने लगा हो और करओ शब्द के मिथ्या सादृश्य के आधार पर और-और धातुओं के बाद भी 'ओ' लगाकर अन्यपुरुष का बोध होने लगा हो। अन्यपुरुष बहुवचन में पाली तथा प्राकृत का 'न्तु' 'न्थु' के रूप में बदलता हुआ 'थु' बन जाता है; जैसे—जाथु, करथु आदि। विद्यापति के पदों में इस विभक्ति का प्रयोग नहीं पाया जाता है। अर्वाचीन मैथिली में भी सम्मान सूचित करने के लिये ही इसका प्रयोग होता है। मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं; जैसे—चान्दक उदऍं कुमुद जनि होए, देहे परिहरि परजुवतो आदि। "वदन कामिनि रे वेकत जनु करिहह" के 'करिहह' में भविष्यत् काल की विभक्ति 'इह' के बाद आज्ञार्थक विभक्ति 'ह' है। इस प्रकार इसके अर्थ में आज्ञा और भविष्यत्—दोनों का संमिश्रण है। विद्यापति ने वर्तमान काल में भी 'ह' प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग किया है; जैसे—गाय चरावह गोकुल वास, करह रंग पररमनी साथँ, सब रस तहि खने चाहह ताहि। प्रो० चटर्जी ने बतलाया है कि बँगला की आज्ञार्थक क्रियाओं का व्यवहार (१) मध्यमपुरुष (२) अन्यपुरुष तथा (३) वर्तमान काल में होता है।

१ तालपत्र के पदों में यह विभक्ति नहीं है, किन्तु 'कहुन ओ आवथु पूजन नहाए' आदि मिथिला में प्रचलित पदांशों में 'थु' विभक्ति पाई जाती है।

विद्यापति के पदों में भी इन ही तीन स्थानों में प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अर्वाचीन मैथिली में हकारान्त रूप का प्रयोग वर्तमान काल में नहीं होता।

आज्ञार्थक क्रियाएँ

	बँगला	आसामी	उड़िया	अर्वाचीन
अन्यपुरुष	करुक, करुन	करौंक	करु, करन्तु	करओ, करथु
मध्यमपुरुष	कर, करो	कर, करा	करु, कर	कर, करह
उत्तमपुरुष	'वर्तमान की तरह'	करोँ	करँ, करूँ	करू

(घ) कर्मवाच्य

संस्कृत के कर्मवाच्य में धातुओं के बाद 'य' लगाकर आत्मनेपद की विभक्ति लगाई जाती है। पाली में कर्मवाच्य बनाने के लिये तीन नियम हैं; (१) धातुओं के बाद 'य' प्रत्यय आता है (२) कर्तृवाच्य की तरह परिवर्तन होते हैं (३) कर्म-वाच्य में आत्मनेपद तथा परस्मैपद—दोनों पदों का प्रयोग होता है; जैसे—बुध् से बुध्यते, बुज्झते और बुज्झति (पाली-प्रकाश पृ. २३४) प्राकृत तथा अपभ्रंश में इज्ज और ईअ—दो प्रत्यय पाये जाते हैं (ईअ-इज्जों क्यस्य ।८।३।१६०। हैम व्याकरण, (Introduction to Prakrit Page 47)। पंजाबी, राजस्थानी, सिंधी आदि भाषाओं में, तथा पश्चिमी अपभ्रंश में केवल 'इज' पाया जाता है। 'बौद्धगान ओ दोहा' तथा 'चर्याचर्यविनिश्चय' में 'इज' और 'इअ' दोनों पाये जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि मागधी अपभ्रंश में इज और इअ दोनों प्रत्ययों का व्यव-हार होता था। 'इअ' मागधी का शुद्ध रूप था और 'इज' पश्चिमी

भाषाओं का ऋण था। ब्रजभाषा तथा अवधी के कई पद्यों में 'इअ' का प्रयोग पाया जाता है। संभव है कि वह मागधी का प्रभाव हो।

विद्यापति के पदों में केवल 'इअ' पाया जाता है; जैसे (१) तइसन देखियत देहे (२) जमुन तट भए दिअ पसार (३) हठें जे जखन करम करिअ भल नहि परिपाक (४) जे नहि फले निरवाहए पारिअ से बोलिअ कथि लागी (५) से न करिअ जे पर उपहासए धाए मरिअ वरु आगी (६) कान्दिअ वदन झँपाए (७) अइसन बुझिअ विसेखा आदि। इअ-प्रत्ययान्त शब्दों के अतिरिक्त कहहि जाए और कहहि जाइ—शब्द मिलते हैं; जैसे, से सबे परकें कहहि न जाए, अभिभव कहहि न जाइ। पालीयुग से ही यह देखा जाता है कि कर्तृवाच्य की विभक्तियों का व्यवहार कर्मवाच्य में भी होता है; जैसे—पाली में 'पच्' धातु से 'पच्यते' के अतिरिक्त पच्चते और पच्चति—दो रूप होते हैं। हेमचन्द्र ने भी दृश् और वच् के कर्मवाच्य के रूप दीसइ और वुच्चइ बतलाये हैं (हैम व्याकरण।८।३।१६१)। ये रूप कर्तृवाच्य के रूप की तरह दिखाई पड़ते हैं। इस तरह प्राचीन मैथिली के कर्मवाच्य में कर्तृवाच्य के रूपों का प्रयोग होना असंभव नहीं है।

कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका में किज्जिअ तथा दिजिअ—दो शब्द पाए जाते हैं।

(ङ) काल

डा० ग्रियर्सन ने ऐतिहासिक दृष्टि से काल को तीन भागों

में विभक्त किया है—(१) मौलिक काल या मूल-काल (Radical tense) (२) कृदन्त प्रत्ययों से बना हुआ काल (Participial tense) और (३) संयुक्त काल (Periphrastic tense)। बंगाल एसियाटिक सोसाइटी जर्नल १८९६ में सर जौर्ज ग्रियर्सन ने 'The Radical and participial tenses in the modern Indo-Aryan Vernaculars" (पृ० ३५२-३७५) शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया था। इसलिये इस तरह कालविभाग के जन्मदाता आप ही हैं।

(१) मौलिक या मूल काल

संस्कृत-प्राकृत काल से जिनकी उत्पत्ति हुई है अर्थात् जो संस्कृत विभक्तियों के स्मृतिचिह्न हैं उनको मौलिक काल कहते हैं। मैथिली के वर्तमान काल की (विभक्तियों की) उत्पत्ति संस्कृत काल से हुई है।

उत्तम पुरुष

अन्यान्य पुरुषों की अपेक्षा वर्तमानकाल के उत्तमपुरुष के रूपों की संख्या कम है। अपन वेदन जाहि निवेदओ तइसन मेदिनि थोल, सुन्दरि तोकेँ बोलओ जतन करह जनु, मनसिज तन्त कहओ मन लाए आदि पदांशों में निवेदओ, बोलओ, कहओ आदि शब्द पाये जाते हैं। एक जगह कोहोऊँ (भल न कएल तोहें सुमुखि सरुप कोहोऊँ) भी पाया जाता है। मध्य-कालीन बँगला में चलोँ, जानोँ, बलोँ आदि मैथिली के समान रूपों के अतिरिक्त चलि, चली, चलहुँ, उड़िया में देखेँ, देखि, देखूँ (बहु०), मगही में देखी, देखूँ, भोजपुरिया में देखों (एक०) देखो; देख्यूं (बहु०) आदि रूपों का प्रयोग होता है।

मध्यम पुरुष

यह पहले उदाहरण के साथ बताया जा चुका है कि विद्यापति के पदों में संस्कृत विभक्ति 'सि' का भी व्यवहार होता होता है। 'ह' का वर्तमानकाल में भी प्रयोग होता है—यह भी पहले बताया जा चुका है। बँगला में इनके अतिरिक्त 'इसि' 'अ' और 'ओ' विभक्तियों का भी प्रयोग होता है।

अन्य पुरुष

अन्य पुरुष में इ, ए, और थि (संमान-सूचक) विभक्तियों का प्रयोग होता है; जैसे—भनइ विद्यापति ई रस जान, राए सिवसिंह लखिमा देवि रमान, भमय भुअङ्ग भीम, तलितहुँ तेज मिलए अन्धकार आदि। 'थि' का प्रयोग विद्यापति के इन पदों में 'जाथी' 'भनथि' तथा 'बोलथि' के रूप में तीन जगह पाया जाता है। इनके अतिरिक्त विभक्तिरहित धातुओं से भी वर्तमान काल का बोध होता है; जैसे—विद्यापति भन सुन वर नारि, जलद वरिस जलधार, तखने गरज घन घोर, काम्प सबे सरीरे आदि। करहि सुन्दरि अलक तिलक बाधे, सब बोलहिँ पुछए कान्ह कान्ह—इन दो पदांशों में 'हिँ' है। एक-दो स्थानों में 'इत' या त भी पाया जाता है; जैसे—तेसर जनइत हमर परान, नागर लखत हृदअगत पेम।

इनकी उत्पत्ति

यह पहले बतलाया जा चुका है कि देश-भाषाओं में दस

---

(१) तोहर बदन सन चांद होअथि नहि, तयो पए जीवथि जीवे आदि अन्य पदावलियों में अनेक उदाहरण हैं।

गण, आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी में अन्तर आदि बखेड़े नहीं हैं। शब्द रूप की तरह यहाँ भी दो ही वचन होते हैं।

	संस्कृत		प्राकृत	
अ० पु०	चलति	चलन्ति	चलइ, चलए	चलंति
म० पु०	चलसि	चलथ	चलसि	चलह
उ० पु०	चलामि	चलामः	चलामि, चलमि	चलामो, चलिमो

प्राचीन मैथिली में सानुनासिक रूपों की प्रचुरता है। इसलिये यह संभव है कि मो (वो) ओं के रूप में परिवर्तित हो गया हो। 'निवेदओ' में उसका निरनुनासिक रूप भी प्राप्त होता है। मध्यमपुरुष की दो विभक्तियों में 'सि' तत्सम विभक्ति है और यह पहले बताया जा चुका है कि 'ह' की उत्पत्ति संस्कृत 'त', पाली 'थ' प्राकृत तथा अपभ्रंश 'ह' से हुई है। 'ह' बहुवचन की विभक्ति है, किन्तु मैथिली के दोनों वचनों में इसका प्रयोग होता है। संस्कृत 'ति' से उत्पन्न प्राकृत की 'इ' और 'ए' विभक्तियाँ मैथिली में पाई जाती हैं। 'थि' विभक्ति की उत्पत्ति संस्कृत न्ति (दि (प्रा०) थि) से हुई है। प्रो० चटर्जी की राय है कि दो शब्दों के योग से 'थि' बना है। वे हैं त् ('न्ति' का स्मृति चिह्न) और हि (निश्चयार्थक अव्यय)। शब्द-रूप में यह बतलाया गया है कि कई स्थानों में चन्द्रबिन्दु से विभक्ति का बोध होता है और अनेक

(१) 'थि' का प्रयोग वर्णरत्नाकर में भी पाया जाता है; जैसे—योध चलल अछथि (पृ० ३०), सुख भेल छथि (४०)।

स्थानों में निर्विभक्तिक पदों का भी प्रयोग होता है। धातु रूप में निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग तो पाया जाता है, किन्तु चन्द्रबिन्दु या अन्य कोई चिह्न विभक्ति के बोध के लिये नहीं पाया जाता है। संभव है कि छन्द के अनुरोध से निर्विभक्तिक शब्दों का व्यवहार आरंभ हुआ हो। संज्ञा और धातु में यह समान कारण हो सकता है। 'जनइत' और 'लखत' में वर्तमान कालिक कृदंत प्रत्यय है और उसके बाद क्रमशः 'छो' 'अछि' जोड़कर वाक्य पूरे होते हैं। केवल अपभ्रंश मध्यमपुरुष एकवचन की विभक्ति 'हि' है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश— इनमें वर्तमान काल अन्यपुरुष की विभक्ति 'हि' नहीं है। इसलिये करहिं और बोलेहिं—लेखक की भूल हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह भी संभव है कि 'बोले' और 'कर' वर्तमान काल को क्रियाएँ हों और 'हि' निश्चयार्थक अव्यय हो जिसका सानुनासिक रूप 'हिं' है। भूल से कभी-कभी स्त्रियाँ 'भनइ विद्यापति' की जगह 'भनहिं विद्यापति' भी गाया करती हैं। बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त के ताड़पत्र या नेपाल के पदों में 'भनइ विद्यापति' शुद्ध रूप का व्यवहार पाया जाता है; क्योंकि उन पुस्तकों में 'भनइ' शब्द है, किन्तु मिथिला के प्रचलित पदों में 'भनहि विद्यापति' भी पाया जाता है, जो लेखक या पद खोज-कर लानेवाले की भूल है। विद्यापति के विशेषज्ञ, बाबू नरेन्द्र-नाथ दास, विद्यालङ्कार ने भी बार-बार इस तरह की भूलें की हैं। इस पुस्तक में भी यदि इस तरह की भूल हो गई हो तो विज्ञ पाठक कृपा कर संशोधन कर लें। आगामी संस्करण में इन अशुद्धियों का संशोधन कर दिया जायगा।

(२) कृदन्त से बना हुआ काल

(क) भूतकाल

संस्कृत में लुङ्, लङ्, लिट्—इन तीन लकारों से भूत-काल का बोध होता है। अज्जतनी (अद्यतनी) और हीयत्तनी (ह्यस्तनी)—दो भेद मानकर पाली व्याकरण में लङ् और लुङ् के विभिन्न रूप दिये गये हैं, किन्तु साहित्य में बहुधा लुङ् का ही उपयोग होता है, 'लङ्' के प्रयोग विरले ही हैं। म० म० विधुशेखर शास्त्री का कहना है कि 'दाठावंस' नामक पुस्तक में केवल दो ही जगह लङ् का प्रयोग है, अन्य स्थानों में 'लुङ' का ही प्रयोग हुआ है। भाषा-विज्ञानवेत्ताओं की राय है कि द्राविड़-भाषा में भूतकालिक कृदन्त से ही समापिका क्रिया बनती है। इसलिये यह द्राविड़-प्रभाव है। इसमें संदेह नहीं कि इसका बीज वैदिक युग में ही बोया जा चुका था।

वैदिक युग में भी समापिका क्रिया तथा क्त-प्रत्ययान्त शब्द—दोनों से भूतकाल का बोध होता है। संस्कृत-साहित्य में भी लङ, लुङ् और लिट् की अपेक्षा रूप सरल होने के कारण अकर्मक धातुओं के बाद 'क्त' प्रत्यय जोड़कर ही अधिकतर भूतकाल का बोध होता है। सकर्मक धातुओं के बाद कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय होता है जो कर्तृवाच्य की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है; इसलिये उनके बाद 'क्त' प्रत्यय विरले ही पाया जाता है। अशोक-शिलालेखों में भी 'क्त' प्रत्यय की ही प्रचुरता पाई जाती है। प्राकृत-युग में लङ्, लुङ् लिट्—सबका लोप हो गया, 'क्त' प्रत्यय ने ही उनका स्थान ले लिया, परिणाम-

स्वरूप प्राकृतसाहित्य में 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों से ही भूतकाल का बोध होने लगा। डा० चटर्जी का कहना है कि अपभ्रंश-युग में अन्य लकारों का बहिष्कार हुआ और 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों से ही भूतकालिक क्रियाएँ बनने लगीं, किन्तु हेमचन्द्र, चन्द्र, मार्कण्डेय आदि के व्याकरणों से तथा प्राकृत साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन तीनों लकारों को प्राकृतयुग में ही बिदाई मिल चुकी थी। वररुचि के भूतकाल के नियम-सम्बन्धी तीन सूत्र रहने पर भी और-और वैयाकरणों का भूतकाल के विषय में मौन धारण करना भी यही प्रमाणित करता है। संस्कृत में दो तरह के धातु हैं; (१) सेट् और (२) अनिट्। सेट् धातुओं के बाद और 'क्त' प्रत्यय के पहले 'इ' जोड़ा जाता है; जैसे—पतित; चलित आदि। अनिट् धातुओं के बाद केवल 'त' रहता है; जैसे—कृत, गत, नत, हृतः आदि। प्राकृत-युग में ये 'इअ' और 'अ' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं; जैसे—पढ़िअं (पठितम्), हूअं (भूतम्) जिअं (जितम्) आदि। विद्यापति के पदों में इस 'इअ' का व्यवहार केवल कर्मवाच्य में होता है।

इसके उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका में बहुधा 'इअ' का ही प्रयोग पाया जाता है; जैसे—बप्प वैर उद्धरिअ, जेन्हें खण्डिअ पुब्ब वलि कन्न, जेन्हें सरण परिहरिअ, जेन्हें अतिथिजन विमन न किज्जिअ आदि सैकड़ों उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत की तरह हुअ [हुआ] का भी प्रयोग होता है। हुअ तथा अन्य क्रियाएँ उकारान्त भी पाई जाती हैं; जैसे—पुरुष हुअउँ वलि राए, जेन निज कुल उद्ध-

रिऊँ, जेन खत्तिअ ख अ करिअउँ आदि। वर्णनरत्नाकर में [भउ, गउ आदि उकारान्त रूपों के अतिरिक्त] साधारणतः 'ल' से ही भूतकाल का बोध होता है। कीर्तिलता में भी 'देल' 'मानल' 'जानल' 'मारल' 'वहल' 'कहल' आदि लकारान्त शब्द भी पाये जाते हैं। विद्यापति के पदों में भूतकाल की विभक्ति 'ल' है; जैसे—हरल, भेल, गेल, राखल, जानल, गुनल आदि। संस्कृत के सब पुरुषों में 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों का व्यवहार होता है। इसी साहृश्य के आधार पर 'ल' का उपयोग सब पुरुषों में होता है; जैसे—

अन्यपुरुष— (१) हरखें आरति हरल चोर।
(२) धनि खिनि भेलि।
(३) पावनि दीप निभाएल आज

मध्यमपुरुष—(१) एत दिन मान भलेहुँ तोहँ राखल

उत्तमपुरुष— (१) आस दइए परपेअसि आनलि
(२) भल न कएल, मञे देल बिसवास
(३) कएल माधव हमे अकाज
(४) हमें सिनेह लाओल
(५) प्रथम समागम दरसन लागि
बारिस रअनि गमाओलि जागि।

'ल' के बाद 'उहुँ' या 'उहु' जोड़कर भी उत्तमपुरुष की क्रिया बनती है; जैसे—न घर गेलुहु, न पर भेलुहुँ, बिनु भेलें भेलहुँ गोआरि, सबे काज अइलुहुँ साही। इसी प्रकार 'ल' के बाद 'ह' जोड़कर भी मध्यमपुरुष की क्रिया बनती है; जैसे—हाथँ बान्धि कुअँ मेललह मोही, बिरलाकें भल खिरहर सोम्पलह, गोवरें

बान्धि बीझ घर मेलजह, कपटिहिं निकट ओ लओलह आनि, की सखि पओलह सुतलि जगओलह। इस तरह अनेक उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि विद्यापति की भाषा में भी केवल 'ल' की अपेक्षा 'लह' का प्रयोग कहीं अधिक होता है। अर्वाचीन मैथिली में तो मध्यमपुरुष में केवल 'ल' का प्रयोग नहीं ही होता है। जिस प्रकार ज्योतिरीश्वर ने बहुवचन में संज्ञाओं के बाद भी 'न्हि' का उपयोग किया है उसी प्रकार बहुवचन में (या समान अर्थ बोध कराने के लिये) अन्यपुरुष में 'ल' के बाद 'न्हि' का व्यवहार होता है; जैसे—कतों जलासञँ पिउलन्हि पानि, पवनहुँ सञो कएलन्हि अवधान। बँगला की तरह अन्यपुरुष में 'ल' के बाद 'क' भी जोड़ा जाता है, जैसे—गुरुजन डरें पुछिओ न पुछलक, संकेत कएलक सुनताही, आदि अन्त दुहु देलक गारि आदि। बँगला, आसामी तथा उड़िया में 'इल', भोजपुरिआ और मगही में 'अल' (या ल) और मराठी में इल तथा अल जोड़कर समापिका क्रियाएँ बनती हैं।

उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत

(१) Sir Charles Lyall ने Encyclopaedia Britannica (9th edition) के हिन्दोस्तानी शब्द पर बतलाया है कि इन और ल (अल्पार्थक या विशेषण बोधक प्रत्यय) मिलकर इल बनता है। अल, इल्ल, अल्ल आदि इसी के रूपान्तर हैं। सर भण्डारकर ने 'विल्सन फाइलोलोजिकल लेकचर' में भी इसी का समर्थन किया है। अनेक विदेशी विद्वान् इससे सहमत हैं।

(१) वाग्मल, फेनिल, श्रंगल, फेनिल आदि सिद्धान्तकौमुदी, पृ० ११२।

(२) लैसन तथा हार्नली त, इत को प्राकृतिक में द, इद के रूप में परिवर्तित कर अपभ्रंश में ल, इल के रूप में परिवर्तित किया है। डा० चटर्जी इससे सहमत नहीं हैं। आपकी राय है कि प्राकृत-प्रकाश [परिच्छेद ११, सूत्र १५] के अनुसार कृत, मृत [कट, 'मट' के रूप में परिवर्तित होकर] कड, मड हो जाते हैं। इस तरह 'ऋत' का ट और 'ट' का ड परिवर्तन अनेक स्थानों में देखा गया है, किन्तु 'त' को 'ल' के रूप में परिवर्तित होते हुए कहीं नहीं देखा गया है। इस प्रकार 'कड' से कर या करा हो सकता है न कि कइल।

(३) पिशेल, ब्लौच आदि अनेक विद्वानों की राय है कि सं० 'ल' प्रत्यय से अपभ्रंश में 'ल्ल' हो गया है और उसी से 'इल', 'अल' आदि की उत्पत्ति हुई है। कोई 'ल' के बाद 'य' जोड़कर सं० 'ल्य' से अपभ्रंश 'ल' की उत्पत्ति मानते हैं।

(४ केलौग, बीम्स आदि भाषा-विज्ञानवेत्ताओं की राय है कि 'ल' भारत यूरोपीय (Indo-European) प्रत्यय है; क्योंकि रूस देश की भाषा में भी 'ल' प्रत्यय पाया जाता है। केलौग साहब ने अपने 'हिन्दी ग्रामर' में यह मत प्रकट किया और बीम्स साहब ने मराठी 'ल' के साथ रूस देश के 'ल' प्रत्यय की तुलना की। लैटिन, ग्रीक आदि अनेक भाषाओं में 'ल' प्रत्यय पाया जाता है। इसलिये यह सर्वथा संभव है। संस्कृत में 'ल' प्रत्यय विशेषण बनाने के लिये जोड़ा जाता है

---

(१) पृ० २४० द्वितीयसंस्करण (२) Comparative Grammar Pages 135-136

और रूस देश की भाषा (Slav) में 'ल' वर्तमान कालिक कृदन्त प्रत्यय है। इसलिये यह संभव नहीं है कि भारत-यूरोपीय 'ल' तथा संस्कृत 'ल' की समानता के कारण इस मत का समर्थन हो (Origin and development of Bengali language Pages 943-944)

प्रोफेसर चटर्जी का मत है कि बँगला तथा मागधी से उत्पन्न सभी भाषाओं में 'ल' प्रत्यय से भूतकाल का बोध होता है। इसलिये मालूम पड़ता है कि मागधी अपभ्रंश में इसका व्यवहार होता था। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा सिंधी में 'ल' प्रत्यय नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उन भाषाओं के अपभ्रंश में 'ल' नहीं था। प्राचीन मैथिली, बँगला, तथा उड़िया से ज्ञात होता है कि 'ल' के अतिरिक्त 'इत' और 'इअ' का भी उपयोग इन भाषाओं में होता था। पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में भी इनका उपयोग होता है। इस तरह यह ज्ञात होता है कि मागधी अपभ्रंश में लकारान्त विभक्ति के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों का भी प्रयोग होता था, किन्तु आधुनिक काल में मागधी से उत्पन्न भाषाओं में 'ल' प्रत्यय से भूतकाल की समापिका क्रिया तथा विशेषण—दोनों बनते हैं और अन्य रूपों की अपेक्षा लकारान्त रूपों को ही प्रधानता मिली है।

संस्कृत में लकारान्त धातु के बाद 'क्त' के स्थान में ल् होता है; जैसे— फल् से फुल्ल। पाली में भी इस शब्द का व्यवहार होता है। प्राकृत-पिङ्गल में छः बार फुल्ल (फूला हुआ) शब्द

1 वररुचि॰ ॥ ॥ 'स्थ' का ठ, होता है।

विशेषण की तरह व्यवहृत हुआ है और चार बार भूतकाल की समापिका क्रिया की तरह ; जैसे फुल्ला णीवा [फुल्लाः नीपाः], भमई महुअर फुल्ल अरबिंद [भ्रमति मधुकरः फुल्लमरविन्दम्], जहि फुल्ल केसु असोअ चंपअ मंजुला [यत्र मञ्जुलानि किंशुकाशोकचम्पकानि फुल्लानि], फुल्ला वणा [फुल्लानि बनानि]। इसके अतिरिक्त इअ [क्त—इत,—इअ] का प्रयोग प्राकृत-युग से ही होता आ रहा है [तेनाप्फुणादयः। ८।४।२५८।—हैम व्याकरण, उदाहरण—निमिअ (स्थापित), चक्खिअ [आस्वादित] आदि]। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत-युग से लेकर अपभ्रंश-युग तक 'क्त' से बना हुआ 'ल' प्रत्यय भूतकाल की समापिका क्रिया की तरह व्यवहृत होता था। संभव है कि इसी 'ल' से मैथिली, मगही, भोजपुरिया, बँगला, उड़िया आदि की 'ल' विभक्ति की उत्पत्ति हुई हो।

मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त[2] रूप भी पाया जाता है; जैसे—तब्बे नहि गनले परतर पाप। संज्ञाओं की तरह आकारान्त रूप भी पाया जाता है; जैसे—चुम्बने नअन काजर गेला, आनक रतन आनि मब्बे देला, अधरपान कएला रे। इनके अतिरिक्त बँगला तथा उड़िया की तरह प्राचीन मैथिली के भूतकाल में इकारान्त रूप भी पाया जाता है; जैसे—समअक वसें लहि सब अनुराग। संभव है कि इसकी उत्पत्ति इत से

१ केवल समापिका क्रिया के उदाहरण यहाँ दिये गये हैं।

२ औषध खएले...आँखि कएले...चिरले अछवाहे (वर्णनरत्नाकर पृ० ४५) अर्वाचीन मैथिली में भी 'कएने' 'गएने' आदि एकारान्त रूप पाये जाते हैं।

इश—ई-इ के रूप में परिवर्तित होकर हुई है। पाश्चात्य अपभ्रंश के द्वारा प्रभावान्वित होने के कारण उकारान्त रूप भी पाये जाते हैं; जैसे—बड़ें मनोरथें साजु अभिसार, न पुरु हृदयसाध, आसा संसअँ पलु अभिसार, ऊपर हेरि तिमिरें करु वाद आदि। अर्वाचीन मैथिली में उकारान्त रूप नहीं पाया जाता है, किन्तु वर्णनरत्नाकर में अनेक बार उकारान्त रूप देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस समय बोलचाल की भाषा में भी ये रूप व्यवहृत होते थे।

पुरुषवाचक प्रत्ययों की उत्पत्ति

जिस प्रकार संस्कृत 'अचलम्' से 'मैं चला' अर्थ ज्ञात होता है उसी प्रकार मैथिली में 'चललहुँ' का अर्थ भी 'मैं चला' होता है। 'सर्वनाम' शीर्षक में यह बतलाया जा चुका है कि अपभ्रंश-युग के उत्तम पुरुष में हउ, हउं, हउँ—तीनों रूप प्रचलित थे। 'ल' प्रत्यय जोड़कर बनी हुई क्रिया के बाद 'हउँ' से उत्पन्न हुँ (मैं, हम) जोड़कर भूत काल उत्तम पुरुष की क्रिया बनती है। यही कारण है कि इस रूप में उत्तमपुरुष का सर्वनाम भी अन्तर्निहित है। जिस प्रकार संस्कृत में अहम् अचलम् या 'अचलम्' से एक ही अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार चललहुँ तथा हम चललहुँ—दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं। संस्कृत में 'भवन्' शब्द के कर्त्ता रहने पर अन्यपुरुष की क्रिया आती है। इसी भ्रमात्मक अनुरूपता के आधार पर 'अपने' या 'अहाँ' के कर्त्ता रहने पर उत्तमपुरुष की क्रिया आती है; जैसे—अपने आएलहुँ या अहाँ अएलहुँ। जिस प्रकार संस्कृत लोट् मध्यम-

पुरुष बहुवचन की विभक्ति 'त' है उसी प्रकार लङ् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन की विभक्ति भी 'त' है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि वह थ (पाली) और 'द' के रूप में बदलता हुआ प्राकृत में 'ह' हो जाता है। इस प्रकार 'ल' के बाद मध्यमपुरुष की विभक्ति 'ह' जोड़कर मध्यमपुरुष की विभक्ति 'लह' हुई। पहले 'वचन' शीर्षक में यह बतलाया जा चुका है कि प्राचीन मैथिली में 'न्हि' तथा 'आह' से बहुवचन का बोध होता था। अन्यपुरुष में 'ल' विभक्ति के बाद आदर-अर्थ में ये विभक्तियाँ आती हैं। साधारणतः सकर्मक धातुओं के बाद 'न्हि' विभक्ति आती है; जैसे—कएलन्हि, देलन्हि आदि, किन्तु अकर्मक क्रियाओं के बाद 'आह' विभक्ति आती है; जैसे—खसलाह, भेलाह, मुइलाह आदि। संस्कृत में 'गम्' धातु सकर्मक है, किन्तु मैथिली में वह अकर्मक माना जाता है। इसलिये 'गेलाह' होता है न कि 'गेलन्हि'। संमान सूचित करने के लिये अकर्मक धातुओं के बाद भी 'न्हि' का व्यवहार होता है और 'न्हि' के पहले 'अ' के स्थान में 'ए' हो जाता है; जैसे—हुनका चिट्ठी गेलन्हि। यहाँ जिनके पास चिट्ठी गई है उनके प्रति संमान दिखाना है। अवज्ञा अर्थ में "ओकरा चिट्ठी गेलैक"। कर्त्ता यदि सजीव पदार्थ हो और कर्ता के प्रति भी संमान दिखलाना हो तो 'थीन्ह' (= थि + न्हि) का व्यवहार होता है; जैसे—रामक बेटा खसलथीन्ह। इस तरह के रूप विद्यापति के पदों में नहीं पाये जाते हैं। अनादर-अर्थ में सकर्मक धातुओं में 'ल' के बाद 'क' जोड़ा जाता है; जैसे—कएलक, देलक आदि, किन्तु अकर्मक धातुओं के बाद केवल 'ल' जोड़ा जाता है; जैसे खसल, पड़ल

गेल आदि । इस प्रकार बँगला में भी 'क' जोड़कर दिलेक, दिलेक, चलबेक, चलुक आदि रूप होते हैं । डा० चटर्जी ने बतलाया है कि प्राचीन मैथिली में 'क' नहीं जोड़ा जाता था, किन्तु प्राचीन तालपत्र के ८६ पदों में ही सात बार ककारान्त रूप पाया जाता है। इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अर्वाचीन मैथिली की तरह प्राचीन मैथिली में भी ककारान्त रूप का प्रयोग होता था। 'वंचन' शीर्षक में इनकी उत्पत्ति बताई जा चुकी है। संभव है कि सं० अदस्, प्रा० अह (हैम व्याकरण ८।३।८७) से 'आह' की उत्पत्ति हुई हो। 'आह' का स्त्रीलिङ्ग रूप इह होता है। इसलिये ग्रियर्सन साहब की राय है कि यह वर्त्तमान कालिक या भूतकालिक कृदन्त की विभक्ति है, न कि सर्वनाम संबंधी विभक्ति है।

'क' की उत्पत्ति

प्राचीन मैथिली के कएलक, खएलक, देलक आदि शब्दों तथा अर्वाचीन मैथिली के देखलिएक, देखलिऔक, देखलहक, देखलक आदि शब्दों के 'क' की उत्पत्ति अन्य-पुरुष-वाचक सर्वनाम 'क' से हुई है—यह ग्रियर्सन साहब की राय है (J. A. S. B., 1895 Page 350)। प्रो० चटर्जी की राय है कि संस्कृत में अज्ञात, शील (स्वभाव) निन्दा, संज्ञा (नाम)

(१) Early Maithili as in literature does not show these curious extensions, the form in the third person was simply in अल...dekhala and not dekhalaka as in Modern Maithili. Origin and development of Bengali; Page 992.

दया, नीति और अल्प अर्थों में 'क' प्रत्यय होता है; जैसे उच्चैः—उच्चकैः, नीचैः—नीचकैः, त्वया—त्वयका। युवयोः,—युवकयोः, पचति—पचतकि, स्वपिति—स्वपितकि, शूद्रः—शूद्रकः, पुत्रः—पुत्रकः, एहि—एहकि, सिंहः—सिंहकः, वृक्षः—वृक्षकः। तत्सम और तद्भव शब्दों के उपयोग होने के कारण यह असंभव नहीं है कि उसी पुराने प्रत्यय का पुनरुज्जीवन हुआ हो (Origin and development of Bengali Page 991)। ह्रस्व या निन्दा-अर्थ में विहित 'क' का मैथिली में पुनरुज्जीवित होना सर्वथा युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। संभव है कि इसीलिये इसका प्रयोग 'अनादर' अर्थ में होता था।

'ल' के पूर्व परिवर्तन

जहाँ धातु के स्वरूप में कुछ परिवर्तन नहीं होता है वहाँ धातु को अकारान्त बनाकर 'ल' विभक्ति जोड़ दी जाती है; जैसे—चलल, पढ़ल, सूखल, रहल आदि। जहाँ धातु का विकृत रूप पाया जाता है वहाँ 'ल' के पहले 'ए' जोड़ा जाता है; जैसे—भेल (भू—भ), गेल (गम्—ग), देल (दा—द)। आकारान्त धातुओं के बाद इ या ए जोड़ा जाता है; जैसे फेदाएल, निभाएल, पराएल, लजाएल, खाएल, आइलि, पोहाइलि। प्रेरणार्थक धातुओं के पहले साधारणतः 'ओ' जोड़ा जाता

---

१ बँगला के भी होलो, गेलो आदि शब्दों में केवल 'ल' पाया जाता है न कि 'इल'। मैथिली में हरजगह 'ल' ही पाया जाता है। इसलिये 'ल' प्रत्यय है, न कि इल या अल।

२ प्राकृत-युग से ही इस तरह का परिवर्तन होता आया है (एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु।८।३।१५७। हैम व्याकरण)।

है; जैसे—पठओलह, गमओलह। इसी सादृश्य के आधार पर 'पाओल' लाओल, आदि होते हैं। संस्कृत में 'ऋ' के स्थान में अर, इर्, रि आदि अनेक आदेश होते हैं। मैथिली में भी, इसी तरह का ऋकारान्त धातुओं के अनेक रूप होते हैं; जैसे—कृ—कएल, मृ—मुइल, धृ—धएल, हृ—हरल, कृ—कइलि, आदि।

भूतकाल के दो विचित्र रूप

गेल और भेल—इन दो रूपों में यह विचित्रता है कि वर्तमान तथा भविष्यत् कालों में जिन धातुओं का उपयोग होता है उन धातुओं से बने हुए ये रूप नहीं हैं। होइत छी (वर्तमान) तथा 'होएब' (भविष्यत) में प्राकृत 'हो' है, किन्तु भूतकाल के रूप 'भेल' की उत्पत्ति 'भू' से हुई है। इसी प्रकार वर्त्तमानकाल के जाइत छी, और भविष्यत् काल के 'जाएब' में 'या' से उत्पन्न 'जा' धातु का उपयोग होता है, किन्तु भूतकाल में 'गम्' धातु का प्रयोग पाया जाता है और परिणाम-स्वरूप 'गेल' होता है। हिन्दी, बँगला, उड़िया आदि भारतवर्ष की अन्यान्य अनेक भाषाओं में भी इस तरह का प्रयोग होता है। प्रो० चटर्जी 'गेल' की उत्पत्ति संस्कृत गत और प्राकृत 'गअ' से बताते हैं।

लकारान्त विशेषण

जैसे संस्कृत में क्त प्रत्ययान्त शब्द विशेषण भी होते हैं उसी प्रकार मैथिली, बँगला, उड़िया, आदि भाषाओं में भी लकारान्त विशेषण पाये जाते हैं; जैसे (१) दिवसे

(१) कीर्तिलता में भी इस तरह के उदाहरण पाये जाते हैं; जैसे—नरालि विभूति पलटाए आनलि, चिकम वश हारल, सहुक देल राज।

दिवसे धर जोति सोना मेलाओलि मोति (२) तुअ गुन बान्धल अछए परान (३) गुनक बान्धल आएल नागर (४) काजरें राङ्गलि राति (५) टूटल बोलव मञे कत बेरि (६) पथिक पिआसल आव अनेक (७) पेमे पुरल मन (८) उसठ न कर सठ वढ़ाओल पेम (९) मालाञे बान्धलि हाथी आदि। इस तरह के अनेक उदाहरण वर्णन-रत्नाकर में भी मिलते हैं; जैसे—दक्षिणानिले चालल तरङ्ग सन (पृ० ७), विश्वकर्माञे निर्मउलि (पृ० १०), पञ्चतीर्थक जलें स्नान कराओल (पृ० २२) आदि।

लकारेतरान्त विशेषण

ऐसे भी विशेषण पाये जाते हैं जिनके अन्त में 'ल' नहीं है। ऐसे शब्द दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) तत्सम या अर्धतत्सम शब्द और (२) तद्भव शब्द। इन पदों में तत्सम या अर्धतत्सम शब्दों की ही प्रचुरता है। तद्भव शब्द विरले ही पाये जाते हैं। उदाहरण के रूप कुछ पदांश नीचे उद्धृत किये जाते हैं--

(१) पेम लुबुध परिरम्भन चाहे (२) चेतन गोपए बेकत चोरी (३) प्रथम बएस अति भिति राही (४) अभिमत पिअमेला (५) कुसुमधूरि मलआनिल पूरित (६) दिन-दिन खिन तनु पिड़ए कुसुमधनु (७) जनि अवसिन दिन चन्दा (८) तोके परसन पञ्चबाने (९) अबहि उदित होत तम पिबि चन्द (१०) ओहु राहुभीत एहु निसङ्क आदि। कीर्तिलता में भी इस तरह के विशेषण पाये जाते हैं; जैसे—

रज्जलुब्ध (राज्यलुब्ध) असलान, सत्तुसमधिश्र रज्ज (शत्रु-समर्पित राज्य)।

भविष्यत् काल

भविष्यत् काल को सबसे प्रधान विभक्ति 'ब' है। विद्यापति ने सब पुरुषों में इस विभक्ति का प्रयोग किया है—जैसे—
अन्यपुरुष (१) नागरे कि करब नागरि पाए (२) के पति-आओब एहु परमान (३) तें को विलसब नागरि पाए (४) मनमथ मथयें करब परिछेद (५) कान्हें जाएब मोहि पास (६) भमरे भमि आओब (७) कओने पेखब सजाती।

मध्यमपुरुष (१) वधक होएब तोहें भागी (२) कि तें करब [३] अबे करब नहि मान (४) पहुसओ उतरि बोलब बोल (५) कहब समाद कृष्णकें मोर।

उत्तमपुरुष (१) कि मञे बोलब, (२) लाजें कि बोलब साँझक बेरि (३) सखि कि कहब, (४) हमेउ धरब जीवे। भाषा को सरल तथा सुबोध बनाने के उद्देश्य से इसमें कुछ और भी उन्नति हुई। 'ब' उत्तमपुरुष की विभक्ति बन गई। भूतकाल की तरह मध्यमपुरुष में 'ब' के बाद 'ह' जोड़ा जाने लगा और अन्यपुरुष के लिये एक नई विभक्ति 'त' की सृष्टि हुई; जैसे—(१) से कैसे जएबह तरि (२) आओर की बोलबह से जानि (मध्यमपुरुष)। (१) की बुझत अआन (२) अपनेहिं आओत सिरि सिवसिंह (३) चउदिस होएत उजोर (४) अमिअ कए जाएत चकोर (५) होएत मो बड़ पाप (६) भन विद्यापति होएत मनोरथ (७) कठिन कोमल को रिति सहति (८) एकर होएत परिनामे

(९) अवसर जानि जे मिलत मुरारि आदि, (अन्यपुरुष) कत न वासर पलटि आविह, कति न होइह राती आदि पदांशों में अन्यपुरुष के कर्ता के साथ भी 'ह' का प्रयोग देखकर ज्ञात होता है कि उस समय तक अवहट्ठ के 'इह' का प्रयोग होता था। कीर्तिलता में बुझिइ, करिह आदि इस तरह के अनेक शब्द पाये जाते हैं।

संस्कृत इष्य, पाली इस्स, प्रा० 'इह' विभक्ति चर्याचर्य विनिश्चय, दोहा कोष, प्राचीन तथा मध्य कालीन बँगला, अवधी, भोजपुरिया आदि भाषाओं में भी पाई जाती है। मागधी से प्रभावान्वित होने के कारण एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं; जैसे—मञे नहि रखबे आँखि क लाज, मञे नहि जाएबे ता पिआ पासे।

अर्वाचीन मैथिली के अन्य पुरुष में ताह (संमानसूचक) या त, मध्यमपुरुष में बह और उत्तम पुरुष में 'ब' विभक्ति का प्रयोग होता है। ग्रियर्सन साहब ने उत्तमपुरुष के बहुवचन में 'मारवि' रूप बताया है, किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका व्यवहार अर्वाचीन मैथिली में नहीं होता है। यदि यह 'मारव' का स्त्रीलिङ्ग रूप है तो दोनों वचनों में इसका व्यवहार हो सकता है।

इनकी उत्पत्ति

संस्कृत के अनिट् धातुओं के बाद 'स्य' और सेट धातुओं के बाद 'इष्य' जोड़कर भविष्यत् काल का बोध होता है। पाली में वह 'स्यं' 'स्स' के रूप में तथा प्राकृत में 'ह' के रूप में परिणत हो गया; जैसे—पुच्छि-

हिसि (महाराष्ट्री, अर्धमागधी) पोक्खिहिमि = प्रेक्षिष्ये (अपभ्रंश) (Introduction to Prakrit Page 47.) चलस्यं, चलहूं (राजस्थानी) में स् और ह्—दोनों देखिहौं, देखिहै (अवधी तथा व्रजभाषा) में केवल 'ह' संस्कृत 'स्' तथा प्राकृत 'ह्' के स्मृतिचिह्न हैं। भोजपुरिया और मगही में भी यह 'ह' पाया जाता है। बँगला के 'करिहे' 'मिलिहे' आदि रूपों में भी 'ह' मिलता है। मैथिली में यह 'ह' केवल मध्यमपुरुष में 'ब' के बाद आता है ; जैसे—जएबह, करबह आदि। पहले यह बताया गया है कि आज्ञार्थक क्रियाओं के बाद ही 'ह' आता है, किन्तु दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह है कि आज्ञार्थक क्रियाओं के बाद केवल 'ह' विभक्ति आती है, किन्तु भविष्यत् काल में इस काल की विभक्ति 'ब' के बाद 'ह' जोड़ा जाता है; जैसे—जाह (जाओ) जएबह (जाओगे)। इनके अतिरिक्त विद्यापति के पदों में मुलइहह, पठइहह आदि रूप भी पाये जाते हैं। इनमें अन्तिम 'ह' से आज्ञा या उपदेश अर्थ का बोध होता है ; क्योंकि वह आज्ञार्थक विभक्ति है और दूसरे 'ह' या 'इह' से भविष्यत् काल का बोध होता है। इस प्रकार इन रूपों में आज्ञा तथा भविष्यत् दोनों का संमिश्रण है ; जैसे—जौवन नगर बेसाहत रूप तते मुलइहह जते सरूप, ऐसनि कए परिबोधि पठइहह पुनु आवए ओ अनुरागी। प्रथम पदांश में सखी नायिका से उपदेश देती है कि रसिक कृष्ण यौवनरूपी नगर में रूप खरीदने को आवेंगे, जितना उचित हो, उतना ही दाम बताना—इसमें उपदेश भी है और भविष्यत् काल का भी बोध होता है। इसी प्रकार दूसरे पदांश में नायिका की

सखी श्रीकृष्ण से उपदेश देती है कि नायिका को इस प्रकार समझा-बुझाकर विदा करना कि वह फिर भी प्रेमासक्त होकर आवे। यहाँ भी दोनों का संमिश्रण है। धातु के बाद व् (जो संस्कृत 'प्' का रूपान्तर है) जोड़कर प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। उन प्रेरणार्थक धातुओं के बाद 'ह' रहने से आज्ञा अर्थ का बोध होता है; जैसे—करावह, घटावह, झपावह आदि। इनके भविष्यत् काल में करबिहह, घटबिहह झपबिहह आदि रूप होते हैं। इनमें 'व' से प्रेरणा, 'इह' [जो संस्कृत 'इष्य' का स्मृतिचिह्न है] से भविष्यत् तथा 'ह' से आज्ञा अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार यहाँ तीनों (प्रेरणा, भविष्यत्, आज्ञा) का संमिश्रण है।

जिस समय मैंने 'विद्यापति के पद' शीर्षक अध्याय लिखा था उस समय विद्यापति की भाषा का अध्ययन नहीं किया था। यही कारण है कि मैंने उस अध्याय में [पृष्ठ २३९] बतलाया है कि 'ह' जोड़ने से आज्ञार्थक क्रिया बनती है न कि भविष्यत् काल की क्रिया। 'ह' या 'इह' से भविष्यत् काल का बोध होता है—इसमें संदेह नहीं, किन्तु प्रेरणार्थक धातुओं में प्रेरणावाचक 'व' प्रत्यय के बाद 'ह' से आज्ञा अर्थ का और 'इहह' से भविष्यत् और आज्ञा दोनों का बोध होता है। इसलिये 'घटावह' आज्ञार्थक क्रिया है, न कि भविष्यत् काल की क्रिया। इस तरह के और भी उदाहरण हैं। रागतरङ्गिणी में विद्यापति-रचित एक

(१) 'घटावह' मध्यमपुरुष की क्रिया है। इसलिये 'अघटन' के कर्ता रहने पर मध्यमपुरुष की क्रिया कभी भी नहीं हो सकती है। यह भी एक कारण है कि गुप्तजी की व्याख्या युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ती है।

पदांश 'आँचरे वदन झपावह गोरि' में 'झपावह' भी आज्ञार्थक क्रिया है।

पिशेल तथा ग्रियर्सन साहबों की राय है कि 'व' की उत्पत्ति संस्कृत 'तव्य' से हुई है। अव्व अव्व रूप में बदलता हुआ तव्य 'अव' बन जाता है। पाली में तव्य के तव्व, प्राकृत में दव्व (Introduction to Prakrit Page 58) और अपभ्रंश में इएव्वउं, एव्वउं और एव होते हैं (तव्यस्य इएव्वउं, एव्वउं, एवा ८।४।४३८ हैम व्याकरण] । यह भी असंभव नहीं है कि वही 'एव' 'अव' के रूप में परिणत हो गया हो। आकारान्त, ओकारान्त, आदि धातुओं के बाद 'एव' भी पाया जाता है; जैसे—जाएव, होएव आदि। बँगला, उड़िया आदि भाषाओं में 'इव' भी पाया जाता है। अवधी में भी 'व' से भविष्यत् काल का बोध होता है; जैसे—देखवूँ, देखबौं (एकवचन) देखव, देखवौ (बहुवचन)।

संस्कृत में साधारणतः तव्य का व्यवहार 'चाहिये' अर्थ में होता है; जैसे—तेन विद्यालयो गन्तव्यः—उसे विद्यालय जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त संज्ञा या विशेषण बनाने के लिये भी इस प्रत्यय का उपयोग होता है; जैसे कार्यम् (काम या करने योग्य)। कहीं-कहीं तव्य से भविष्यत् काल का भी बोध होता है; जैसे—दूरमपसर नो चेद्धन्तव्योऽसि मया—दूर भागो, नहीं तो मैं मार डालूँगा। विद्यापति के समय तक 'तव्य' से उत्पन्न 'व' से संज्ञा बनती है (देखव) तथा भविष्यत् काल का बोध होता है। मध्यमपुरुष में 'व' के बाद 'ह' जोड़ा जाता है—यह तो बताया ही जा चुका है। अर्वाचीन मैथिली

के उत्तमपुरुष में 'ब' के बाद हु या हुँ (सर्वनाम 'हउ' से उत्पन्न) जोड़ा जाता है। डा० ग्रियर्सन की राय है Radical and Participial tense) कि अन्यपुरुष की विभक्ति 'त' की उत्पत्ति संस्कृत 'शतृ' प्रत्यय से हुई है। 'शतृ' वर्तमान कालिक कृदन्त प्रत्यय है, फिर उसका व्यवहार भविष्यत् काल में किस प्रकार होने लगा इसका कारण ज्ञात नहीं होता है। 'पुच्छिस्सन्तो' आदि शब्दों का भविष्यत् काल में प्रयोग देखकर मालूम पड़ता है कि भूल से 'अन्तो' भविष्यत्काल की विभक्ति मान ली गई, किन्तु इसका व्यवहार सब पुरुषों और वचनों में होता है और मैथिली 'त' का व्यवहार केवल अन्यपुरुष में होता है। संभव है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत लुट् (अनद्यतन भविष्यत्) के अन्यपुरुष एकवचन 'ता' से हुई हो जिसका व्यवहार केवल अन्यपुरुष में होता है।

(च) पुरुषवाचक प्रयोग

तीन प्रयोग

संस्कृत में कर्मवाच्य (तेन कार्यं कृतम्), भाववाच्य (तेन शयितम्) और कर्तृवाच्य (स चलितः)—तीन वाच्य होते हैं। पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी यही क्रम जारी रहा। राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पच्छिमी पंजाबी, सिंधी आदि भाषाओं में भी तीनों प्रयोग पाये जाते हैं। हिंदी में भी तीन प्रयोग होते हैं—(१) कर्तरि प्रयोग (२) कर्मणि प्रयोग (३) भावे प्रयोग। (१) कर्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार जिस क्रिया का रूपान्तर होता है, उसको कर्तरि

प्रयोग कहते ; जैसे—मैं चलता हूँ, वह चला आदि (२) जिस क्रिया के पुरुष, लिंग और वचन कर्म के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होते हैं, उसे कर्मणि प्रयोग कहते हैं ; जैसे—मैंने पुस्तक पढ़ी, पुस्तक पढ़ी गई, रानी ने पत्र लिखा, इत्यादि। (३) जिस क्रिया के पुरुष, लिंग और वचन कर्ता वा कर्म के अनुसार नहीं होते, अर्थात् जो क्रिया सदा अन्य पुरुष पुँल्लिङ्ग एकवचन में रहती है उसे भावे प्रयोग कहते हैं ; जैसे—रानी ने सहेलियों को बुलाया (पं० कामताप्रसाद गुरु का हिंदी व्याकरण पृ० ३०८), मुझसे चला नहीं जाता। भावे प्रयोग में 'को' का व्यवहार 'कृते' (लिये) अर्थ में होता है।

मागधी से उत्पन्न भाषाओं में तथा अवधी में यह क्रम जारी नहीं रह सका। जिस प्रकार हिन्दी के 'मैंने पुस्तक पढ़ी' वाक्य में कर्ता के बाद करण का चिह्न 'ने' है उस प्रकार मैथिली के 'हम पुस्तक पढ़लहुँ' वाक्य में कर्ता के बाद करण का कोई चिह्न नहीं है। इसी तरह बँगला, उड़िया, आसामी, अवधी आदि भाषाओं में भी कर्ता के बाद करण का चिह्न नहीं पाया जाता है।

इन भाषाओं में पुरुषवाचक प्रत्ययों ने इनका स्थान ले लिया। हिन्दी में एक ही क्रिया का प्रयोग सब पुरुषों में होता है ; जैसे—मैंने किया, तुमने किया, उसने किया आदि, किन्तु मैथिली में पुरुषवाचक प्रत्यय जोड़कर विभिन्न पुरुषों में विभिन्न रूप होते हैं ; जैसे—हम कएलहुँ, तों कएलह, से कएलक वा कएलन्हि। इन विभक्तियों की उत्पत्ति तथा प्रयोग का विशेष वर्णन पहले हो चुका है। इसलिये दुहराना अनावश्यक है।

यह भी उदाहरण के साथ पहले बताया जा चुका है कि सब पुरुषों में अनेक बकारान्त प्रयोग विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि विद्यापति के समय में या उससे कुछ ही पहले इन विभक्तियों का प्रयोग होना आरंभ हुआ था। बँगला में भी सब ही पुरुषों में पन्द्रहवीं शताब्दी तक बहुधा लकारान्त प्रयोग ही पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मागधी अपभ्रंश में केवल लकारान्त रूप थे और पुरुषवाचक विभक्तियों की उत्पत्ति बहुत पीछे हुई है। मारिलाम, मारलों (बँगला), मारिलि, मरिलुँ (उड़िया), मारिलों (आसामी), मारलीं (भोजपुरिया तथा मगही), मारलहुँ (मैथिली)—इन शब्दों से यह ज्ञात होता है कि मागधी से उत्पन्न सभी भाषाओं में पुरुषवाचक विभक्तियों का प्रयोग होता है। अवधी में भी पुरुषवाचक विभक्तियाँ मिलती हैं।

ग्रियर्सन साहब का कहना है कि इन भाषाओं में भी तीनों प्रयोग होते हैं। इसके समर्थन में आपने अनेक प्रमाण दिये हैं; (१) संस्कृत में 'क्त' प्रत्यय कर्मवाच्य में होता है। इसलिये उससे उत्पन्न 'ल' आदि विभक्तियों का कर्मवाच्य में प्रयोग होना स्वाभाविक है। (२) दूसरी भाषाओं के साथ तुलना करने पर भी यही प्रमाणित होता है। (३) अर्थ भी इसका साक्षी है। (४) कर्मणि प्रयोग तथा कर्तरि प्रयोग के लिये विभिन्न पुरुष-वाचक विभक्तियाँ हैं। इनकी विभिन्नता से भी यह प्रमाणित होता है। (५) बिहारी भाषाओं के पूर्णभूत में भावे प्रयोग होता है। 'मैंने मारा' का मैथिली अनुवाद है

'हम मारलहुँ'। 'मारलहुँ' संस्कृत 'मया मारितम्' का अनुवाद है न कि 'अहम् अमारयम्' का ; क्योंकि 'मैंने मारा है' का अनुवाद 'मारलहुँ अछि' होता है न कि मारलहुँ छी। यह यदि कर्तरि प्रयोग होता तो 'हम जाइत छी' 'करइत छी' की तरह 'मारलहुँ छी' होता। इसी प्रकार 'मारलह अछि' होता है न कि 'मारलह छह'। इस तरह मैथिली के भूत काल में अकर्मक तथा सकर्मक दोनों धातुओं से भावे प्रयोग होता है। जिस प्रकार सकर्मक धातु से मारलहुँ अछि—मया मारितम् अस्ति होता है उसी प्रकार अकर्मक धातु से चललहुँ अछि = मया गतम् अस्ति' का भी प्रयोग होता है। जिस प्रकार संस्कृत में कर्तृवाच्य में भी अकर्मक धातुओं से 'क्त' प्रत्यय होता है उसी प्रकार मैथिली में भी अकर्मक धातुओं के कर्तरि प्रयोग होते हैं। 'चललहुँ अछि' के अतिरिक्त 'चलल छी' = 'अहं चलितः' का भी प्रयोग होता है। यह कर्तरि प्रयोग है। सकर्मक धातुओं में इस तरह के प्रयोग नहीं होते हैं; क्योंकि 'मारल छी' का अर्थ 'मैं मारा हुआ हूँ' होता है न कि 'मैंने मारा है'। सकर्मक धातुओं के भी कर्तरि प्रयोग होते हैं, किन्तु वहाँ भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग समापिका क्रिया के रूप में नहीं होता है; जैसे मारलेँ छी। ग्रियर्सन साहब की राय में 'मारलें' भूतकालिक कृदन्त 'मारल' शब्द के करण कारण का रूप है। इस प्रकार 'रामकें मारलेँ छी' का अर्थ है कि मरे हुए राम के साथ में हूँ। 'अहं मारितेन रामेण अस्मि' संस्कृत वाक्य का यह अनुवाद

(1) इसका संस्कृत अनुवाद है 'अहं चलितोऽस्मि' न कि अहं चलितः; क्योंकि 'छि' का अनुवाद है 'अस्मि'।

है। पूर्वी भाषाओं में अनेक सर्वनामों के करण कारक के रूपों का लोप हो गया और कर्ता कारक ने उनका स्थान ग्रहण किया। यही कारण है कि कर्मवाच्य तथा भाववाच्य की क्रियाओं के रहने पर भी कर्त्ता कारक में रहता है। इस तरह मैथिली में 'मया मारितम् अस्ति' की जगह 'अहं मारितम् अस्ति' का प्रयोग होता है; क्योंकि 'मया' से उत्पन्न करण कारक के रूपों का प्रयोग अर्वाचीन मैथिली में नहीं होता है (An article by Sir George Grierson on the Radical and participial tenses in the Modern Indo-Aryan Vernaculars, journal of Asiatic Society of Bengal, 1895)। विद्यापति के इन पदों में केवल एक ही जगह (मञे मरितहुँ ताहि तिरिबध लाइ) कर्ता 'मञे' मिलता है। यह पहले ('सर्वनाम' शीर्षक में) बतलाया जा चुका है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'मया' से हुई है। पुरुषवाचक-प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग वारंवार किया गया है, किन्तु कर्ता प्रायः सब ही जगह छिपे हुए हैं; जैसे न घर गेलहु न पर भेलहुँ, बिनु भेलेँ भेलिहुँ गोआरि, माधव ... सबे काज अइलहुँ साही, ससरि सअनसिम हरि गहलिहुँ गिम, ... परे पौलिहुँ न घरे गेलिहु आदि, किन्तु एक जगह 'मञे' का प्रयोग इसका साक्षी है कि और जगह छिपा हुआ कर्ता भी 'मञे' है। रागतरङ्गिणी में उद्धृत विद्यापति के पदांशों में 'मोञे' कर्ता का प्रयोग पाया जाता है। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि इनका प्रयोग कर्म-वाच्य में होता था, किन्तु अर्वाचीन

(१) आज पुनिम तिथि जानि मोञे अइलिहुँ, मोञे अभागलि हे जानल रे संगहि जइतहुँ सेह देस, तोरए मोञे गेलिहुँ फूल।

मैथिली में हम (कर्ता का रूप) ने मञे और मोञे (करण कारक के रूपों) का स्थान ले लिया। इसलिये कर्ता के आकार से यह निश्चित रूप से नहीं जाना जाता है कि यह करण कारक का रूप है या कर्ता कारक का, किन्तु क्रिया से (जैसा कि ऊपर बतलाया गया है) स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह कर्मवाच्य की क्रिया है न कि कर्तृवाच्य की। डा० ग्रियर्सन ने भविष्यत् काल में भी तीनों प्रयोगों का होना बतलाया है, क्योंकि ओकरा मारलिऐक, तोहरा मारलिअह, अहाँ के मारलहुँ आदि वाक्यों में कर्म के अनुसार क्रिया में परिवर्तन होते हैं। इन शब्दों का प्रयोग विद्यापति के पदों में नहीं पाया जाता है। इसलिये इन शब्दों की विशेष विवेचना नहीं कर यह अंश यहीं समाप्त करता हूँ। अभी तक जो वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् कालों के उदाहरण दिये जा चुके हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान मौलिक काल है और भूत तथा भविष्यत् कृदन्त प्रत्यय से बने हुए काल हैं।

(६) वर्तमान कालिक कृदन्त प्रत्यय

संस्कृत में परस्मैपदियों के बाद अत् (शतृ) और आत्मनेपदियों के बाद आन (शानच्) आते हैं। पाली में अत् 'अंत' के रूप में बदल गया। प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्यों में भी अंत ही पाया जाता है। विद्यापति के अवहट्ट में अन्त और अन्ते पाये जाते हैं; जैसे, आरुह्वा सूरा आवन्ता ऊँमग्गे मग्गे धावन्ता, परिठ्ठव ठेवन्ते शतसंख्य हाट बाट भमन्ते (कीर्तिलता पृ० २८)।

(१) Introduction to Prakrit Page 48 और हेम व्याकरण सूत्र ८।४।४२१।

भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय

विद्यापति के पदों में इते या इतें मिलता है ; जैसे दूती बोलइतें कान्ह लजाएल, अनुपम रूप घटइते सब विघटल। बोलइछ कान्ह, कोकिल करइछ फेरा, करइछ...निन्दा आदि पदांशों में 'इत' का संक्षिप्त रूप 'इ' भी पाया जाता है।

मागधी अपभ्रंश से प्रभावान्वित होने के कारण 'अंत्' का 'अ' 'इ' के रूप में परिणत हो गया है और इस तरह बने हुए 'इत' प्रत्यय के अधिकरण कारण में इते या इतें रूप होते हैं। 'अधिकरण कारक' शीर्षक में उदाहरणों के साथ इसका वर्णन हो चुका है। मागधी प्राकृत से प्रभावान्वित होने के कारण कहीं-कहीं एकारान्त रूप भी पाया जाता है ; जैसे माधुर जाइते आज मए देखल। वर्णनरत्नाकर में होइते और होइतें—दोनों रूप पाये जाते हैं। अर्वाचीन मैथिली में करैत, धरैत आदि उच्चारण होता है, लिखने के समय करइत, धरइत आदि रूप भी पाये जाते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि कुछ ही समय पहले इसका उच्चारण भी करइत, धरइत आदि ही था। इसी प्रकार भोजपुरी तथा मगही में भी अत्, इत् और ऐत् का प्रयोग होता है। वहाँ भी ऐत् 'इत्' का रूपान्तर है।

(ज) भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय

अल, इअ आदि भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय जोड़कर विशेषण बनते हैं। इसका विस्तृत विवरण पहले हो चुका है।

---

१ वर्णनरत्नाकर में 'अत' भी पाया जाता है; जैसे—चलत भउअह

ग्रियर्सन साहब के 'मैथिली ग्रामर' के आधार पर डा० चटर्जी ने बतलाया है कि जिस प्रकार 'आमार ना दिले किछु आसे याय ना' आदि बँगला के वाक्यों में अधिकरण कारक का प्रयोग होता है उस प्रकार मैथिली के वाक्यों में अधिकरण कारक का प्रयोग नहीं होता है, वरन् उस के स्थान में अपादान कारक का प्रयोग होता है ; जैसे चरी नहि भेटलासँ की करब ? घुमलासँ की लाभ ? आदि। गामहि बसलें बोलिअ गमार, अवसर गेलें कि नेह बढ़ाओब, पुन फलें सबे-सबे पार, जीवहुँ देलें न होए भरोस, धनि देखलें मन धाधसि, मञे पओले कारन किछु न भाव आदि पदांशों में विद्यापति ने बार-बार अधिकरण कारक में (Locative absolute) अल-प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिये इन दोनों भाषा-विज्ञान के प्रगाढ़ विद्वानों का भी यह कहना कि मैथिली में अल-प्रत्ययान्त शब्दों से भावे सप्तमी नहीं होती है, निराधार मालूम पड़ता है।

---

(1) In Maithili, Magahi and Bhojapuria, the ablative of the verbal noun in अल is used: e. g., Maithili चरी नहि भेलासँ = through notj getting fodder, घुमलासँ की लाभ अछि = What profit is there from wandring about (Grierson, Maithili, Grammar) P. 48; the adjectival अल is rather restricted in Maithili, see Grierson, PP. 113-114 and hence the locative absolute use of it is not found in Maithili corresponding to Bengali से एले = on his coming. (Origin and devlopment of Bengali language Page 1005)

अर्वाचीन मैथिली के ऊपर दिये हुए उदाहरणों के स्थान में 'घुमलें की लाभ, चरी नहि भेटलें की करव' वाक्य भी शुद्ध हैं। अर्वाचीन मैथिली के इन वाक्यों में तथा इस तरह के अन्यान्य वाक्यों में भी सप्तमी देखकर यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अर्वाचीन मैथिली के आधार पर यह कल्पना की गई है।

अर्वाचीन मैथिली में विशेषण बनाने के लिये 'अल' की तरह एन या न प्रत्यय भी होता है, जैसे अवसर गेने आव की करव, घुमने फिरने काज नहि होएत आदि। वर्णनरत्नाकर में भी 'परिहने' रूप पाया जाता है। संभव है कि इनकी उत्पत्ति संस्कृत 'त' (ल) से हुई है। संस्कृत के भी क्लिन्न, छिन्न, भिन्न आदि शब्दों में त 'न' के रूप में वदल जाता है। उसी भ्रमात्मक अनुरूपता के आधार पर 'न' का प्रयोग मैथिली में होने लगा हो—यह असंभव नहीं है।

(ऋ) पूर्वकालिक क्रिया

पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये विद्यापति ने तीन प्रत्ययों का प्रयोग किया है; (१) इ या ई (२) ए या एँ (३) इए। हसि निहारल पलटि हेरि, चरन नेपुर उपर सारी, मुखर मेखर करे नेवारी, तिलक दए मृगमद-मसो वदन सरिस न कर ससी, जत अनुराग राग कें गेल, सखि बुझावए धरिए हाथँ, आदि उदाहरण हैं। प्रेरणार्थक क्रियाओं के वाद प्रेरणार्थक प्रत्यय जोड़कर 'ई' जोड़ा जाता है; जैसे चिन्हायी, लोभायी, कोहायी आदि। कोहायी शब्द 'क्रुध्' धातु से बनी हुई प्रेरणार्थक क्रिया 'कोहाय्' से बना है।

इनकी उत्पत्ति

वैदिक काल में त्वा, त्वाय (क्त्वो यक्) ७।१।४७ पाणिनि और त्वी (स्नात्व्यादयश्च ७।१।४९ पाणिनि) प्रत्ययों का प्रयोग होता है। धातु के पहले उपसर्ग रहने पर त्य या 'य' होता है। पाणिनि के 'इष्ट्वीन मिति च' (७।१।४८) सूत्र से ज्ञात होता है कि 'इष्' धातु के बाद 'त्वीन' प्रत्यय होता है। डा० चटर्जी की राय है कि संभवतः त्वानम् और तुनम्—प्रत्यय भी थे ; क्योंकि पाली के त्वान और तून प्रत्यय इन से मिलते-जुलते हैं।

संस्कृत में धातु के पहले उपसर्ग रहने पर य (ल्यप्) प्रत्यय होता है, किन्तु उपसर्ग नहीं रहने पर त्वा (क्त्वा) प्रत्यय होता है ; जैसे गत्वा, आगम्य। पाली-युग में उपसर्ग-संबंधी नियम शिथिल पड़ गया और उपसर्ग नहीं रहने पर भी 'य' प्रत्यय का प्रयोग होने लगा और 'त्वा' के अतिरिक्त त्वान और तून प्रत्ययों की सृष्टि हुई। प्राकृत में 'त्वा' के स्थान में 'ऊण' हो गया और साथ-साथ पूर्ववर्त्ती अ ए या 'इ' के रूप में परिवर्त्तित हो गया। जैसे हसेऊण, हसिऊण = हसित्वा (एच्च क्त्वातुम्-भविष्यत्सु ८।३।१५७। हेम व्याकरण)। प्राकृत में 'तूण' भी पाया जाता है; जैसे भोत्तूण = भुक्त्वा, वेत्तुण = विदित्वा। मागधी प्राकृत में 'क्त्वा' के स्थान में 'दाणि' आदेश होता है (क्त्वो दाणिः ।११।१६। वररुचि)। विद्यापति की कीर्तिलता (अवहट्ट) में इकारान्त रूप पाये जाते हैं ; जैसे जूआ जीति, पयोधरक भरें भागए चाह (कीर्तिलता पृष्ठ ३६)। अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये आठ विभक्तियाँ बतलाई गई हैं (हेम

व्याकरण सूत्र ८।४।४३९ और ४४०)। इनमें पहली विभक्ति 'इ' है, जिसका प्रयोग उड़िया, आसामी, बँगला, हिंदी तथा बिहार की सब भाषाओं में होता है। विद्यापति के पदों में भी इसी 'इ' की प्रचुरता है। कहीं-कहीं यह दीर्घ भी पाया जाता है ; जैसे सूते सरवर थाही, कोप न कएलह अवसर जानी, बुझल सवे अवगाही आदि। भाषा-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अपभ्रंश-युग में तीन विभक्तियाँ प्रचलित थीं (१) इ (२) इअ (३) अ। भूतकालिक कृदन्त तथा पूर्वकालिक क्रिया की विभक्ति समान (एक ही) हो गई। अर्थ समझने में कठिनाई होती। संभव है कि इसी कारण 'इअ' का अ 'ए' के रूप में परिवर्त्तित हो गया हो। दइए, निवसिए, परिहरिए आदि 'इए' प्रत्ययान्त पूर्वकालिक क्रियाओं के उदाहरण हैं। पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये बहुधा 'इ' प्रत्यय का प्रयोग देखकर इ और ए—दो प्रत्यय समझे जाने लगे और फल-स्वरूप 'ए' भी पूर्वकालिक क्रिया-बोधक प्रत्यय बन गया। विद्यापति के अनेक पदों में धाए, लाए, ओछाए, दए, लए, भए, आदि 'ए' प्रत्ययान्त पूर्वकालिक क्रियाएँ पाई जाती हैं। स्वरों का सानुनासिक बन जाना विद्यापति की भाषा की एक विशेषता है। इसलिए 'ए' का एँ बन जाना असंभव नहीं है। इसका उदाहरण भी एक ही है।

दो एक जगह कहुँ (कर) शब्द भी पाया जाता है ; जैसे सिसिरें महीपति दायें चापि कहुँ राजा भेल वसन्त। 'कहुँ' में कए + हुँ दो शब्द हैं। हुँ एक अव्यय है जिसका प्रयोग हिन्दी में

---

१ आसा दइए परपेअसि आनलि कुलसनो कुलमति नारि।

भी होता है ; जैसे हमहुँ कहब अब ठकुर-सुहाती (रामचरित मानस)।

(ञ) क्रियार्थक संज्ञाएँ

निम्नलिखित प्रत्ययों के योग से संज्ञार्थक क्रियाएँ बनती हैं:—

(१) अन (संस्कृत प्रत्यय)—गमन, चेतन

(२) इ—मारि, गारि

(३) ई—हसी

(४) ए— बहए लागल। इसका प्रयोग पार, चाह, 'दे' के साथ होता है।

(५) ब—देखब, करब। अर्वाचीन मैथिली में इसी की प्रचुरता पाई जाती है। इसका संबंध कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय 'तव्य' से माना जाता है ; जैसे सं० कर्तव्यम् प्रा० करे अव्वं, करिअव्वं करब।

(६) ल—ओ कहल करैत छथि, पद्धतीलासञो की होएत ?

(ट) संयुक्त काल

पद्य की भाषा में चलए, जाय, करए आदि वर्तमानकालिक क्रियाओं की ही प्रचुरता है, किन्तु वर्णनरत्नाकर, तथा विद्यापति के पद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गद्य में सब जगह और पद्य में विरले ही संयुक्त काल के द्वारा वर्तमान काल का बोध होता है। वर्णनरत्नाकर में होइतें अछ, होतें अछ, जपइतें अछ, नचइतें अछ आदि अनेक उदाहरण

हैं। रागतरङ्गिणी में उद्धृत विद्यापति के पद में 'राज सुने छिअ चान्दक चोरि' मिलता है। अर्वाचीन मैथिली के वर्तमान काल में मौलिक काल का प्रयोग नहीं होता है, वरन् सब जगह संयुक्त काल का ही प्रयोग होता है। भूतकालिक कृदन्त के बाद 'अछ' क्रिया जोड़कर भी प्रयोग वर्णनरत्नाकर में (अनुलेपलि अछं, जोलल अछ आदि) पाया जाता है। विद्यापति ने भी इस तरह का प्रयोग किया है; जैसे घर घर पहरी गेल छ जोहि, संयुक्त काल का यह भी एक उदाहरण है। पूर्णभूत के बाद 'अछ' क्रिया जोड़कर भी संयुक्त काल बनता है; जैसे गेलाह अछि, कएलन्हि अछि आदि।

'वर्तमानकालिक कृदन्त' शीर्षक में यह बतलाया जा चुका है कि संस्कृत शतृ प्रत्यय से उत्पन्न 'इत' प्रत्यय के बाद अधिकरण कारक की विभक्ति जोड़कर इते या इतें बनता है। वर्णनरत्नाकर में इते या इतें पाया जाता है। क्रमशः वही इत 'ऐत' के रूप में परिणत हो गया और उच्चारण-सौलभ्य के लिये 'त' का भी लोप कर दिया गया। इस तरह सुनइत छी, करइत छी आदि रूप सुनैत छी, करैत छी आदि के रूप में परिवर्तित हो गये और क्रमशः 'त' का लोप कर सुनै छी, करै छी बन गये। डा० ग्रियर्सन की भी राय है कि 'ऐ' 'ऐत' का ही रूपान्तर है (Maithili Grammar Page 173)। प्रो० चटर्जी का कहना है कि ऐ तथा ऐत—दोनों—एक प्रत्यय नहीं हैं। ऐ क्रियार्थक संज्ञा के अधिकरण कारक का रूप है; क्योंकि यह आश्चर्य मालूम पड़ता है कि एक ही भाषा में एक ही समय में ऐत तथा उसी का संक्षिप्त रूप 'ऐ' का प्रयोग होता हो। भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से संभव हो या असंभव; किन्तु इतना निश्चित है कि दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। उच्चारण-सौलभ्य के लिये केवल 'ऐत' का 'ऐ' ही नहीं होता है, किन्तु जाइत छी, खाइत छी आदि वाक्यों के 'त' का लोप कर जाइ छी, खाइ छी भी बन जाता है। इस तरह ऐत और ऐ तथा इत और इ—दो विभिन्न प्रत्यय हैं—यह तो युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है।

बँगला में सत्रहवीं शताब्दी में इते या 'इ' का प्रयोग विरले ही होता था। विद्यापति के पदों में इनकी अल्पता देखकर मैथिली में भी विद्यापति के बाद अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर इनका प्रचुर प्रयोग होने लगा होगा—यह अनुमान किया जाता, किन्तु विद्यापति के पितामहभ्राता ज्योतिरीश्वर के वर्णन-रत्नाकर में साधारण काल की अपेक्षा संयुक्त काल या इतें (या इते) का कई गुना प्रयोग देखकर यह संदेह ही नहीं उत्पन्न होता।

मगही में देखैत या देखत ही, भोजपुरी में देखत बानी, 'देखतानी' का प्रयोग होता है। विभिन्न समय की बङ्गभाषा में चलिते छे, चलि छे, चल् छे आदि अनेक रूप पाये जाते हैं। उड़िया में करु छी, करु छूँ आदि रूप होते हैं।

(ठ) प्रेरणार्थक क्रियाएँ

साधारणतः विद्यापति की भाषा में (१) आओ (२) आय तथा (३) आय या आए जोड़कर प्रेरणार्थक क्रिया बनती है; जैसे वारिस रअनि गमाओल जागि, कुचयुग-चकोर चराओल रे, रयनि गमावए जागी, सखि बुझावए धरिए हाथँ,

एकहिं बेरिं अनुराग बढ़ाओल; पहिनहि अमृत लोभायी, अन्ते सिन्धु धसि विषवचन कोहायी (यह क्रुध् धातु की पूर्वकालिक प्रेरणार्थक क्रिया है। प्राकृत में 'ध' का 'ह' परिवर्तन होता है; जैसे बुध से बुह। साथ-साथ 'र' का लोप भी प्राकृत की एक विशेषता है। 'लोभायी' की तरह 'उ' का गुण 'ओ' हो गया तथा प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आय' जोड़ दिया गया। 'क्रोध' के स्थान में 'कोह' का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है; जैसे दूध-मुख करिय न कोहू), हीराधारँ हराएल हीर आदि। इनके अतिरिक्त तत्सम और तद्भव शब्द ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं, किन्तु उनके साथ णिच् या कोई दूसरा प्रेरणार्थक प्रत्यय नहीं मिलता है। उन तत्सम शब्दों के बाद वर्तमान, भूत आदि की विभक्ति पाई जाती है।

तत्सम शब्द

परबोधलि, निवेदए, मेलल्ह,

तद्भव शब्द

संस्कृत	प्राकृत	विद्यापति के पद
दर्शयति	दरिसइ	दरसए
प्रज्वालय	पज्जरह	पजारह
पोषयति	पूस	पोस
प्रसाधयसि	पसाहेसि	पसाहसि
छोटयति (छुट)	छट्टइ	छाड़ए
योजयित्वा	जुज्जि	जोरि
ब्रोडयित्वा (ब्रुड)	वुड्डि	बोरि
स्थाप्	ठाव्	थाप् या थोए (थोएल)

कर्मवाच्य

'आइअ' जोड़कर प्रेरणार्थक क्रिया का कर्मवाच्य बनता है; जैसे काढ़िअ जेहे वहाइअ सेह तवे से मिलए दुलभ नेह, विरह महाइअ नारि। हसाविअ, पढ़ाविअं आदि प्राकृत शब्दों के आविअ प्रत्यय का रूपान्तर 'आइअ' है।

इनकी उत्पत्ति

संस्कृत में 'णिच्' प्रत्यय से प्रेरणा अर्थ का बोध होता है। इ (णिच्) + अ = अय है। इस तरह प्रेरणाबोधक प्रत्यय 'अय' था। आकारान्त धातुओं के बाद 'प' जोड़कर 'पय' से प्रेरणा अर्थ का बोध होता है। पाली में 'अय' 'आपय'—दो प्रत्यय हैं, किन्तु अय तथा 'आपय' के 'अय' के स्थान में 'ए' आदेश भी होता है; जैसे 'कृ' से—कारपति, कारापयति, कारापेति तीनों शुद्ध शब्द हैं और तीनों से एक ही 'अर्थ' का बोध होता है। प्राकृत-युग में 'अय' का लोप हो गया और 'आवे' के रूप में आपे तथा ए प्रत्ययों से प्रेरणा का बोध होने लगा; जैसे कारेइ, करावेइ। 'ए' के पहले उपधा 'अ' के स्थान में 'आ' होता है; जैसे हासेइ। अशोक के शिला-लेखों में आरापित, पारापित आदि शब्द पाये जाते हैं। प्राकृत 'आवे' विद्यापति की भाषा में 'आव' बन गया है। फारसी से प्रभावान्वित होने के कारण 'आव' का उच्चारण 'आओ' होने लगा। आज-कल भी फारसी पढ़े-लिखे सज्जन 'देव' का उच्चारण 'देओ' करते हैं। इसलिये मुसलमानी शासन के समय इस

(१) आवे च ।७।२७। णिच एदादेशत आत् ।७।२७। वररुचि ।

तरह उच्चारण में परिवर्तन होना असंभव नहीं है। प्रथम लेखक की तरह अन्यान्य लेखकों के लेख में विशुद्धता नहीं है। इसलिये संभव है कि कोहायी और 'लोभायी' की जगह कोहाई और लोभाई हों। इस प्रकार इन दोनों शब्दों में 'आव' का संक्षिप्त रूप 'आ' है और उसके बाद ई (पूर्वकालिक-क्रिया-बोधक) प्रत्यय है। 'हराएल' शब्द में 'आ' प्रेरणार्थक प्रत्यय है और उसके बाद 'आएल' की तरह 'ए' जोड़ दिया गया है। यदि लोभायी शुद्ध शब्द है तो सं० 'अय' का रूपान्तर 'आय' है। 'आव' प्रत्यय आकारादि है। यही कारण है कि 'अय' भी आकारादि बन गया हो।

प्रो० चटर्जी ने बतलाया है कि मैथिली में दोबारा भी प्रेरणार्थक प्रत्यय जोड़ा जाता है; जैसे देखब—देखाएब—देखबाएब, गिरब—गिराएब—गिरबाएब। 'गिरब' धातु का प्रयोग अर्वाचीन मैथिली में नहीं होता है।

चर्याचर्यविनिश्चय में भी मैथिली की तरह 'आव' प्रत्यय से प्रेरणा अर्थ का बोध होता है; जैसे बन्धावए (चर्या २२)।

(ङ) नामधातु

संस्कृत में क्यच् (य), क्यङ् (य), काम्यच् (काम्य), णिच् (अय) तथा क्विप् (= ०) जोड़कर संज्ञा धातु के रूप में परिवर्तित होती है; जैसे पुत्रीयति, पुत्रायते, पुत्रकाम्यति, प्रश्नयति, पुत्रति। पाली में आय (पब्बतायति), ईय, (पुत्ती-यति), अय (पमाणयति) प्रत्यय जोड़कर नाम धातु बनता है (पाली प्रकाश (पृ. २३२)। संस्कृत तथा पाली का 'आय'

प्राकृत में 'आ' बन गया। अर्थात् 'य' का लोप होगया (हेम व्याकरण (८।३।१३८)। बँगला तथा अन्य भाषाओं में जहाँ 'आ' से प्रेरणा अर्थ का बोध होता है, यह समझना कठिन-सा हो गया कि यह प्रेरणार्थक क्रिया है या नामधातु, किन्तु विद्यापति की भाषा में केवल 'आ' से प्रेरणा अर्थ का बोध विरले ही होता है। इसलिये इस कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा, तथापि पाली या प्राकृत का अनुसरण नहीं कर संस्कृत का सबसे सीधा प्रत्यय ले लिया गया। संस्कृत में 'क्विप्' प्रत्यय के सब अक्षरों का लोप हो जाता है, केवल शून्य बचता है। इस निराकार प्रत्यय के जोड़ने से भी यह लाभ होता है कि नामधातु बन जाता है और उसके बाद अ (शप्) जोड़ा जाता है। विद्यापति की भाषा में भी इसी नियम का अनुसरण किया गया; जैसे उपहास—उपहासए, कवल—कवललि। उपहास और कवल धातु बन गये और उनके बाद वर्त्तमान तथा भूतकाल की विभक्तियाँ 'ए' तथा 'ल' जोड़ी गई। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ 'आ' प्रत्यय जोड़ा जाता है; जैसे समाइ, सजाइ, पतिआए।

नामधातु के कुछ उदाहरण

जनम—जनमए, जनमु। (प्रा० वाज सं० वाद्य)—बाजए। समन्द (संवाद)—समन्दए, समन्दल। अङ्गिर (अङ्गीकार) अङ्गिरि। सुन (सुप्त)—सुनसि। सुख (शुष्क)—सुखाए। चाप—चापि।

(ढ) अछ, हो, थाक, रह क्रियाएँ

(१) अच्छ

पाली में आस् धातु के रूप 'अच्छति, अच्छन्ति, अच्छसि, अच्छथ, अच्छामि, अच्छाम' होते हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने भी 'आस' का ही रूप 'अच्छई' बतलाया है। गमिष्यमासां छः (८।४।२१५। हैम व्याकरण)। पिशेल साहब ने बतलाया है कि 'अच्छइ' महाराष्ट्री, अर्धमागधी, आवन्ती, पैशाची तथा पच्छिमी अपभ्रंशों में पाया जाता है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के उदाहरणों में अच्छइ (जं अच्छइ तं मणिअइ) शब्द का प्रयोग किया है (८।४।३८८। हैम व्याकरण)। एक जगह 'अच्छउ' का भी प्रयोग किया गया है (८।४।४०६। हैम व्याकरण)। मागधी से उत्पन्न सब ही भाषाओं में (मगही और भोजपुरी छोड़कर) यह किसी न किसी रूप में पाया जाता है। तुलसी, जायसी, कबीर आदि की भाषाओं में भी यह क्रिया पाई जाती है; जैसे, तुमहि अछत को बरनै पारा। तोर अछत दसकंधर मोर कि अस गति होय (रामचरितमानस), यह कबीर किछु अछिलो न जहिया, केवल न आछै आपनि वारी, का निचित रे मानुष आपन चीते आछु। जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बतलाया है कि अवध के कुछ हिस्सों में—जायस और अमेठी के आसपास 'है' के स्थान में 'अहै' बोलते हैं। इससे और ऊपर के उद्धरणों से आपने यही सिद्ध किया है कि अवधी में सत्तार्थक अकारादि क्रिया का व्यवहार होता था।

इसकी उत्पत्ति के विषय में मतभेद

यह बतलाया जा चुका है कि हेमचन्द्र ने 'आस' से इसकी उत्पत्ति मानी है। वररुचि ने शौरसेनी के विशेष नियमों में 'अस्' (होना) से इसकी उत्पत्ति बतलाई है (अंस्तेरच्छः।१२।१९।)। पिशेल साहब 'ऋच्छ' से इसकी उत्पत्ति मानते हैं (M. Achhai, Pali achhti is derived by Pischel from richhati is explained by others as an inchoative from as or as, Pischel Gr. Article 480, Geiger, Pali Gr. Article 135. 2, Introduction to Prakrit Page 113) ग्रियर्सन साहब ने काश्मीरी भाषा के कोष में बतलाया है कि काश्मीरी शब्द 'गत्श' (जिसका अर्थ है जाना) होने के अर्थ में व्यवहृत होता है। इसलिये असंभव नहीं है कि गमनार्थक 'ऋच्छ' से बने हुए 'अच्छ' का 'होना' अर्थ में प्रयोग हो। प्रो० चटर्जी ने इसकी उत्पत्ति 'अच्छ' धातु से मानी है। आपका कहना है कि संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग नहीं पाया जाता है, किन्तु संस्कृत में यह शब्द अवश्य था। भारत युरोपीय 'एस्' धातु (= सं० अस्) था जो एसेति, (असति सं०) एस् स्केति रूपों में बदलता हुआ अच्छ बन गया है। आपकी राय में ऋच्छति, पृच्छति, इच्छति आदि के 'च्छ' अक्षर का मूल कारण भारत युरोपीय स्के या स्को है। लैटिन, ग्रीक आदि विदेशी भाषाओं के उदाहरणों के द्वारा आपने इसका समर्थन किया है।

विद्यापति के पदों में वर्तमान को अन्यपुरुष का रूप

अछ[1] और भूतकाल का रूप 'छल' पाये जाते हैं; जैसे अर्थ अछ सुधा, इथी अछ हास, सहज सितल छल चन्द दूध वहलि अछ डाढ़ी, कत अछ कानन, तोरा अछि पंचसर तें तोहि नहिं डर। कोकिल करइछ फेरा, बोलइछ कान्ह आदि पदांशों में 'छ' भी पाया जाता है। वर्णरत्नाकर में भी 'अछ' 'छथि' आदि रूप पाये जाते हैं। विद्यापति के पदों में 'अछए' रूप भी पाया जाता है; जैसे—रसमति अछए कता, तुअ गुन वान्धल अछए परान। कर्मवाच्य की क्रिया 'छिअ' भी पाया जाता है (राज सुनैछिय चान्दक चोरि)। अर्वाचीन मैथिली में अछि (एक.) छथि (बहु.) अन्य पुरुष, छह (मध्यम पुरुष बहुवचन), छी (उत्तमपुरुष) रूपों का प्रयोग होता है। संस्कृत में लट् के द्विवचन तथा बहुवचन में 'अस्' के 'अ' का लोप हो जाता है; जैसे स्तः, सन्ति, स्थः, स्थ आदि। इसी सादृश्य के आधार पर बहुवचन के रूपों में 'अ' का लोप हो जाता है। मध्यम तथा उत्तम पुरुषों में बहुवचन के रूप का ही एकवचन में भी व्यवहार होता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि 'अछ' की उत्पत्ति 'अस्' से हुई है।

धातुरूप

(२) हो (होना)

संस्कृत 'भू' धातु से पाली हु या भू धातु बना। महाराष्ट्री में होइ, शौरसेनी में भोदि, मागधी में 'होदव्व' का प्रयोग होता

---

(१) कीर्तिलता में भी 'अछ' पाया जाता है; जैसे मोरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाए,

है। अशोक के शिलालेख में भी यह पाया जाता है। भाग्ड में होंगी तथा अन्यान्य शब्दों के आदिम 'भ' के स्थान में 'ह' देखकर ज्ञात होता है कि संस्कृत 'भ' के स्थान में 'ह' होता है। अनेक भाषाओं में 'अह' का भी व्यवहार होता है जिसकी उत्पत्ति संस्कृत 'अस्' से मानी जाती है, किन्तु विद्यापति की भाषा में सब जगह 'हो' धातु का ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे—हरखित हो लक्ष्मा के राए, बाहर होइतें साति। जीवओ देलें न होए भरोस आदि। 'हो' धातु के भूतकाल में 'भेल' होता है न कि होइल। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'भू' से हुई है। प्राचीन हिन्दी में भी 'भया' (हुआ) का प्रयोग होता था। संस्कृत में वर्त्तमान काल 'अस्' धातु का रूप 'अस्ति' होता है, किन्तु भूतकाल में बभूव और अभूत् होते हैं। संभव है कि इसी सादृश्य के आधार पर वर्त्तमान तथा भविष्यत् काल में 'हो' और भूतकाल में 'भू' से उत्पन्न 'भ' का प्रयोग होना आरंभ हुआ हो।

ग्रामीण भाषा में 'अस्' धातु से उत्पन्न 'अह' का भी प्रयोग होता है। मगही में भी मैथिली 'अछ' धातु के स्थान में 'अह' धातु का प्रयोग होता है। मैथिली 'हम जाइत छी' की जगह मगही में 'हम जाइत ही' का व्यवहार होता है।

(३) थाक

इस धातु का प्रयोग विद्यापति के पदों में विरले ही पाया जाता है। मैथिल विद्वानों की धारणा है कि यह बँगला की क्रिया है; क्योंकि अर्वाचीन मैथिली में इसका प्रयोग नहीं होता है और विद्यापति पदावली में बंगाली संपादक का मनमाना

परिवर्तन है, किन्तु मैथिल विद्वान् के घर में सुरक्षित तालपत्र पर लिखित अति प्राचीन पदावली में भी 'कत-कत भान्तिलता नहि थाक, थिर मन कए थाक' आदि पदांशों में 'थाक' क्रिया का प्रयोग देखकर ज्ञात होता है कि यह मागधी अपभ्रंश का रूप है और इसका व्यवहार मैथिली में भी होता था। क्रमशः मैथिली में इसका प्रयोग कम होने लगा और बँगला ने इसे अपनाया। यही कारण है कि बँगला में इसका व्यवहार इस समय तक होता है और मैथिली में इसका व्यवहार नहीं ही होता है।

प्राकृत पिङ्गल में थक्कइ (कंतरा थक्कइ पासे, पृ० ५६३) और 'थक्कउ' (ताक जणणि किरण थक्कउ वंभउ, पृ० ४७०) के अतिरिक्त उसी की प्रेरणा अर्थ में 'थप्प' का प्रयोग देखकर ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-युग में 'थक्क' का व्यवहार होता था। हेमचन्द्र ने भी 'स्था' के स्थान में 'थक्क' आदेश बतलाया है (स्थष्ठा-थक्क-चिट्ठ-निरप्पाः। ८। ४। १६। हैम व्याकरण)। पाली में केवल 'ठा' धातु का प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार यह मालूम पड़ता है कि प्राकृतयुग से इसका प्रयोग आरंभ हुआ है और इसकी उत्पत्ति सं. 'स्था' से हुई है। हार्नली साहब स्तभ् + कृ से इसकी उत्पत्ति मानते हैं।

(४) रह्

ठहरना, रुकना, निवास आदि अर्थों में इसका प्रयोग भारत-वर्ष की अनेक भाषाओं में (हिन्दी, बँगला, बिहारी, आसामी, गुजराती, सिंधी, मराठी आदि) होता है। विद्यापति ने भी

अनेक बार इसका प्रयोग किया है ; जैसे जखने जते विभव रहए तखने तेहिं गमात्र, करहिं मिलल रह मुख नहि सुन्दर, चिन्ता त्रे चेतन अधिक वेआकुल रहलि सुमुखि रहलि सिर लाई, सुनि सेज सुति रहल, हेरइते न रहए लोभ कि आदि।

इसकी उत्पत्ति

प्लैट साहब ने 'हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' में इसकी उत्पत्ति 'रक्ष' धातु से बतलाई है। सं० रक्ष्यते प्रा० रक्खिअइ रखिअइ, रहिअइ से रहइ बना है। प्रो० चटर्जी इस तरह की व्युत्पत्ति से सहमत नहीं हैं। आपने बतलाया है कि संस्कृत रह् (व्याज करना), रंह् (शीघ्रता करना), लंघ् (लाँघना) से भी रह् धातु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि इन धातुओं के अर्थ में तथा 'रह' धातु के अर्थ में बहुत अन्तर है। अर्ह् का पाली रूप अरह् प्राकृत रूप 'अरिह' है। इस प्रकार 'अर्ह्' से 'रह' का उत्पन्न होना संभव है, किन्तु रह् और अर्ह् (योग्य होना) के अर्थ में जरा भी समानता नहीं है। ग्रीक, लैटिन जर्मन आदि भाषाओं के रीजेन, रेवो, रीये अर्ख आदि शब्दों के साथ तुलना करने पर यह भारत यूरोपीय भाषा का शब्द मालूम पड़ता है—यह अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है।

प्राकृत पिङ्गल, जैन महाराष्ट्री, जैनकाव्य में 'रह' धातु पाया जाता है। अशोक के स्तम्भ-घोषणापत्र (Pillar Edict) में 'लघंति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है जिसकी व्याख्या बुहलर साहब ने (are eager) की है, किन्तु प्रो० चटर्जी की राय है कि इसका अर्थ 'रहना' है और लघ 'रह' का पूर्वकालिक रूप'

है। अशोक-शिलालेख में 'अलहामि' (अर्हामि) पाया जाता है। इसलिये इसकी उत्पत्ति संस्कृत रघ-रह्-लघ से मानी गई है (Origin and development of Bengali language Page 1042)।

'राज्' का प्राकृत रूप 'रेह' है। इसलिये असंभव नहीं है कि उसी 'रेह' से 'रह' की उत्पत्ति हुई हो। इस समय विनय दिखलाने के लिये 'रहिए' के अर्थ में 'विराजिए' का प्रयोग होता है। इस प्रकार अर्थ और शब्द—दोनों में समानता के कारण 'राज्' ही 'रह' का मूलधातु मालूम पड़ता है।

(ण) पुनरुक्त धातु

विद्यापति के पदों में 'चहकि-चहकि दुइ खञ्जन खेल'—इसी एक पदांश में पुनरुक्त पूर्वकालिक क्रिया पायी जाती है।

(त) संयुक्त क्रिया

धातुओं के कुछ-कुछ विशेष कृदंतों के आगे क्रियाएँ जोड़ने से जो क्रियाएँ बनती हैं उन्हें संयुक्त क्रियाएँ कहते हैं। संज्ञा के बाद भी क्रियाएँ जोड़ने से भी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं; जैसे—दर्शन करना, ध्यान देना आदि, किन्तु विद्यापति के पदों में इस तरह के उदाहरण नहीं मिलते हैं।

संयुक्त काल तथा संयुक्त क्रिया में समानता नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इनमें जो सहकारी क्रियाएँ जोड़ी जाती हैं उनसे 'काल' का कोई विशेष अर्थ सूचित नहीं होता, किन्तु मुख्य क्रिया तथा सहकारी क्रिया के मेल से एक नया अर्थ उत्पन्न होता है। इसके सिवा 'संयुक्त' कालों में जिन

कृदंतों का उपयोग होता है उनसे बहुधा भिन्न कृदंत संयुक्त क्रियाओं में आते हैं; जैसे "जाता था" संयुक्त काल है; पर 'जाने लगा' या 'जाया चाहता है' संयुक्त क्रिया है। इस प्रकार अर्थ और रूप दोनों में 'संयुक्त क्रियाएँ' 'संयुक्त कालों' से भिन्न हैं; यद्यपि दोनों मुख्य क्रिया तथा सहकारी क्रिया के मेल से बनते हैं (हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु पृ० ३५४)।

नीचे कुछ वैसे पदांश उद्धृत किये जाते हैं जिनमें विद्यापति ने संयुक्त क्रियाओं का व्यवहार किया है।

(१) पे असि करए कि पारे (२) जामिनि दुर गेलि लुकि गेल चन्द (३) हठ तेज माधव जएवा देह (४) राखल चाहिअ गुपुत सिनेह (५) जागि जाएत पुर परिजन मोर (६) उगि गेल चन्दा करम-चण्डार (७) पुनु पलटए न जाय (८) कि सखि कहब मञे कहल न जाई (९) सहए पार के सन्ताप (१०) अइसनि निसि अभिसार लोहि तेजि करए के पार (११) हृदअ तोहर जानि न भेला (१२) साजनि, जानि ले तन्त (१३) पर दए समन्दए न जाइ (१४) लीलाञे नागर हेरए चाह (१५) लिहि गेल अपनुक नामा रे (१६) जे नहि फलेँ निरवाहए पारिअ से बोलिअ कथि लागी (१७) माधव सबे काज अहिलहुँ साही (१८) एक रूप रह, जुग नहि जाए (१९) पलटि जाइते घर बड़ बलहीन (२०) नीवीमोप करए के पार (२१) अपदहिं गेल सुखाए (२२) कओने देव पलटाय (२३) अइसन नीरज देलए जोलि (२४) कम्मक दीपे विघटि गेलि साटि (२५) अधर अरुनिमा लखि नहि होए (२६) चान्दक भरमे अमिअ-रस

लालस अजिठ कए जाएत चकोर (२७) गेल चाहिअ पिअसेव (२८) सुनि सेज सुति रहल (२९) तुलना करए ना पारए जाक (३०) नव मधुमासहि तइसन न देखिअ जे अनुरञ्जए पारे (३१) अभिभव कहहि न जाइ (३२) माननि जानिले तन्तू (३३) सिसिर महीपति दापे चापि लेल।

(थ) सहायक क्रिया 'हल'

मैथिली में सहायक क्रिया 'हल' (डालना) का व्यवहार बहुत प्राचीन समय से होता है। म. म. ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने वर्णरत्नाकर में बारबार इसका प्रयोग किया है; जैसे तें आङ्ग मर्दि हलु, वासल उवटने उवटिहलु, एक तें चपनाहि हलु (समरहर वर्णना), पथिकन्हि पथसञ्चार त्यजिहलु (मध्याह्न वर्णना) यौवनक परित्याग कए हलल (कुट्टनी वर्णना), शेषे माथ नावि हालु (प्रयानक वर्णना)। विद्यापति ने भी अपने पदों में कई एक बार इसका प्रयोग किया है, जैसे मुखे हललक काटी, दुहु हल हृदअ विचारि, बुझि हल भमर जइसन तोहें रसी आदि। मध्य कालीन बँगला में भी चलिहलि, करिहलि, दिहलि, आदि शब्द पाये जाते हैं, किन्तु प्रो० चटर्जी का अनुमान है कि इनमें 'ली' प्रत्यय है और इस प्रत्यय के जोड़ने से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होता है। मैथिली तथा बँगला दोनों ही भाषाओं में सब जगह 'हलि' हलु आदि रूप देखकर तथा हलल शब्द में 'हल' के बाद भूतकाल का प्रत्यय 'ल' देखकर यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि 'हल' सहायक क्रिया है।

पाँचवाँ अध्याय

रचनात्मक प्रत्यय तथा उपसर्ग

संज्ञाओं की बनावट में धातु, प्रत्यय तथा कारक चिह्न सम्मिलित रहते हैं। धातु तथा कारकों का विवेचन पहले हो चुका है। इस समय संक्षेप रूपसे प्रत्ययों का वर्णन करना है। विद्यापति के समय तक देशी भाषाओं में प्रचुरता से संस्कृत शब्दों तथा प्रत्ययों का व्यवहार होने लगा था। संस्कृत शब्दों के बाद तो ये प्रत्यय आते ही थे, किन्तु कभी-कभी तद्भव शब्दों के बाद भी उनका व्यवहार पाया जाता है; जैसे कुरुण ([illegible]) इनके अतिरिक्त तद्भव शब्दों के बाद तद्भव प्रत्यय भी पाये जाते हैं; जैसे, चान्दमुख।

संस्कृत प्रत्ययों का वर्णन करना संस्कृत व्याकरण का काम है तथा अनेक प्रत्ययों का विस्तृत वर्णन पहले हो चुका है। इसलिये उन प्रत्ययों का भी अनावश्यक वर्णन कर ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना मेरा अभीष्ट नहीं है। यही कारण है कि नीचे इने-गिने तद्भव प्रत्ययों का ही वर्णन किया जाता है।

तद्भव प्रत्यय

(१) अ

यह पहले बताया जा चुका है कि मैथिली के कर्त्ता के एकवचन में कोई विभक्ति नहीं जोड़ी जाती है। परिणाम-स्वरूप अकारान्त शब्दों में 'अ' से ही कर्त्ता का बोध होता है। संभव है कि यह संस्कृत प्रथमा एकवचन 'अः, आ, अम्' का

स्मृति चिह्न हो। बोल, मन, पिआस, धरम, पेम, जस, लाज, साँझ, धन्ध, आदि इसके अनेक उदाहरण हैं। इनमें लिङ्ग के अनुसार संस्कृत की तरह विभिन्न विभक्ति का प्रयोग नहीं पाया जाता है, किन्तु सब जगह 'अ' से ही कर्ता का बोध होता है।

(२) अन

यह संस्कृत प्रत्यय है। गमन, मान, भान आदि तत्सम शब्दों के अतिरिक्त 'फुरन' शब्द भी पाया जाता है जो संस्कृत 'स्फुरण' से बना है।

अब (व) तथा अल (ल) प्रत्ययों का वर्णन पहले हो चुका है।

(३) आ

(१) स्त्रीलिंग शब्दों में 'आ' से स्त्रीलिंग का बोध होता है; जैसे सीमा, मेला, साला, माला, रेहा आदि।

(२) अनेक आकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्द भी हैं; जैसे सोना, घोड़ा आदि।

(३) विशेष प्रेम या घृणा दिखलाने के लिये भी अकारान्त शब्दों के बाद 'आ' प्रत्यय जोड़ा जाता है; जैसे चन्दा, कन्ता, नेहा आदि।

(४) आई (भाववाचक संज्ञा)

डा० चटर्जी ने ज्ञापिका, द्रापिका आदि संस्कृत शब्दों में प्रयुक्त 'आपिका' से (आविआ, आविअ, आवी, आइ) इसकी उत्पत्ति मानी है। (Origin of Bengali Page 661) बड़ाई, लड़ाई आदि इसके उदाहरण हैं। हार्नली साहब

ने सं० 'ता' में स्वार्थ 'क' जोड़ कर सं० तिका प्रा० दिया या इआ से 'आई' की उत्पत्ति मानी है (Eastern Hindi Grammar Section 223)। 'मिठाई' की उत्पत्ति 'मिष्टता' से हो सकती है, किन्तु इस तरह लड़ाई शब्द की उत्पत्ति होना युक्ति युक्त नहीं मालूम पड़ता है।

आई या आयी अल्पार्थक प्रत्यय भी है; जैसे कन्हाई या कन्हायी। हार्नली की राय में सं० आकिक (कृष्णाकिक, कन्हाइअ, कन्हाई, कनाई) से इसकी उत्पत्ति हुई है (E. Hindi Grammar Pages 100-101)। मधाई, बलाई आदि समान शब्दों का व्यवहार मैथिली में नहीं होता है, 'कन्हाई' शब्द का व्यवहार भी आधुनिक मैथिली में नहीं होता है।

रचनात्मक प्रत्यय

(५) आर, आरी, आल

आर तथा आरी संस्कृत 'कार' के रूपान्तर मात्र हैं। इसी प्रकार आल 'पाल' का रूपान्तर है। पुजारी = पूजाकार, बनिजार = वाणिज्यकार, अन्धार = अन्धकार, गोआल = गोपाल (गोआड़, गोआर शब्द भी पाये जाते हैं)। आधुनिक मैथिली में लकारान्त रूप का व्यवहार नहीं होता है, केवल पुं० गोआर, स्त्री० गोआरि शब्द व्यवहृत होते हैं। भण्डार = भाण्डागार शब्द में 'आर' आगार का रूपान्तर है। प्रो० चटर्जी ने 'गमार' की उत्पत्ति 'ग्रामकार' से मानी है, किन्तु दोनों के अर्थों में जरा भी समानता नहीं है। इसलिये यह

युक्ति संगत नहीं मालूम पड़ता है। संभव है कि 'ग्रामभार' से इसकी उत्पत्ति हुई हो।

(६) आव

यह पहले बताया जा चुका है कि 'आव' प्रेरणार्थक प्रत्यय है। उसी प्रत्यय से संज्ञा भी बनती है। इन पदों में परथाव (बाजार) इसका एकमात्र उदाहरण है।

(७) आस (भाववाचक संज्ञा)

हार्नली इस प्रत्यय को सं० 'वाञ्छा' का संक्षिप्त तथा परिवर्त्तित रूप मानते हैं (H. E. Grammar 283), किन्तु इसके समर्थन में कोई भी विशेष युक्ति नहीं दीख पड़ती है। 'पिआस' की उत्पत्ति सं० 'पिपासा' से हुई है। अपभ्रंश युग में भी इस शब्द का व्यवहार पाया जाता है; जैसे पिआस कि छिज्जइ (हैम व्या० ८।४।४३४)।

(८) इ, ई

(१) वे शब्द जो संस्कृत में इन् भागान्त थे या जिनके 'ई' वर्ण के बाद व्यंजन था विद्यापति के पदों में 'ईकारान्त' रूप में पाये जाते हैं; जैसे ससी (शशिन्), साई (स्वामिन्), पानी (पानीय) आदि।

(२) संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग बोधक प्रत्यय ई (ङीप् या ङीष्) है। प्राकृत-युग तक यही क्रम जारी रहा, किन्तु अपभ्रंश युग में ह्रस्व 'इ' का भी व्यवहार होने लगा (स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ, हैम व्या० ८।४। ३३०)। संभव है कि छन्द के अनुरोध से भी ह्रस्व 'ई' ने दीर्घ 'ई' का स्थान ले लिया हो। इस प्रकार विशेषण तथा संज्ञाओं के बाद ई (भोरी, राही,

बिरानी, अरसी, तीती आदि) के अतिरिक्त 'इ' भी पाया जाता है; जैसे नारि, आरति, धनि, नागरि, पुहवि, बानि, आदि।

(३) इ या ई जोड़कर भाववाचक संज्ञा भी बनती है; जैसे धसमसि धाधसि, बोली, चोरी, मसी आदि।

(४) तत्सम प्रत्यय—राति, पाँति आदि।

(५) सं० 'ग्राहक' से उत्पन्न 'गाहक' के बाद स्वार्थ में इ (गाहकि)

विद्यापति ने एक जगह परिचित (चिन्हार) अर्थ में 'चीन्हि' शब्द का व्यवहार किया है।

इत (वर्तमानकालिक कृदन्त), उ (आज्ञार्थक क्रिया का प्रथम पुरुष), क (भूतकाल प्र० पु०), केर या एर (संबंध की विभक्ति) का वर्णन पहले हो चुका है।

(९) नि, नी

संस्कृत नकारान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग रूपों के अन्त में 'नी' पाया जाता है; जैसे, गुणिन्—गुणिनी, योगिन्—योगिनी आदि। इसी भ्रमात्मक अनुरूपता के आधार पर 'नी' या 'नि' स्त्रीलिङ्ग बोधक प्रत्यय माना जाने लगा और इसका व्यवहार प्रचुरता से होने लगा। रानी, डाइनि, पावनि आदि इसके उदाहरण हैं। आधुनिक मैथिली में विदेशी शब्दों के बाद भी 'नी' लगाकार मेहतरनी, डाक्दरनी आदि शब्द व्यवहृत होते हैं।

(१०) पन (भाववाचक संज्ञा)

'सुन्दरपन' शब्द एक बार पाया गया है। इसकी उत्पत्ति सं० त्व, त्वन प्रा०, 'प्पं, प्पणं' से हुई है।

(११) र

इसकी उत्पत्ति सं० 'र' से हुई है। संस्कृत की तरह इस प्रत्यय के योग से बने हुए शब्द विशेषण होते हैं; जैसे आगर (अग्र+र), थोर (थो+र), तीखर (तीक्ष्ण+र)। स्त्रीलिङ्ग में 'रि', का व्यवहार होता है; जैसे झामरि, छाहरि, विजुरि आदि।

(१२) रू

सं० रूप, प्रा० रूव से इसकी उत्पत्ति हुई है; जैसे गोरू (गोरूप)। भोजपुरी में मेहरारू (महिलारूप का व्यवहार होता है।

(१३) सर

सं० 'सृ' धातु के बाद 'ट' प्रत्यय जोड़कर सर' बनता है। पुरःसर, अग्रसर आदि संस्कृत शब्दों में 'सर' का 'चलने वाला' अर्थ होता है। इसी अर्थ में इस प्रत्यय का भी व्यवहार होता है; जैसे एकसर—अकेला (एक चलनेवाला), भिनसर—प्रातःकाल (भिन्न अर्थात् अलग अलग होकर चलनेवाला; क्योंकि उस समय मनुष्य अलग-अलग होकर नित्यकर्म करते हैं)।

एक जगह 'जिवैकके न हनिअ मारि' (जीते को नहीं मार डालना चाहिए)—पदांश में 'जिवैक' के अन्त में 'ऐक' प्रत्यय पाया जाता है। संभव है कि इसकी उत्पत्ति सं० 'इक' से हुई हो। कीर्तिलता में फारसी के अनेक शब्द पाये जाते हैं, किन्तु इन पदों में वे नहीं के बराबर हैं। इसलिए यहाँ फारसी प्रत्ययों का उल्लेख नहीं किया जाता है।

उपसर्ग

यहाँ भाषा वैज्ञानिकों के द्वारा वर्णित उपसर्गों का उल्लेख किया जाता है। इनमें बहुत-से वैसे भी शब्द हैं जो संस्कृत वैयाकरणों की राय में उपसर्ग नहीं हैं। अनु (अनुराग), अति (अतिभिति), तथा अभि (अभिमत तत्सम शब्दों के साथ व्यवहृत हुए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उपसर्ग हैं जिनका व्यवहार तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ पाया जाता है। वे ये हैं :—

(१) अ

संस्कृत व्याकरण में व्यंजन के पहले 'न' के स्थान में 'अ' होता है। उसी निषेधार्थक 'अ' का व्यवहार विद्यापति के पदों में भी पाया जाता है; जैसे अथाह, अचेतन, अगेआन आदि। 'अनुचित' अर्थ में भी इस 'अ' का व्यवहार होता है; जैसे अकाज (अनुचित काज), अठाम (अनुचित स्थान)।

(२) कु

'बुरा' अर्थ में इसका व्यवहार होता है; जैसे कुगइँआ गारि।

(३) नि

सं० 'निर्' से इसकी उत्पत्ति हुई है; जैसे निसङ्क—निःशङ्क। सं० 'नि' भी पाया जाता है; जैसे निहारि।

(४) वि

यह संस्कृत उपसर्ग विनती, विरह, विहृदअ, विचारि आदि शब्दों में 'वि' के रूप में पाया जाता है; किन्तु जिन संस्कृत शब्दों में सन्धि-नियमानुसार 'इ' के स्थान में 'य' (यण्) हो

गया है वहाँ स्वरभक्ति के द्वारा वि 'वे' के रूप में पाया जाता है; जैसे वेवहार (व्यवहार), वे आज (व्याज)।

(५) स

सं० व्याकरण में भी 'सह' के स्थान में 'स' होता है। वही 'स' उसी (साथ) अर्थ में यहाँ भी व्यवहृत हुआ है; जैसे, सकन (सकर्ण), सआनी (सज्ञानी) साँचीत (सचित्त, सहृदय)।

(६) सु

संस्कृत की तरह 'उत्तम' अर्थ में इसका व्यवहार होता है; जैसे, सुजानि, सुरङ्ग, सुजन, सुपुरुस। इसी प्रकार 'कठिन' अर्थ में दु या 'दुर्' का व्यवहार होता है; जैसे दुर्लभ, दुरजन, दुरनय।

छठा अध्याय

(१)

ध्वनि-समूह

इस अध्याय में वे ही ध्वनियाँ बताई जायँगी जो विद्यापति के इन ८६ पदों में पायी जाती हैं; क्योंकि मेरा विषय विद्यापति है और परिणामस्वरूप विद्यापति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही वर्णन करना मेरा अभीष्ट है। दूसरा कारण यह है कि पं० सुभद्र झा, एम्० ए० (Gold medalist) मैथिली ध्वनि पर एक विस्तृत लेख लिख रहे हैं। पटना कौलेज तथा

पटना विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों से तथा संस्कृत, हिन्दी, बँगला, तथा मैथिली विभागों के अध्यक्ष डा० ए० पी० बनर्जी शास्त्री, एम्० ए०, पी० एच्० डी० की प्रगाढ़ विद्वत्ता से आपको अमूल्य सहायता मिल रही है। इसलिये आशा है कि आपकी रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगी। इसलिये यह भार आपके ही ऊपर सौंप कर मैं ध्वनि संबंधी दो-चार बातें नीचे बताता हूँ।

ध्वनि

नागेश भट्ट ने लघुमञ्जूषा में वाच् (शब्द) को चार भागों में विभक्त किया है (१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा तथा (४) वैखरी। इनमें पहले दो केवल योगियों के समझने योग्य होती हैं। जप के समय मन ही मन उच्चारण किया जाता है और अर्थ का भी बोध होता है, किन्तु शब्द सुनाई नहीं देता है। इसी प्रकार जो शब्द सुनने योग्य नहीं हों, अर्थात् मन ही मन जिनका उच्चारण किया जाय और जिनसे अर्थ का भी बोध हो उन शब्दों को मध्यमा वाक् कहते हैं। इसी का दूसरा नाम है 'स्फोट'। व्यक्त नाद जो दूसरा भी सुन और समझ सके 'ध्वनि' कहलाता है (परम लघु मञ्जूषा, पृ० २७)। 'यदि वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो तो वह ध्वनि काव्य माना जाता है'—यह बतलाकर काव्य प्रकाश-कार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैयाकरणों की राय में स्फोटरूपी व्यङ्ग्य अर्थ का व्यञ्जक शब्द ध्वनि कहलाता है अर्थात् जिन शब्दों से स्फोट (फुसफुसाहट) के रूप में वर्तमान

शब्द स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं उन ही शब्दों को 'ध्वनि' कहते हैं (काव्यप्रकाश, उल्लास १, कारिका २)। नागेश ने उद्योत में 'ध्वनि' का अर्थ वर्ण किया है। भाषा-वैज्ञानिकों का ध्वनिविज्ञान भी वर्ण, उनका उच्चारण, उनका विकाश आदि विषयों से संबंध रखता है।

(क) संस्कृत ध्वनि-समूह

महेश्वर सूत्रों में केवल दस स्वर हैं वे ये हैं—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए ऐ ओ, तथा औ। पाणिनि ने अपने सूत्रों में अनुनासिक (चंद्रविंदु), अनुस्वार, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का भी उल्लेख किया है। इस तरह आपकी राय में चौदह स्वर हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में (पा० १ आ० २, ६) बतलाया है कि जिस प्रकार गायों के आकार में परस्पर भेद होने पर भी काली, पीली, उजली—सब गायें 'गाय' कहकर पुकारी जाती हैं उसी प्रकार अकार तथा आकार के आकारों में जरा-सी भिन्नता रहने पर भी वे एक अर्थात् 'अ' हैं। इसी प्रकार ह्रस्व इ तथा उ से दीर्घ ई तथा ऊ विभिन्न नहीं हैं। केवल क्लृप् धातु में 'लृ' पाया जाता है और वहाँ भी 'लृ' के स्थान में 'लृ' ही हो जाता है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि 'लृ' एक स्वतन्त्र स्वर नहीं माना जाय। इसके उत्तर में पतञ्जलिका का कहना है कि अल्पज्ञ मनुष्य बुद्धि दोष से 'ऋ' के स्थान में 'लृ' का उच्चारण करते हैं और वैदिक साहित्य में भी स्वरित और प्लुत 'लृ' पाया जाता है। इसलिए एक स्वतन्त्र स्वर के रूप में 'लृ' का अस्तित्व मानना आवश्यक है (महाभाष्य

पा० १ आ० २) । ए, ऐ, ओ तथा औ—ये चार संध्यक्षर माने गये हैं। इन संध्यक्षरों में 'अ' का उच्चारण अन्य अकारों के उच्चारण की अपेक्षा अधिक विवृत होता है अर्थात् इनके उच्चारण में गला अधिक खुल जाता है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा अनुनासिक को भी पतञ्जलि ने 'हयवरट्' सूत्र की व्याख्या करते समय स्वर तथा स्वतन्त्र अक्षर माना है। भाष्य प्रदीप की टीका में बतलाया गया है कि सृष्टि के आरंभ में अ, इ, उ, ऋ तथा ऌ—इन ही पाँच वर्णों की उत्पत्ति हुई। इनमें भी 'अ' सबसे प्रधान अक्षर माना जाता था (अक्षराणामकारोऽस्मि, गीता)। शिक्षाकार ने ६४ अक्षर माने हैं। आपकी राय में इक्कीस स्वर हैं, किन्तु आपने यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया कि वे कौन हैं। तन्त्रों में ५० ध्वनियाँ मानी गई हैं, किन्तु वैदिक युग की तरह दो 'ल' माने गये हैं। नागेश को यह खटका, आपने उनचालीस ही वर्ण माने हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि नागेश के समय तक संयुक्ताक्षर क्ष, त्र, ज्ञ को स्वतंत्रता नहीं मिली थी। सुविधा के लिये इन तीनों वर्णों को स्वतंत्र मान लेना—एक नई कल्पना है। लक्ष्मीधर ने षड्भाषा-चन्द्रिका में बतलाया है :—

'सिद्धिः संस्कृतशब्दानां भवेत् पञ्चाशदक्षरैः'

किन्तु पचासवाँ अक्षर कौन-सा है—यह नहीं बतलाया गया है।

किस अक्षर का आकार कैसा होना चाहिये—इस विषय पर प्राणतोषणी तन्त्र में कुछ चेष्टा की गई है, किन्तु वह तान्त्रिक रंग में इस प्रकार रँग दिया गया है कि प्राचीन लिपि के ज्ञान

में उससे कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है। किसी ने विसर्ग का आकार इस प्रकार बतलाया है;

"शृङ्गवद् बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्।
नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य विसर्गोऽयमिति स्मृतः॥"

सब लिपियों में विसर्ग का समान आकार पाया जाता है। इसलिये इससे भी कुछ सहायता नहीं मिलती है।

(ख) पाली तथा प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली तथा प्राकृत में केवल आठ स्वर हैं; जैसे अ, आ इ, ई, उ, ऊ, ए ओ। ऋ तथा ॠ रि, अ, इ, या 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। 'इलि' के रूप में परिवर्तित लृ एक जगह पाया जाता है। 'औ' के स्थान में ओ या अउ, तथा 'ऐ' के स्थान में ए या अइ होता है (प्रा० प्रकाश परिच्छेद १)। विसर्ग का कहीं लोप हो जाता है, कहीं कहीं उसके स्थान में स् या ओ होता है। श् तथा 'ष्' के स्थान में 'स्' हो जाता है, किन्तु मगधी में स् तथा 'ष्' के स्थान में भी 'श्' हो जाता है। 'य्' के स्थान में 'ज्' होता है, किन्तु मागधी में 'ज्' के स्थान में भी 'य्' होता है। प्राकृतों में ङ तथा 'ञ' का व्यवहार नहीं होता है, किन्तु उनके स्थान में अनुस्वार होता है। (हेमचन्द्र ८।१।२५।)। षड्भाषा चन्द्रिका में लक्ष्मीधर ने बतलाया है—

प्राकृतानान्तु सिद्धिः स्यात्तु चत्वारिंशदक्षरैः।
ऋ लृ वर्णौ विनैकारौकाराभ्यां दश स्वराः।
शषौ असंयुक्तङञौ विनैवान्ये हलोमताः।

अर्थात् प्राकृत में चालीस अक्षर होते हैं। ऋ लृ, ऐ, तथा 'औ' के अतिरिक्त दस स्वर हैं। व्यञ्जनों में असंयुक्त ङ

तथा 'न' का प्रयोग नहीं होता है। इसी आशय का एक उद्धृत श्लोक चण्ड के प्राकृत-लक्षण में पाया जाता है :—

"ऐ, औ स्वरौ ऋ, ॠ, ऌ ॡ चतुः स्वराः।
अःङञनशषाः सन्ति प्राकृते नैव कर्हिचित्।"

(ग) विद्यापति के पदों के ध्वनि-समूह

प्राकृत युग में व्यञ्जनों का लोप इस प्रकार प्रबल हो उठा कि एक 'क इ' शब्द से कपि, कवि, कटि आदि अनेक शब्दों का बोध होने लगा। इस तरह अर्थ का बोध होना कठिन होने लगा। यह भी एक कारण है कि संस्कृत की शरण लेनी पड़ी और देशी भाषाओं में प्राकृत तथा अपभ्रंश के शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत शब्दों का भी प्रचुर परिमाण में व्यवहार होने लगा। संस्कृत शब्दों में संस्कृत स्वरों का होना स्वाभाविक है। इसलिये ऋतु, हृदय आदि संस्कृत शब्दों में 'ऋ' पाया जाता है। प्राकृत शब्द 'अमिअ' में 'ऋ' 'इ' के रूप में परिवर्तित हो गया है। रागतरङ्गिणी में 'ऋतु' का वर्णविन्यास रितु पाया जाता है। इस तरह ज्ञात होता है कि इसका उच्चारण 'रि' की तरह होता था न कि संस्कृत स्वर 'ऋ' के समान। आजकल देशी भाषाओं में भी यही उच्चारण होता है। प्राकृत में ऐ तथा 'औ' के स्थान में अनेक परिवर्तन होते हैं, किन्तु विद्यापति की भाषा में 'ऐ' के स्थान में 'अइ' तथा 'औ' के स्थान में 'अउ' पाया जाता है। अइसन, तइसन, जइसन, दइन (दैन्य), कइतव, जउवन, पउरुस, सउभाग आदि शब्द विद्यापति के पद तथा वर्णरत्नाकर में पाये जाते हैं। ये ही इसके साक्षी हैं। तालपत्र

के प्रथम लेखक ने इसी वर्णविन्यास का अनुसरण किया है। ज्यों-ज्यों संस्कृत का अधिक प्रभाव पड़ने लगा त्यों-त्यों देशी भाषाओं में भी 'ऐ' तथा 'औ' स्वतन्त्र स्वर माने जाने लगे और फलस्वरूप मूल रूप ऐ तथा 'औ' ने क्रमशः अइ तथा 'अउ' का स्थान ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि अइसन, तइसन, जउवन, सउभाग आदि शब्द ऐसन, तैसन, जौवन, सौभाग आदि के रूप में लिखे जाने लगे। धीरे-धीरे प्राकृत व्याकरण तथा प्राकृत शब्दों का प्रचार कम होने लगा और इनसे अपरिचित लेखक प्राचीन विशुद्ध वर्णविन्यासों को अशुद्ध समझ कर उनके स्थान में नवीन वर्णविन्यासों का प्रयोग करने लगे। तालपत्र के पदों के चार लेखक हैं। इसलिए दोनों वर्णविन्यास इसमें पाये जाते हैं।

विद्यापति के पदों में विसर्ग नहीं पाया जाता है। 'दुःख' शब्द दुख या 'दूख' के रूप में पाया जाता है। पाली तथा प्राकृत में व्याकरण के अनुसार पर-सवर्ण तथा अनुस्वार—दोनों ही होते हैं, किन्तु साहित्य में अन्तिम 'म्' के स्थान में भी अनुस्वार का व्यवहार पाया जाता है। इस तरह संस्कृत की अपेक्षा पाली तथा प्राकृत में अनुस्वार का कहीं अधिक प्रयोग देखकर मालूम पड़ता है अपभ्रंश तथा आधुनिक युगों में उसका और भी अधिक प्रचार हुआ होगा। हिन्दी में भी अनुस्वार की प्रचुरता देखकर अपभ्रंशयुग में भी इसकी प्रचुरता का अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार संभव है कि विद्यापति के समय में भी यही बात हो, किन्तु लेखक ने बहुधा परसवर्ण ही कर प्रयोग किया है। सङ्का, कलङ्का, पञ्च आदि शब्द संका,

पल्लंका, पंच आदि के रूप में कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। संभव है कि यह संस्कृत का प्रभाव हो। यह भी असंभव नहीं है कि लेखक संस्कृत के विद्वान् थे तथा प्राकृत व्याकरण के ऊपर भी आपका पूर्ण अधिकार था। इसलिए प्राकृत प्रकाश (यति तद्वर्गान्तः ।४।१७।) के अनुसार परसवर्ण कर ही सर्वत्र प्रयोग किया है, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में इन ही रूपों की प्रचुरता है और ये रूप संस्कृत तथा प्राकृत—दोनों व्याकरणों के अनुसार शुद्ध भी हैं।

पाणिनि के सूत्र (अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तुवा ५।३।२) तथा अन्यान्य वैयाकरणों की व्याख्या से ज्ञात होता है कि वैदिक तथा संस्कृत साहित्यों में अनुनासिक का व्यवहार होता था। पाली तथा प्राकृत के व्याकरणों में 'अनुनासिक' शब्द का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता है; वरन् ञ् तथा 'ङ' के स्थान में भी अनुस्वार का व्यवहार देखकर मालूम होता है कि उन युगों में अनुनासिक उच्चारण लोकप्रिय नहीं था। समय पलटा खाता रहता है। विद्यापति के पदों में अनुस्वार से कहीं अधिक चंद्रबिंदु का प्रयोग पाया जाता है। वर्णरत्नाकर में भी इसका प्रचुर प्रयोग है। रागतरङ्गिणी (पृ० ५४) के ललित राग का उदाहरण इसके साथ प्रकाशित पदावली का ८९ वाँ पद है। इस राग के प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्राएँ होती हैं। 'ममरि मधनसिम हरि गहलिहुँ गिम मुखे-मुखे कमल-कमल मिलु रे'—इस पदांश में 'गहलिहुँ' के स्थान में 'गहलिहुं' कर देने पर 'हुं' में दो मात्राएँ हो जातीं; क्योंकि छन्दःशास्त्र के विद्वानों ने अनुस्वार तथा विसर्ग को द्विमात्रिक स्वर बतलाया है

(प्रा० पैङ्गल, पृ० ४) और फलस्वरूप छन्दोभङ्ग हो जाता। इसलिए संभव है कि अर्ध अनुस्वार, चंद्रविंदु के व्यवहार का आरंभ छन्द के अनुरोध से हुआ हो। धीरे-धीरे आँखि, साँझ, कमलहुँ आदि बोलचाल के शब्दों में भी इसने अधिकार जमा लिया। यह पहले बताया जा चुका है कि चंद्रविंदु से अनेक विभक्तियों का भी बोध होता है। इसका कारण यह मालूम पड़ता है कि पद्यों तथा गाने के पदों में छन्द के अनुरोध से निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग होना आरंभ हुआ। सब विभक्तियों में समान (निर्विभक्तिक) शब्दों के प्रयोग होने पर अर्थ के बोध में गड़बड़ी होने लगी। इसलिए दूसरे उपाय की शरण लेना आवश्यक प्रतीत होने लगा और फलस्वरूप चंद्रविंदु विभक्ति के रूप में व्यवहृत होने लगा। चंद्रविंदु का उच्चारण इस प्रकार होता था कि उस उच्चारण के द्वारा ही स्पष्ट रूप से विभक्ति का बोध हो जाता था। इस प्रकार 'कमलँ झरए मकरन्दा—इस पदांश में चंद्रविंदु का उच्चारण इस प्रकार होता था कि वह 'सञो' का संक्षिप्त रूप मालूम पड़ता था और उससे अर्थ का बोध होने में जरा भी कठिनाई नहीं होती थी। इस तरह मालूम पड़ता कि चंद्रविंदु के विभिन्न उच्चारण तथा विभिन्न स्वराघात से विभिन्न विभक्तियों का स्पष्ट रूप से बोध होता था। अन्यान्य भाषाओं की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अध्ययन किए बिना यह निश्चित रूप से कहना असंभव है कि अन्यान्य भाषाओं में इस प्रणाली का अनुसरण किया गया था या नहीं। चर्याचर्य विनिश्चय में एक जगह चंद्रविंदु विभक्ति के रूप में व्यवहृत हुआ है। संभव है कि लेखक की भूल से

अन्यान्य स्थानों का चंद्रबिंदु छुट गया हो। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विद्यापति के समय तक मैथिली में सानुनासिक स्वरों की प्रधानता थी। प्राकृत में संस्कृत के व्यंजनों का लोप हो जाता है। विद्यापति ने अपने पदों में इस नियम का अनुसरण किया है, किन्तु साथ-साथ एक नया परिवर्तन भी दीख पड़ता है। वह यह है कि बचे हुए स्वर (लुप्त व्यंजन के बाद) का सानुनासिक उच्चारण होता है; जैसे अमिञ (सं० अमृत प्रा० अमिअ), मञे (सं० भयेन, प्रा० भए), तञे (सं० त्वया, प्रा० तए)। इसके अतिरिक्त कञोन, गेञान, अञिठ, मञुह, सुनिञे आदि शब्दों में अन्यान्य स्वरों का भी सानुनासिक उच्चारण पाया जाता है। अआनी (अज्ञानी), सआनी (सज्ञानी), पओधर (पयोधर) रअनि (रजनि), उभअ (उभय) आदि इसके अनेक अपवाद भी हैं। बहुत ऐसे भी शब्द हैं जहाँ दोनों रूप पाये जाते हैं; जैसे, निज—निअ तथा निञ, नारायण—नराएन तथा नराञेन। इसके अतिरिक्त चंद्रविंदु के साथ भी इनका प्रयोग पाया जाता है। निञ तथा 'निअ' के अतिरिक्त 'निअँ' रूप भी पाया जाता है (निअँ अनुचिते सेवि, पद १३)। रागतरङ्गिणी में उपलब्ध निम्नलिखित पदांशों से ज्ञात होता है कि सत्रहवीं शताब्दी तक ये सानुनासिक रूप पाये जाते हैं :—

(१) उपमिअ आनन नीरज पङ्कज (पृ० ४८)
(२) जौतुक पाओल मानिनि मौन (पृ० ४९)
(३) कञोन कला हमें घाटी (पृ० ६७)
(४) नञिह निञलोभें ठाम जदि छाड़ब (पृ० ६७)

(५) निञ कुल मिलत ञानि कोन देवा (पृ० ७३)
(६) हम पए मध्यँ दुहू दिस गारि (पृ० ७८)
(७) वरिस अमिञधार (पृ० ८५)
(८) ससञे पहु कुलबाला (पृ० ८७)
(९) की परकामिनि हरल गेञान (पृ० १०३)

अर्वाचीन मैथिली का विवेचन मेरा विषय नहीं है ! इसलिए अर्वाचीन मैथिली पर इस सानुनासिक उच्चारण का क्या प्रभाव पड़ा, इसके द्वारा कौन-कौन से परिवर्तन हुए—इत्यादि विषयों पर कुछ भी नहीं बताकर मैं केवल इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि पाली तथा प्राकृत युगों में जिस 'ञ्' का लोप हो गया था वह विद्यापति की अवहट्ठ तथा मैथिली में प्रचुर परिमाण में दीख पड़ने लगा।

संस्कृत 'य्' के स्थान में 'ए'

प्रथम वएस अतिभिति राहो, तें गुणगौरवे इहे उपाए आदि पदांशों में तथा वर्णरत्नाकर में (वएस, पृ० २७) संस्कृत 'य' के स्थान में 'ए' पाया जाता है। मार्कण्डेय तथा हेमचन्द्र के अनुसार व्यञ्जन का लोप होने पर 'य' का उच्चारण होता है (अवर्णो यश्रुतिः ।८।१।१८०।, अनादावदितौ वर्णौं पठितव्यौ यकारवत्, मार्कण्डेय पाठशिक्षा)। यही कारण है कि विद्यापति के पदों में रअनि तथा रयनि—दोनों रूप पाये जाते हैं। वृत्ति में हेमचन्द्र ने बतलाया है कि लघुप्रयत्नतर यकार होता है (लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति)। 'य' का उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर तालु की ओर ले जाकर किया जाता है,

किन्तु जीभ न चवर्गीय ध्वनियों के समान तालु को अच्छी तरह छूती ही है और न इ आदि तालव्य स्वरों के समान दूर ही रहती है। अतः 'य्' को अर्धस्वर माना जाता है।........ 'य्' का उच्चारण 'एअ' से मिलता-जुलता है (हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ११०)। मेरी राय में लघुप्रयत्नतर का अर्थ आधा 'य्' अर्थात् 'ए' है; क्योंकि जिन शब्दों में 'य' का लोप हो गया है उन शब्दों में भी यदि फिर 'य' ही हो जाय तो संस्कृत तथा प्राकृत रूपों में कुछ भी अन्तर नहीं होगा। यही कारण सं० उपाय के उपाअ तथा उपाए—दो प्राकृत तथा अपभ्रंश रूप होते हैं।

श्, ष्, स्

मागधी के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों में 'श्' तथा 'ष्' के स्थान में 'स्' होता है, किन्तु मागधी में 'स्' के स्थान में भी 'श्' होता है। आज कल भी बंगाल में दन्त्य 'स्' का भी उच्चारण तालव्य 'श्' की तरह होता है, किन्तु विहार में 'श्' का भी उच्चारण 'स्' की तरह होता है। इसके साथ प्रकाशित विशुद्धपदावली के सरीरी, निसाचर, दसन, दसा, सन्देस, आसा, परसस, उपसम, सिवसिंह, सेखर, हुतास, देस आदि तत्सम तथा तद्भव दोनों तरह के शब्दों में केवल दन्त्य 'स्' पाया जाता है। केवल दो पदांशों के उपदेश (की उपदेश अआने) और केश (कुसुम चोलि केश परि हल)—दो शब्दों में 'श्' पाया जाता है। इस तरह मालूम पड़ता है कि उस समय की मैथिली में तालव्य 'श्' का अस्तित्व नहीं के बराबर था।

विद्यापति की मैथिली में 'ष्' का उच्चारण 'ख' के समान होता था। 'ष्' को 'ख' का रूप यहाँ तक मिल गया कि दोख, अखाढ़, हरखित, बरख आदि शब्दों में 'ष्' के स्थान में 'ख्' लिखा भी जाने लगा। इन दोनों अक्षरों में इतनी समानता मान ली गई कि वर्णरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में 'ख्' के स्थान में 'ष्' का व्यवहार होने लगा; जैसे आँषि, कवि सेषर, देषु, सषा झाँषहि। बँगला में भी 'क्ष' का उच्चारण 'क्ख' होता है। क तथा 'ष' के संयोग से 'क्ष' बनता है। इस प्रकार बँगला में भी 'ष्' का उच्चारण 'ख्' होता है, किन्तु मैथिली की तरह सब जगह नहीं। पाली तथा प्राकृतों में 'क्ष' के स्थान में 'क्ख' तथा 'च्छ' होते हैं। पिशेल साहब ने बतलाया है कि मौलिक 'क्ष' के स्थान में 'क्ख' और आवेस्टा से प्रभावान्वित 'क्ष' के स्थान में 'च्छ' होता है। संभवतः पूरबी भाषाओं में क्ख तथा पाश्चात्य भाषाओं में 'च्छ'[1] का प्रयोग होता था (introduction to Prakrit, Page 21)। इस तरह यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि पूरबी भाषाओं में 'ष्' का उच्चारण 'ख्' की तरह होता था। मैथिली ने इसको इतना अपनाया कि मिथिला के पण्डित-गण संयुक्त अक्षरों को छोड़कर अन्य स्थानों पर संस्कृत में भी 'ष्' का उच्चारण 'ख्' की तरह करते हैं। इस प्रकार 'षष्ठी' का उच्चारण खस्ठी तथा 'षडानन' का उच्चारण 'खडानन' की तरह किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इस उच्चारण का

---

[1] छब्बीस, छः आदि शब्दों में 'ष' का 'छ' रूप पूरबी भाषाओं में भी पाया जाता है।

बीज वैदिक युग में ही बोया जा चुका था। वैदिक मन्त्रों के पाठ करते समय 'सहस्रशीर्षा' का उच्चारण "सहस्रशीरेखा" इस समय भी होता है। इसके अतिरिक्त रोस, सोस, दोस, पुरुस, बिसम, सेस आदि शब्दों में 'ष' की जगह 'स' देख कर ज्ञात होता है कि दन्त्य 'स' की तरह भी 'ष' का उच्चारण होता था। एक ही शब्द 'दोष' के दोख तथा दोस—दोनों रूप पाये जाते हैं। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के शब्दों में विभिन्न उच्चारण होता था। संभव है कि स्थानीय उच्चारण 'ख' हो और शौरसेनी से प्रभावान्वित होने के कारण 'स' भी उच्चारण होता हो। उमापति ने भी पारिजात हरण में रोस तथा दोस शब्दों का व्यवहार किया है।

य तथा ज

इस विशुद्ध पदावली में एक तत्सम शब्द युवती (तीन बार) को छोड़कर जमुन, जुवती (दो बार), जौवन, जदि, जतन, जामिनि, जउवति, जुवति (दो बार), जे, जकर, जन्हिका आदि शब्दों में केवल 'ज' पाया जाता है न कि 'य'। अभी तक मिथिला तथा बंगाल में 'य' का उच्चारण 'ज' होता है, यहाँ तक कि संस्कृत यदि, यथा आदि शब्दों का उच्चारण जदि, जथा आदि होता है। सत्य, मध्य आदि शब्दों के संयुक्त 'य' का उच्चारण 'य' होता है, नकि ज। प्राकृत का प्रभाव ही इसका कारण मालूम पड़ता है; क्योंकि प्राकृत में आदि 'य' के स्थान में 'ज' होता है। (आदेर्यो जः, प्राकृतप्रकाश।२।३१।), किन्तु अनादि 'य' के स्थान में

त, ज्ज, ह, व आदि अनेक आदेश होते हैं (हैम व्याकरण ।८।१।२४६—२५०) । इसलिए उससे प्रभावान्वित मैथिली में आदिम 'य' का सर्वत्र 'ज' उच्चारण होना अस्वाभाविक नहीं है। अनादि 'य' का परिवर्तन निश्चित नहीं है। इसलिए अनादि 'य' का उच्चारण 'य' ही होता है। 'ज' के समान 'य' का उच्चारण करने का अभ्यास पड़ गया था। इसलिए इसके अपवाद स्वरूप कुछ ऐसे भी शब्द (सूर्य, मह्यम् आदि) हैं जहाँ उस अभ्यास के कारण अनादि 'य' का भी 'ज' के समान उच्चारण होता है। बंगाली विद्वान् 'मह्यम्' का उच्चारण प्राकृत रूप 'मज्झम्' की तरह करते हैं। इस प्रकार यह मालूम पड़ता है उच्चारण के संबंध में मैथिली पर मागधी, प्राकृत तथा अपभ्रंश का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। एक छोटे से बच्चे से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों का उच्चारण तथा तालपत्र पर लिखित प्राचीन पदावली में 'य' के स्थान में 'ज' तथा 'श' के स्थान में 'स' का होना—इसमें प्रबल प्रमाण हैं। विद्वानों की धारणा थी कि प्राकृत तथा देशभाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से हुई। यह पहले बतलाया जा चुका है कि इस मत के समर्थन के लिये ही अनेक प्राकृत धातु संस्कृत धातुपाठ में घुसेड़ दिये गये। इसी प्रकार यह भी संभव है कि जे, जकरा आदि की उत्पत्ति सं० 'यद्' से मान कर 'ये' 'यकरा' आदि वर्णविन्यास विशुद्ध माने जाने लगे। वर्णरत्नाकर में इने-गिने शब्दों के 'ज' के अतिरिक्त

---

१ पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
जः शब्द इति विज्ञेयोऽन्यः स य इति स्मृतः। 'याज्ञवल्क्यशिक्षा'

बहुधा 'ये' याक, यं आदि शब्दों में 'य' ही पाया जाता है। संभव है संस्कृत से 'जे' की उत्पत्ति मानने वाले किसी विद्वान का लिखा हो। बंगाल में लिखा जाता है 'य' किन्तु उच्चारण होता है 'ज'। देशभाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है—यह मत आजकल सर्वमान्य है। बंगाल में भाषाविज्ञान के अनेक प्रगाढ़ विद्वान् हैं, किन्तु इस ओर न कुछ—उन्नति हुई है न होने वाली है। मिथिला में प्रायः दो दल हैं—(१) संस्कृत के विद्वान् प्रायः 'य' लिखते हैं (२) अंग्रेजी तथा हिन्दी के विद्वान् हिन्दी की देखादेखी 'ज' लिखते हैं। मेरी राय में प्राकृत उच्चारण के साथ प्राकृत वर्णविन्यास भी होना चाहिये।

र, ल, ड

ऋग्वेद के प्रथम अध्याय में 'अलंकृतम्' की जगह 'अरंकृतम्' देखकर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की रचना के युग में केवल 'र' का प्रयोग होता था। धीरे-धीरे 'ल' का प्रयोग तथा अधिक प्रयोग होने लगा। ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में 'ल' का कई गुना प्रयोग है। संस्कृत में दोनों पाये जाते हैं। म्लुच्, म्रुच्, लभ्, रभ्, लोम, रोम, लोहित, रोहित—आदि समान शब्दों में र तथा ल—दोनों का व्यवहार ही इसका साक्षी है। यही कारण है कि संस्कृत में र तथा 'ल' में अभेद माना जाता है। मागधी प्राकृत में 'र' का प्रयोग नहीं होता है, केवल 'ल' ही पाया जाता है। इस तरह मालूम पड़ता है कि पश्चिम में 'र' का अधिक प्रयोग होता था, मध्यदेश में र तथा ल—दोनों का व्यवहार होता था और पूरब में 'ल' का अधिक प्रयोग होता

था। अनेक भाषा वैज्ञानिकों की राय है कि 'ड' का उच्चारण 'र' की तरह होता था। यही कारण है कि प्राकृत में 'ड' के स्थान में 'ल' होता है। (है० व्या० ।८।१।२०२।)। सिद्धान्त कौमुदी में 'लड' धातु का रूप 'ललति' पाया जाता है। ड तथा 'ल' में अभेद ही इसका कारण बतलाया गया है। यह प्राकृत का प्रभाव है; क्योंकि संस्कृत व्याकरण में 'र' के स्थान में 'ल' आदेश होने के अनेक नियम हैं; किन्तु कोई भी ऐसा नियम नहीं है जिसके द्वारा 'ड' के स्थान में 'ल' हो।

मागधी प्रान्त की भाषा, मैथिली में 'ल' का अधिक व्यवहार होना अस्वाभाविक नहीं है। इसीलिए विद्यापति ने पलए (पड़ए), तलित (तड़ित्), पलल (पड़ल), थोल (थोड़), निविल (निविड़) आदि शब्दों में 'ड' के स्थानमें 'ल' का व्यवहार किया है। इस तरह के अनेक रूप वर्णरत्नाकर में भी पाये जाते हैं। प्राकृत व्याकरणों में कोई ऐसा नियम नहीं है जिसके द्वारा ('थोल' के स्थान में 'थोर' के अतिरिक्त) 'ल' के स्थान में 'र' आदेश हो, किन्तु विद्यापति ने जरद (जलद) रीअ (लीअ), थरे (थले), मलआनिर (मलआनिल), चण्डार (चण्डाल) मेरावह (मेलावह), असुर (अमुल), सामर (सामल) आदि शब्दों में 'ल' के स्थान में 'र' का व्यवहार किया है। एकही शब्द के ओर (अन्त) तथा ओल— ये दो रूप पाए जाते हैं। इसका कारण संस्कृत का प्रभाव है। मिथिला में संस्कृत विद्या की उन्नति चरम सीमातक पहुँच गई थी। संस्कृत में एकही शब्द में 'र' तथा 'ल'—दोनों पाये हैं— यह अभी बतलाया गया है। उससे प्रभावान्वित मैथिली में 'र'

के स्थान में 'ल', 'ल' के स्थान में 'र' तथा एक ही शब्द में 'र' तथा 'ल'—दोनों का व्यवहार होना असंभव नहीं है। अर्वाचीन मैथिली में केवल ग्रामीण मनुष्य सड़क की जगह 'सरक' तथा चूड़ा की जगह चूरा बोलते हैं।

विशुद्ध पदावली के स्वर तथा व्यंजनों

का

इतिहास

विशुद्ध पदावली के प्रत्येक स्वर तथा व्यंजन की उत्पत्ति किन संस्कृत तथा प्राकृत ध्वनियों से हुई है—यह दिखलाने में बारबार एकही शब्द का उल्लेख करना पड़ेगा। इसलिए नीचे अक्षर क्रम से विशुद्ध पदावली के शब्द और उनके मूल संस्कृत तथा प्राकृत रूप (जहाँ मिल सके हैं) दिये जाते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार संस्कृत से प्राकृत में तथा प्राकृत से विद्यापति की भाषा में स्वर तथा व्यंजनों का परिवर्तन हुआ है। सर्वनाम तथा धातुओं के प्राकृत तथा संस्कृत रूप पहले दिये जा चुके हैं। इसलिए नीचे उनका उल्लेख नहीं किया जाता है।

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत	मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
अआनी	अज्ञानी	(१)	आकम	अङ्क	अंक

(१) ज्ञानका प्रा० रूप 'जाण' है; क्योंकि 'ज्ञ' संयुक्त अक्षर है, उसमें केवल 'ञ' का लोप होता है, किन्तु विद्यापति ने 'ज्ञ' का ही लोप कर दिया।

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
अगेआँन	अज्ञान	(१)
		अञ्जान
अनाइति	अनायत्त	
अनुसअ	अनुसर	अनुसर
अन्धार	अन्धकार	(२)
	अन्धकार (अप०)	
	अंधकार (प्रा०)	
अपरुब	अपूर्व	अपुरब
अमिञ	अमृत	अमिअ
अवसिन	अवसिन्न	अवसिण्ण
असवास	आश्वास	(३)
		आसास
अहेरानी	अह्रीक	अहिरी
आँखि	अक्षि	अक्खि
अगार	आगार	आआर
आगि	अग्नि	अग्गि

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
आँगुर	अङ्गुलि	अंगुलि
आँचर	अञ्चल	
आज	अद्य	अज्ज
आरति	आर्ति	अत्ति
आरसी	आदर्शिका	आअरसिआ
उजोर, ऊजर	उज्ज्वल	उज्जल
उदअ	उदय	उअअ
उपाम	उपमा	उवमा
करम	कर्म	कम्म
कहिनी	कथनीय	कहिनी
काकन	कङ्कण	कंकण
		(अप०)
काछिड	कच्छाटिका	कछार
		(हि०)
काजर	कज्जल	कद्यल (४)
कान	कर्ण	कण्ण

---

(१) यहाँ ज्ञान का प्राकृत रूप 'ग्यान' मानकर स्वरभक्ति तथा य' का लोप कर यह बना है। अजान तथा अनजान—इसी के रूपान्तर हैं।

(२) है० व्या० ।८।४।३४६।

(३) 'श्वास' का प्राकृत रूप 'सास' है।

(४) यह पिटर्सन का मत है।

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
काज	कार्य	कज्ज
कान्ह	कृष्ण	कण्ह
काल्ह	कल्य	कल्ल
किसलअ	किसलय	किसलअ
कुआँ	कूप	
खरि	(प्र)खरा	खरि
खिन	खिन्न	भिन्न
गमार	ग्रामीण	गामिल्ल
गरुअ	गुरु	गरुअ
गारि	गालि	
गोआर	गोपाल	गोआल (अप०)
गोरू	गोरूप	
घर	गृह	घर
घनहन	घनाघन	घणाघण
छड	छल	छल
छाए	चार	छार
छाहरि	छाया	छाहा
जोति	ज्योति	उज्जोति
झाँट	झटिति	
झामरि	चामा	क्खामा
झार	चार	झार

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
ठाम	स्थान	ठाण ठाम (अप०)
डाइनि	डाकिनी	डाकिणि
डीठि	दृष्टि	दिट्ठि
तन्त	तन्त्र	तंत
तिरि	स्त्री	इत्थी
तीखर	तीक्ष्ण	तिक्ख
तीन्त	तिक्त	तित्त
थल	स्थल	थल
थावर	स्थावर	थावर
थिर या थीर	स्थिर	थिर
दरनि	दरणि	
दिढ़	दृढ़	दिढ़
दीव	द्वीप	दीव
धमिल	धम्मिल	
धरम	धर्म	धम्म
धुनि	ध्वनि	
नअन	नयन	नयण
निज या निअ	निज	निअ
निआसा	निराशा	
निठुर	निष्ठुर	निट्ठुर
नेत	नेत्र	नेत

(1) यह अनुकरण शब्द है ।

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
नेह	स्नेह	णेह
नोर	नीर	
पओधर	पयोधर	पओहर
परमाद	प्रमाद	
परव	पर्व	पव्व
परथाव	प्रस्ताव	पत्थाव
परस	स्पर्श	फंस (प्रा०) परस (अप०)
परसन	प्रसन्न	
पसार	प्रसार	
पहु	प्रभु	पहु
पाए	पाद	पाअ पाए (अप०)
पावनि	पार्वणि	
पाहुन	प्राघुण	
पिअ	प्रिय	पिअ
पिआरि	प्रिया	पिआरी
पिआस	पिपासा	पिआस(अप०)
पुन	पुण्य	पुण्ण
पुरव	पूर्व	पुव्व
पुरहर	पुरोहर	
पेअसि	प्रेयसी	पियारी
पेम	प्रेम	पेम्म
फास	पाश	पास (अप०)
फुलवालि	पुष्पवाटिका	
फुरन	स्फुरण	फुर
फूटि	स्फुटन	फुट्ट
बथु	वस्तु	बत्थु
बलअ	वलय	बलअ
बाढ़ि	वृद्धि	बड्ढि
बाती	वर्ति	बत्ति
बानी	वाणी	बाणी (अप०)
बाँह	बाहु	बाह
बाहर	बहिः	बाहिर
बिजुरि, बीजु	विद्युत्	बिज्जु
बेट	वेष्टन	वेट
बेर	वेला	
बोल	वचन	बोल्ल
भमरी	भ्रमरी	भमरी
भरम	भ्रम	
भल	भद्रक	भल्लग भल्लअ (अप०)
भितर	अभ्यन्तर	अब्भन्तर
भिति	भीता	भीआ, भीदा
भोरी	भद्रा	
मधथ	मध्यस्थ	मज्झट्ठ

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
महघ	महार्घ	महालिह
माँझ	मध्य	मज्झ
मुन्दल	मुद्रित	मुद्दरिअ
मोन्ति	मौक्तिक	मौत्तिअ
रअनि या रयनि	रजनि	रअणी
राए	राजा	राया
राति	रात्रि	रत्ती
रानि	राज्ञी	
राही	राधा	राहा राही (अप०)
रेहा	रेखा	रेहा
लाज	लज्जा	लज्जा
विहदअँ	विहृदय	विहिअअ
सआनी	सज्ञानी	
समअ	समय	समअ
सरिस	सदृश	सरिस
साँचित	सचित्त	

मैथिली	संस्कृत	प्राकृत
साजनि	सज्जना	सज्जणी
साँझ	सन्ध्या	संझा
साति	शास्ति	सत्थि
साथ	सार्थ	सत्थ
साहि	साधयित्वा	साहि
सिआरि	शृगाली	सिआली
सिधि, सोधि	सिद्धि	सिज्झि
सिनेह	स्नेह	सिणेह
सुबुधि	सुबुद्धि	
सुरज	सूर्य	सुज्ज (अप०)
सून	शून्य	
सेज	शय्या	सेज्जा
सेमार	शैवाल	सेवाल
हृदअ	हृदय	हिअअ
हाथि	हस्ती	हत्थि

इस विशुद्ध पदावली में अथोंघ, ऐपन, ओल, धसमसि, धंध धावसि, बथान, भरोस—ये देशी शब्द हैं। 'कमान' एकमात्र पारसी शब्द है।

विशेष परिवर्तन

इस पदावली का प्रत्येक शब्द उसके मूल संस्कृत तथा प्राकृत

रूपों के साथ ऊपर बतलाया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार संस्कृत शब्द प्राकृत तथा अपभ्रंश होते हुए परिवर्तित हुए हैं। नीचे स्वर-व्यंजन संबंधी विशेष परिवर्तनों का उल्लेख किया जाता है।

स्वर-संबंधी परिवर्तन

स्वरों का लोप (Syncope) आगम तथा विपर्यय—ये मुख्य परिवर्तन हैं। भीतर 'अभ्यन्तर' के आदि 'अ' का लोप होकर बना है। यह आदि स्वरलोप का उदाहरण है। संयुक्त वर्णों के उच्चारण में कठिनता होती है, इस कठिनता को दूर करने के लिये दो व्यंजनों के बीच में जो स्वर का आगम होता है उसे स्वरभक्ति (Anaptyxis) कहते हैं। संस्कृत युग के पृथिवी और पृथ्वी तथा स्वर्ण और सुवर्ण देखकर ज्ञात होता है कि स्वरभक्ति ने उसी युग में अपना सिक्का जमा लिया था। विद्यापति के पदों में स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण हैं; जैसे अगेआन, असवास, आरति, करम, परमाद, परथाव, पुरव, मरम, सिनेह, तिरि, सुरज आदि। कभी-कभी स्वर का स्थान बदल जाता है। इस परिवर्तन को विपर्यय (Metathesis) कहते हैं। 'उपमा' से उपाम, 'अपूर्व' से अपरुब (पका उ 'र' के बाद चला गया) आदि इसके उदाहरण हैं।

---

(१) बोलियों में स्नान का अस्नान, स्त्री का इस्त्री आदि स्वरागम (Prothesis) के उदाहरण पाये जाते हैं, किन्तु साहित्य में यह नहीं पाया जाता है।

व्यंजन-संबंधी परिवर्तन

(१) संस्कृत शब्द के वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर के स्थान में 'ह' होता है; जैसे रेहा (रेखा), लहु (लघु), नाह (नाथ), कह (कथ), विहि (विधि), लह (लभ्), साहि (साधि) आदि। भाषा-वैज्ञानिकों का कहना है कि महाप्राण स्पर्श व्यंजनों में एक अंश वर्गीय स्पर्श का रहता है, दूसरा अंश हकार का। अक्सर देखा जाता है कि महाप्राण का वर्गीय अंश लुप्त हो जाता है और हकार शेष रहता है।

(२) प्राकृत की तरह बहुधा मध्य व्यंजन का लोप हो जाता है; जैसे वनिजार, गोश्रार, कुश्र, नश्रन, अन्धार आदि।

संयुक्त व्यंजन

(३) संयुक्त व्यंजन के दोनों व्यंजन यदि वर्ग के प्रथम चार अक्षरों में से से हों तो प्रथम व्यंजन का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है; जैसे, काज [कज्ज], सीधि [सिद्धि], काजर [कज्जल], बीजु (बिज्जु) राति (रत्ति), दूध [दुग्ध]।

(४) संयुक्त व्यंजन के दोनों व्यंजन यदि ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, अन्तःस्थ या ऊष्म हों तो अन्तःस्थ का लोप होता है; जैसे, कान (कर्ण), काल (कल्य), सून (शून्य)।

(५) मिश्र व्यंजनों में अनुनासिक, अन्तःस्थ या ऊष्म का लोप होता है; जैसे, तीखर (तीक्ष्ण), चाँद (चन्द्र), जोग (योग्य), काँप (कम्प)।

चौथे तथा पाँचवें नियमों में भी पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ होता है।

ये तीनों नियम बीम्स के 'कम्पैरेटिव ग्रैमर' से उद्धृत किये गये हैं।

(६) तवर्ग के बाद यदि 'य' रहे तो उन दोनों के स्थान में चवर्ग, 'र' के बाद टवर्ग रहे तो टवर्ग होता है; जैसे नाच (नृत्य), आज (अद्य), साँझ (सन्ध्या), माझ (मध्य), बुझ (बुध्य), काट (कर्त)।

(७) स्पर्श के बाद या पहले उष्म हो तो उष्म का लोप होता है और स्पर्श व्यंजन अल्पप्राण हो तो उसके स्थान में महाप्राण होता है, जैसे, नेह (स्नेह), थल (स्थल), थिर (स्थिर), थावर (स्थावर), हाथ (हस्त)

अनुरूपता (assimilation)

(८) कीर्तिलता में रज्ज (राज्य), कित्ति (कीर्ति), अज्ज (अद्य) आदि शब्द पाये जाते हैं जिनमें भिन्नस्थानीय व्यंजन एक दूसरे का रूप धारण कर लेता है।

व्यंजन विपर्यय

इसका उदाहरण पहिर (परि × धा = हा) है।

सातवाँ अध्याय

स्वराघात (accent)

शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर जो जोर (धक्का) लगता है उसे स्वराघात कहते हैं (गु. हि. व्या. पृ. ४९)। जिसमें

आवाज का सुर नीचा या ऊँचा किया जाता है उसको गीतात्मक स्वराघात (Pitch accent) कहते हैं। जब साँस को धक्के के साथ छोड़कर किसी अक्षर पर जोर दिया जाता है उसको बलात्मक स्वराघात (Stress accent) कहते हैं। कभी-कभी एक ही ध्वनि पर दोनों स्वराघात पाये जाते हैं जहाँ दोनों में भेद बतलाना कठिन हो जाता है।

(क) वैदिक स्वराघात

वैदिक साहित्य में गीतात्मक स्वराघात की प्रधानता है। स्वराघात के तीन भेद हैं (१) उदात्त अर्थात् ऊँचा सुर (२) अनुदात्त अर्थात् नीचा सुर (३) स्वरित अर्थात् बीच का सुर।

स्वराघात प्रगट करने के चार नियम प्रचलित हैं।

(१) उदात्त स्वर के ऊपर कोई चिह्न नहीं रहता है, स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी लकीर, और अनुदात्त स्वर के नीचे आड़ी रेखा रहती है; जैसे अ॒ग्निम्, जु॒हो॑ति, त॒न्वा॑।

(२) पाद के आरंभ में उदात्त के चिह्न नहीं रहते हैं, वरन अनुदात्त का चिह्न रहता है, किन्तु स्वरित के बाद आनेवाले अनुदात्तों में केवल अन्तिम अनुदात्त चिह्नित रहता है; जैसे अ॒ग्निम्, क॒रि॑ष्यसि।

(३) ऋग्वेद की मैत्रक तथा काठक संहिताओं में स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी रेखा नहीं रहती है, वरन् उदात्त स्वर के ऊपर खड़ी रेखा रहती है।

1. Whitney's Sanskrit grammar.

(४) सामवेद में उदात्त, स्वरित तथा अनुदात्त स्वरों के ऊपर क्रमशः १, २, ३ अंक रहते हैं। संभव है कि बलात्मक स्वराघात भी उस समय वर्तमान हो, किन्तु उसका कोई चिह्न अभी तक नहीं पाया गया है।

(ख) प्राकृत तथा आधुनिक युग में स्वराघात

इस विषय पर अभी विशेष अनुसंधान नहीं हुआ है और जो भी हुआ है वह अनुमान पर आश्रित है। इसलिये मतभेद होना और प्रत्येक मत का संदेह से परिपूर्ण होना स्वाभाविक है।

प्राकृत युग में ही बलात्मक स्वराघात पूरी तरह विकसित हो गया था। यह स्वराघात अन्तिम दीर्घ स्वर पर रहता था। जब संस्कृत श्लोक गाया नहीं जाता है, किन्तु साधारण रीति से पढ़ा जाता है तब यह स्वराघात पाया जाता है। इस प्रकार शौरसेनी, मागधी, ढक्की (पंजाबी) प्राकृतों में संस्कृत के विकसित बलात्मक स्वराघात का रूप वर्तमान था। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन मागधी, साहित्यिक अपभ्रंश, साहित्यिक जैन शौरसेनी आदि भाषाओं में वैदिक स्वराघात सुरक्षित पाये जाते हैं। स्वराघात की दृष्टि से प्राकृत के दो विभाग हैं—यह प्रोफेसर टर्नरका मत है। आपकी राय में आधुनिक युग की भाषाओं में दोनों स्वराघातों के चिह्न पाये जाते हैं; जैसे मराठी में गीतात्मक स्वराघात तथा गुजराती में बलात्मक स्वराघात के चिह्न। ग्रियर्सन मध्यकालीन तथा आधुनिक युगों की भाषाओं में केवल बलात्मक स्वराघात के चिह्न पाते हैं, किन्तु ब्लोक को इसमें भी संदेह है (Origin and development of Bengali pages 275—277)

मैथिली में स्वराघात

वर्णनरत्नाकर के कई सन देपु आदि शब्दों में बलात्मक स्वराघात, से घर गेलाह ? (आश्चर्य), तों खएवह ? आदि अर्वाचीन मैथिली के वाक्यों में भी स्वराघात पाया जाता है। इस विशुद्ध पदावली में उन्नीस रागों के पद हैं। रागतरङ्गिणी में बतलाया गया है कि स्वरमूर्च्छना अर्थात् स्वर के आरोह-अवरोह से राग की उत्पत्ति होती है। आरोह-अवरोह स्वराघात का ही पर्यायवाचक शब्द मालूम पड़ता है। इसलिये गाने में स्वराघात एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है—इसमें जरा भी संदेह नहीं। विद्यापति के समय में गाने की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच गई थी। विद्यापति गानविद्या में निपुण थे। उनकी निपुणता का प्रबल प्रमाण यही है कि राजा शिवसिंह ने जयत नामक गायक को विद्यापति के अधीन गान की विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिये नियुक्त किया था। विद्यापति ने अनेक रागों की सृष्टि की—यह भी रागतरङ्गिणी से ज्ञात होता है। जयत एक साधारण गवैया नहीं था, किन्तु राजसभा का प्रधान गायक था, केवल वही एक गायक था जो विद्यापति के द्वारा कल्पित नये लयों का गान अच्छी तरह कर सके। जयत के पिता सुमति यशस्वी तथा उस समय के सर्वश्रेष्ठ गायक थे, किन्तु पुत्र पिता से किसी तरह कम नहीं था (पितुरन्यूनगुणः, रागतरङ्गिणी. पृ० ३७)। रागतरङ्गिणी में अनेक रागों के आकार का वर्णन है जिससे विभिन्न राग में

(१) से घर गेलाह = वे घर गये, से घर गेलाह ? = क्या वे घर गये—यह विभिन्न अर्थ विभिन्न स्वराघात के द्वारा ज्ञात होता है।

विभिन्न प्रकार के स्वराघात होते थे—यह स्पष्ट ज्ञात होता है। उदाहरण के लिये कुछ राग नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) हिन्दोल:—इसकी गति मन्द बतलाई गई है अर्थात् इसमें हिंडोले की तरह धीरे-धीरे सुर ऊँचा तथा नीचा किया जाता है। चन्द्रमा के समान इसका मुँह बतलाया गया है अर्थात् स्वराघात के समय गायक का मुँह चन्द्रमा के समान गोला हो जाता है। इसकी ही शाखा 'ललित' है जिसका उदाहरण ४९ वाँ पद है।

(२) बराडी—बिजली की तरह बहुत तेजी से इसमें आरोह-अवरोह होता है और गाने के समय गायक का चेहरा दीपक की तरह चमक उठता है (तडिदिव कथितेयं दीपदीप्तिर्वराडी)। इस पदावली में इस राग के पाँच पद (११, २४, २६, ३२, ५९) हैं।

(३) गुर्जरी—इसको घन—कामिनी भी कहते हैं अर्थात् वर्षा ऋतु इस गाने का उपयुक्त समय है या इसका स्वराघात बादल से मिलता-जुलता है।

विद्यापति के पदों में मात्रावृत्त हैं। प्रो० धीरेन्द्र वर्मा का कहना है कि छन्दों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्रा काल न होकर वास्तव में स्वराघात ही है। यदि स्वरों के मात्रा—काल के अनुसार ये छन्द चलते होते तो ह्रस्व स्वर सदा एक मात्रा तथा दीर्घ स्वर सदा दो मात्रा-काल का माना जाता, किन्तु हिन्दी के इन छन्दों में बराबर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्वरों की मात्राओं में उच्चारण की दृष्टि से परिवर्तन कर लिया जाता है (हिन्दी-भाषा का इतिहास पृ० २०४)। विद्यापति के

पदों में भी उच्चारण की दृष्टि से मात्राओं में परिवर्तन कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ पदांश नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

(१) सपने देखल हरि, गेलाहुँ पुल कें पुरि (पद ४९)।

(२) हसि निहारल पलटि हेरि, लाजें कि बोलब साँझक बेरि (पद ३)।

(३) दूती बोलइतें कान्ह लजाएल विद्यापति कवि भाने (पद ४)।

ऊपर के पदांशों में अधोरेखाङ्कित शब्द दीर्घ स्वर हैं, किन्तु ह्रस्व स्वर की तरह उनका उच्चारण होता है या यह भी संभव है कि पुलकें तथा बोलइतें का उच्चारण क्रमशः पुल्कें तथा बोल्इतें और 'लाजें' का उच्चारण 'लजें' की तरह होता हो; क्योंकि इस तरह भी मात्रा का समीकरण हो जाता है। गानसंबंधी गवेषणापूर्ण तथा प्रामाणिक विवेचना का भार गायक विद्वानों को सौंपकर मैं यह अध्याय यहीं समाप्त करता हूँ।

आठवाँ अध्याय

अवहट्ट

अभी तक जिस भाषा के विषय में बतलाया गया है वह है विद्यापति के पदों की भाषा, उस समय की बोलचाल की भाषा। इसके अतिरिक्त विद्यापति ने 'अवहट्ट' में कीर्त्तिलता तथा कीर्त्तिपताका—इन दो ग्रन्थों की रचना की। विद्यापति इसको लोकप्रिय देशभाषा कहते हैं (देसिल बअना सब जन मिट्ठा तें तैसन जम्पओ अवहट्टा, कीर्त्तिलता पृ० ६)।

जिस समय संस्कृत का साम्राज्य था उस समय उसी का बोलबाला होना, सब रसों के लिये, धार्मिक तथा लौकिक—सब तरह की रचनाओं के लिये उसी भाषा का उपयोग होना स्वाभाविक है। यह संसार परिवर्तनशील है। किसी का दिन एक-सा नहीं रहता है। आज जो उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुका है, हो सकता है कि कल ही उसका पतन हो जाय और पतन भी इस प्रकार का हो कि सर्वदा के लिये उसकी उत्थानशक्ति नष्ट हो जाय। भाषा भी इस प्राकृतिक नियम का अपवाद नहीं है। संसार में कोई भी भाषा जिसके मुकाबले की नहीं थी, प्राकृतमञ्जरी के रचयिता राजशेखर की राय में उसी भाषा की रचना कठोर हुआ करती है और वह प्राकृत की कोमलता नहीं पा सकती है (देखिये पृ० ८८)। गाथासप्तशती के रचयिता सातवाहन का कहना है—"जिन्होंने प्राकृतरूपी अमृत का पान नहीं किया है उन्हें शृङ्गार रस की कविता की रचना करते समय लज्जा नहीं होती है? अर्थात् शृङ्गार रस के लिये अनुपयुक्त (प्राकृत के अतिरिक्त) अन्य भाषा में शृङ्गार रस की कविता करना अनधिकार-चेष्टा या निरी मूर्खता है।" गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि गोवर्द्धनाचार्य के समान निर्दोष तथा उत्कृष्ट रचना करनेवाला कवि आज तक नहीं हुआ है (देखिये पृ० ११५)। आर्या-सप्तशती में गोवर्द्धनाचार्य ने बतलाया है कि केवल प्राकृत भाषा में रस की अभिव्यञ्जना हो सकती है, संस्कृत में वह सरसता कहाँ? फिर मैंने उलटी गङ्गा बहा दी है अर्थात् रसाभिव्यंजना के लिये अनुपयुक्त संस्कृत भाषा में काव्य-रचना की है।

इसलिये मेरा अपराध क्षन्तव्य है। जिस समय इस तरह लोकप्रिय तथा सरस प्राकृत साहित्यिक भाषा थी उस समय भी बोलचाल की भाषा कोई अवश्य रही होगी। वही भाषा अपभ्रंश है और उसी भाषा के द्वारा जनता का परस्पर भाव-विनिमय होता था। परिवर्तन होना एक अटल प्राकृतिक नियम है। इसी नियम के अनुसार अपभ्रंश लोकप्रिय होने लगी और थोड़े ही समय में इस भाषा ने साहित्य में वही स्थान पाया जो पहले प्राकृत को मिला था। जिस प्रकार पहले राजशेखर, सातवाहन, गोवर्द्धनाचार्य आदि महाकवियों की धारणा थी कि माधुर्य और सरसता केवल प्राकृत भाषा में हो सकती है न कि संस्कृत में उसी प्रकार विद्यापति कहते हैं—

"सक्कय वाणी बुहअन भावइ पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा"

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को अच्छी मालूम पड़ती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती अर्थात् प्राकृत भाषा में जरा भी सरसता नहीं है। यही कारण है कि लोकप्रिय तथा सरस अवहट्ट भाषा में मैं काव्य-रचना करता हूँ। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। विद्यापति रचित ग्यारह मौलिक संस्कृत ग्रन्थ ही इसका प्रबल प्रमाण है। विद्यापति ने उस समय के प्रथानुसार अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना ही नहीं की थी, किन्तु विद्यापति के ऊपर देव-भाषा का गहरा प्रभाव पड़ा था जैसा कि अवहट्ठ भाषा में

---

(१) अपभ्रंश युग में प्राकृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, उसका प्रयोग केवल नाटक, व्याकरण तथा प्राचीन साहित्यों में ही पाई जाती थी।

लिखे हुए दोनों ग्रन्थों में "प्रतिज्ञापूरणैकपरशुराम, धनुर्विद्या वैदग्ध्यधनञ्जयावतार" आदि लम्बे-लम्बे सामासिक संस्कृत शब्दों के बार-बार व्यवहार से स्पष्ट ज्ञात होता है। संस्कृत भाषा से इस तरह प्रभावान्वित तथा उस भाषा के अति प्रेमी विद्यापति के इस निष्पक्ष वर्णन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मिथिला में प्राकृत के बाद जिस भाषा ने साहित्यक रूप धारण किया या लोकप्रियता प्राप्त की वह थी अवहट्ठ। महामहोपाध्याय ज्योतिरीश्वर ने छः भाषाओं में 'अवहठ' का भी उल्लेख किया है (वर्णनरत्नाकर पृ० ४४)। जहाँ तक मुझे ज्ञात है केवल ये ही दो ग्रन्थ हैं जिनमें अवहट्ठ या अवहठ शब्द पाया जाता है। संस्कृत तथा प्राकृत—ये दो शब्द विशेषण हो सकते हैं। इसलिये संस्कृत भाषा के लिये संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के लिये संक्षिप्त रूप 'प्राकृत' का व्यवहार किया जाता है। 'अपभ्रंश' शब्द संज्ञा है, वह भाषा का विशेषण नहीं हो सकता है। इसलिये 'आदर्श से गिरी हुई भाषा' के लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार करना मैथिल विद्वानों को खटका। उन्होंने उसका नामकरण किया अवहट्ठ अर्थात् अपभ्रष्ट। संस्कृत तथा प्राकृत शब्दों की तरह अपभ्रष्ट भाषा के लिये 'अवहट्ठ' शब्द का व्यवहार करना युक्तिसंगत मालूम पड़ता है। इस तरह हेमचन्द्र, चण्ड, केशवचन्द्र आदि के व्याकरणों में 'अपभ्रंश' शब्द पाया जाता है और मैथिल दो[1] विद्वानों की पुस्तकों में 'अवहट्ठ' या 'अवहठ'। अवहट्ठ के ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों शब्द

(१) यदि मिथिला में खोज हुई तथा उस समय के अन्यान्य ग्रन्थ मिले तो आशा है कि उनमें भी यह शब्द पाया जाय।

हैं जो अपभ्रंश अध्याय के हैम व्याकरण से सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों भाषाओं में इतना अन्तर है कि शौरसेनी अपभ्रंश तथा अवहट्ट के निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि ये दो विभिन्न भाषाएँ हैं।

अवहट्ट:—(१) दूर दुग्गम आगि जारथि
नारि विभारि वालक मारथि।......
न दीनक दया न सकताक डर
न वासि सम्बर न विआहीं घर

(२) जाचक सिद्धि केदार दान पञ्चम वलि जानल।
पिअसख मणि पिअरोजसाह सुरतान समानल।

अपभ्रंश (शौर०):—(१) जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइसीसु

(२) इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि तो हउ जाणउ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि।

अवहट्ट की थि (वर्तमान अन्य पुरुष) तथा ल (भूत-काल) विभक्तियों का व्यवहार अपभ्रंश (शौर) में नहीं होता है। संबंध की विभक्ति 'क' भी अपभ्रंश में नहीं पाई जाती है। अपभ्रंश के पावीसु, करीसु, तथा पइसीसु शब्दों की सु (भविष्यत् काल) और 'सरावि' शब्द की इ (अधिकरण) विभक्तियाँ अवहट्ट में नहीं पाई जाती हैं। पूर्वकालिक प्रत्यय ओप्पिणु या ओप्पि तथा सर्वनाम एहो तथा महु अवहट्ट में नहीं पाये जाते हैं। इस तरह यह मालूम पड़ता है कि अवहट्ट शौरसेनी अपभ्रंश नहीं है। विद्यापति ने इब्राहिम शाह की

राजसभा का वर्णन करते समय यह बतलाया है कि बंगाली तथा उड़िया राजा अपनी भाषा बोलते थे। ज्योतिरीश्वर की भाट-वर्णना (पृ० ४४) से ज्ञात होता है कि उड़िया एक उपभाषा थी। उस समय की बँगला भी अवहट्ठ से भिन्न थी; क्योंकि उपभाषा उड़िया बोलनेवाले राजा की तरह बंगाली राजा भी अपनी भाषा में बोलते हुए बतलाये गये हैं। संभव है कि ज्योतिरीश्वर की शकारी बँगला ही हो। मागधी के अतिरिक्त कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें 'शकार' की प्रचुरता हो, वह मागधी छः भाषाओं में एक है। फिर एक उपभाषा शकारी जिसमें 'ख' की जगह भी 'श' का उच्चारण होता है बँगला के अतिरिक्त दूसरी कौन भाषा हो सकती है। संभव है कि मागधी वर्तमान मगही की जननी थी। इस तरह मालूम पड़ता है कि प्राकृत तथा अर्वाचीन मैथिली की मध्यवर्ती भाषा 'अवहट्ठ' है। प्रो० बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका (पृ० २०) में स्पष्ट शब्दों में बतलाया है "कीर्तिलता के अपभ्रष्ट को 'मैथिल अपभ्रंश' कहना उचित होगा" "कीर्तिलता की भाषा आधुनिक मैथिली और मध्यकालीन प्राकृत के बीच की है" (पृ० २३)। सत्रहवीं शताब्दी के लोचन कवि ने स्वरचित रागतरङ्गिणी में पहले मध्यदेश की भाषा की कविताओं के कुछ उदाहरण उद्धृत किये हैं। अनन्तर आपने लिखा है "देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंशभाषया श्रीविद्यापति-निबद्धास्तास्ता मैथिलगीतगतयः प्रदर्श्यन्ते" अर्थात् देशी भाषाओं में भी स्वदेशीय होने के कारण श्रीविद्यापति कविद्वारा मिथिलापभ्रंश भाषा में रचित मैथिल गीतों के भेद दिखलाये

जाते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि मिथिलापभ्रंश भी एक भाषा थी और वह शौरसेनी अपभ्रंश अर्थात् मध्यदेश की भाषा से भिन्न थी। भाषा-वैज्ञानिकों की राय में ६००—१००० तक अपभ्रंशयुग तथा उसके अनन्तर आधुनिक भाषायुग माना जाता है, किन्तु विद्यापति के समय में अपभ्रंश में काव्य-रचना की जाती थी—इसके साक्षी विद्यापति के दो अपभ्रंश-ग्रन्थ ही हैं। विद्यापति के पदों में भी अपभ्रंश की अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस तरह मालूम पड़ता है कि 'अवहट्ठ' के अतिरिक्त विद्यापति के पदों की भाषा भी 'मिथिलापभ्रंश' ही कहलाती थी। बँगाल में एक नई भाषा 'व्रजबुली' का प्रचार हुआ और उस भाषा में अनेक काव्यों की रचना हुई। वह भाषा इस तरह लोकप्रिय थी और इस समय तक है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी 'भीमसिंह ठाकुरेर पदावली' की रचना व्रजबुली में की है। यह व्रजबुली प्राचीन मैथिली है। मैथिली से अपरिचित लेखकों ने कहीं-कहीं बँगला शब्दों का भी प्रयोग कर डाला। उस समय की मैथिली में शौरसेनी के अनेक शब्द व्यवहृत होते थे। (जिसका पूर्ण विवरण इसी अध्याय में किया जायगा)। इसलिये डा० चटर्जी आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—"A Curious poetic jargon, a mixed Maithili and Bengali with a few western Hindi forms. This mixed dialect came to be called Brajabuli". अर्थात् यह विचित्र पद्य में व्यवहृत दुर्बोध भाषा है। इसमें कुछ पश्चिमी हिन्दी के रूपों के साथ बँगला तथा मैथिली का संमिश्रण है।

यह मिश्रित भाषा व्रजबुली कहलाने लगी। आर० डो० बनर्जी 'बंगलार इतिहास' नामक पुस्तक (पृ० १३०) में लिखते हैं कि मैथिल ब्राह्मण संस्कृत विद्या के लिये विख्यात थे तथा १६ वीं शताब्दी तक बंगाल तथा अन्यान्य प्रान्तों के लोग मिथिला में पढ़ने के लिये आया करते थे। इसलिये यह असंभव नहीं है कि १०००—१३०० ई० तक भी बंगाली विद्या के केन्द्र, मिथिला में आकर संस्कृत के अतिरिक्त 'अवहट्ठ' भी सीख लेते हों। यही कारण है कि बंगाल में इन शताब्दियों की रचना 'अवहट्ठ' में पाई जाती है। मिथिला में यदि अनुसन्धान का कार्य जारी रहा और इन शताब्दियों की पुस्तकें मिलीं तो उस प्रबल प्रमाण के सामने किसी अनुमान का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अवहट्ठ एक स्वतन्त्र भाषा थी तथा उसका पूर्ण प्रचार था।

जिस प्रकार नाटकों में विभिन्न पात्रों के द्वारा विभिन्न प्राकृतों का व्यवहार होता है और इन प्रयोगों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि कौन प्राकृत प्रधान थी तथा कौन अप्रधान, किसमें गानोपयोगी श्रुतिमधुर शब्द व्यवहृत होते थे तथा किसमें गद्योपयोगी सरल तथा सुबोध शब्द तथा कौन-सी भाषा नीचपात्र तथा हास्यरस के लिये उपयुक्त थी, इसी प्रकार यदि प्रचुर परिमाण में अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ मिलते तो यह कहना संभव था कि भारतवर्ष में इस अपभ्रंश का क्या स्थान था, किन्तु दुर्भाग्यवश उदाहरण के रूप में उद्धृत कुछ अंशों के अतिरिक्त इने-गिने अपभ्रंश के ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके सहारे किसी सिद्धान्त तक पहुँचना कठिन ही नहीं, किन्तु असंभव है।

प्रो० चटर्जी का कहना है कि पूरब में अशोक के बाद प्रान्तीय भाषाओं की विशेष कर मागधी की उन्नति नहीं हुई। नाटकों में मागधी नीच पात्रों की ही भाषा थी। अर्धमागधी तथा मागधी प्रान्तों में भी साहित्यिक क्षेत्र में शौरसेनी ही व्यवहृत होती थी। संभवतः शौरसेनी ही उस समय की शिष्ट भाषा थी। अपभ्रंश-युग में पूरब के कवि भी अपनी देश-भाषा का व्यवहार नहीं कर शौरसेनी अपभ्रंश में ही काव्यरचना करते थे। प्राच्य भाषाओं के पूरा प्रचार होने पर भी पूर्व देश में पाश्चात्य साहित्यिक शौरसेनी में लिखने की प्रथा जारी रही। बंगाल के प्राचीन लेखकों ने (१०–१३ शताब्दी तक) शौरसेनी अपभ्रंश में कविता रचना की। चौदहवीं शताब्दी के मैथिल कवि विद्यापति ने अपनी मातृभाषा मैथिली तथा अवहट्ट (जो शौरसेनी अपभ्रंश का अन्तिम रूप है) में रचना की (Origin and development of Bengali, Page 91).

फिर भी उसी पुस्तक के एक सौ तेरहवें पृष्ठ में आपने बतलाया है—"जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूर्वी भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में पाश्चात्य अपभ्रंश प्रचलित थी।" नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के राजपूत राजाओं की राजसभा में शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा प्रचलित थी और राजसभा के भाटों ने उस भाषा को उन्नत किया। उन राजाओं के प्रति संमान दिखलाने के लिये गुजरात तथा पश्चिम, पंजाब से लेकर बंगाल तक सारे आर्यभारत में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हो गया और वह राष्ट्रभाषा हो गई। इसमें संदेह नहीं कि यही शिष्टभाषा थी और

कविता-रचना के लिये भी यही उपयुक्त समझी जाती थी। भारत के अन्यान्य प्रान्तों के भाटों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी तथा इसमें काव्यरचना करनी पड़ती थी। कुछ समय तक यही क्रम जारी रहा, किन्तु क्रमशः प्रान्तीय भाषाओं ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य-काल तक मैथिली, अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं ने प्रौढ़ता प्राप्त की और फलस्वरूप केवल मध्य देश में व्रजभाषा के रूप में वह पाई जाने लगी। पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिन्दी पर अपभ्रंश का गहरा प्रभाव पड़ा, उसमें अपभ्रंश के रूपों की भरमार है। मध्य हिन्दीयुग (१५ वीं शताब्दी) की व्रजभाषा के पहले तथा १००० ई० के पूर्व की विशुद्ध शौरसेनी अपभ्रंश के बाद जिस शौरसेनी अपभ्रंश व्यवहार होता था वही 'अवहट्ठ' के नाम से प्रसिद्ध है। प्राकृतपिङ्गल में इस अवहट्ठ भाषा के पद्यों का संग्रह है। राजपुताना में अवहट्ठ 'पिङ्गल' के नाम से प्रसिद्ध थी। स्थानीय भाट प्राचीन भाषा पिंगल तथा राजस्थानी भाषा डिंगल—दोनों ही में काव्य-रचना करते थे। बिहार, पंजाब तथा राजपुताना की तरह बंगाल पर भी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार बँगला के रचना युग (७००—९०० ई०) तथा प्राचीन बँगला युग में (९५०—१२०० ई० तक) इसमें बौद्ध (सहजिया) साहित्य की रचना हुई। वह रचना करनेवाले कवियों की मातृभाषा नहीं थी। इसलिये बँगला के अनेक शब्द तथा बँगला की लेखशैली (Idiom) उसमें पाई जाती हैं। म० म० हर-प्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित दोहा कोष में आछ, थाक (रहना)

जब्बे, तब्बे (जब, तब), छड्डइ (छोड़ता है) आदि बँगला के शब्द हैं।…………। मिथिला में इस शौरसेनी अपभ्रंश में काव्यरचना की प्रथा विद्यापति के समय तक जारी रही। यह पहले बताया जा चुका है विद्यापति ने अवहट्ठ में काव्य-रचना की। विद्यापति के अवहट्ठ में उस समय की प्राचीन ब्रजभाषा तथा मैथिली का संमिश्रण है। उसके ऊपर मैथिली के स्वरविज्ञान तथा वर्णविन्यास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। संस्कृत नाटकों में व्यवहृत साहित्यिक प्राकृत का भी प्रभाव समय-समय पर दीख पड़ता है। विद्यापति के साथ अवहट्ठ राजसभा की प्रशंसात्मक काव्यरचना तक ही सीमित रही। बंगाल में जब बँगला ने प्रौढ़ता प्राप्त की तब शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके अर्वाचीन रूपों का व्यवहार बन्द हो गया।

(Origin and development of the Bengali language Pages 113—114)

इस तरह एक ओर मैथिल विद्वानों तथा डा० सकसेना की राय में 'अवहट्ठ' का अर्थ है मिथिलापभ्रंशभाषा और दूसरी ओर भाषा-विज्ञान के प्रगाढ़ विद्वान् डा० चटर्जी की राय में शौरसेनी अपभ्रंश ही 'अवहट्ठ' नाम से प्रसिद्ध थी। डा० चटर्जी की राय में चौदवीं शताब्दी के "प्राकृतपैङ्गल" की भाषा अवहट्ठ है। इसलिये वह किसकी रचना है? किस अपभ्रंश में उसकी रचना हुई है? उससे 'अवहट्ठ' कौन-सी भाषा है?—यह जानने में सहायता मिल सकती है या नहीं—इत्यादि विषयों की विवेचना कर ही आगे बढ़ना उचित मालूम पड़ता है।

'प्राकृतपैङ्गलम्' की विद्वत्तापूर्ण भूमिका (पृ० ७) से ज्ञात होता है कि 'प्राकृतपैङ्गल' के रचयिता अनेक हैं। ९००–१४०० ई० तक के अनेक कवियों की रचनाएँ उदाहरण के रूप में उद्धृत की गई हैं। नवीं शताब्दी के प्राकृत-नाटककार राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी के चार श्लोक (वर्णवृत्त श्लोक १५१, १८७, १८९, २०१ क्रमशः कर्पूरमञ्जरी अङ्क २ श्लोक ५, अङ्क १ श्लोक २०, २६, ४) भी इसमें उद्धृत किये गये हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने कहीं भी यह नहीं बताया है कि इस ग्रन्थ की भाषा क्या है। यदि ग्रन्थकर्त्ता एक होते तथा एक समय के होते तो यह बताना संभव था, किन्तु विभिन्न समय के विद्याधर, हरिहर, हरि, राजशेखर आदि कवियों के उदाहरण तथा विभिन्न विद्वानों के विभिन्न लक्षण हैं। इसलिये इसकी भाषा एक हो ही नहीं सकती है।

डा० चटर्जीने पहले इसको अपभ्रंश का निबन्ध माना है (This work is a treatise on Apabhransa and early NIA Versification, Page 123)। आगे चल कर (पृ० १२४) आप बतलाते हैं कि अनेक पद्यों की भाषा नकली पश्चिमी साहित्यिक अपभ्रंश या पच्छिमी अवहट्ठ है

---

(१) डा० चटर्जीने बतलाया है कि 'प्राकृतपिङ्गल' में कर्पूरमञ्जरी के दो ही श्लोक उद्धृत किये गये हैं (orgin and development of Bengali language, page 124)। निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित कर्पूरमञ्जरी के ४१, १६, २८, ४ पृष्ठों में क्रमशः प्राकृत पैङ्गल के १५१, १८७, १८९, तथा २०१ श्लोक हैं। फिर किस आधार पर दो ही बतलाये गये हैं—यह ज्ञात नहीं।

जिसका आधार प्राचीन साहित्यिक शौरसेनी है। दो पद्य प्राकृत नाटक कर्पूरमञ्जरी से लिये गये हैं। कुछ पद्य (पृ० २४९, २७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४७०, ५१६, ५४१) ऐसे हैं जिनकी भाषा पश्चिमी हिन्दी है। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'History of Bengali language' नामक पुस्तक में बी. सी. मजुमदार ने बतलाया है कि लेखशैली, शब्दभण्डार, विशेष कर पद्यों के ताल से मालूम पड़ता है कि प्राकृतपिङ्गल के कुछ पद्यों की (पृ० १२, २२७, ३३४, ४०३, ४६५) भाषा प्राचीन बँगेला है। डा० चटर्जीने कुछ अंशों में इस मत का

---

(१) ऊपर के पद्यों में एक पद यह है—

ओगर भत्ता रंभअ पत्ता गाइक घित्ता दुध्ध सजुत्ता।

मोइणि मच्छा नालिच गच्छा दिज्जइ कंता खा पुणवंता (पृ० ४०३)

अर्थात् केले के पत्ते पर ओगर चावल का भात, गाय का घी और दूध, मोइनी मछली, नालिच साग स्त्री देती है और पुण्यवान् खाते हैं।

डा० चटर्जी ने ९१३ पृष्ठ में स्पष्ट शब्दों में बताया है कि मागधी अपभ्रंश में इअ तथा इज्ज—दोनों का व्यवहार होता था It would seem that in Magadhi Apahhransa, the two forms, इअ and इज्ज Occurred side by side, Page 913) किन्तु दोहाकोष में वखाणिज्जइ (पृ० १०३), कहिज्जइ (पृ० १०५ १२९) भणिज्जइ, किज्जइ (पृ० १२९) आदि शब्दों के रहने के कारण उसकी भाषा प्राचीन बँगला नहीं मानी जाती है, तथा ऊपर के पद्य में 'दिज्जइ' शब्द होने के कारण डा० चटर्जी की राय में उसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है (Origin and development of the Bengali language, Page 124)। पाठक ही सोचें कि यह कहाँ तक युक्ति संगत है। इसी प्रकार जात (चंचल जोव्वन जात),

समर्थन किया है। आपका कहना है कि यह संभव है कि ये पद्य प्राचीन बँगला में लिखे गये हों, किन्तु प्राकृतपिङ्गल में इन पद्यों को देखकर यह नहीं कह सकते हैं कि इनकी भाषा बँगला या प्राचीन बँगला है। इन पदों ने पश्चिम का भ्रमण किया। इसलिये इनमें पश्चिम के अनेक शब्द आ गये हैं (गत पृष्ठ की पादटिप्पणी)। प्राचीन बँगला के साथ इनकी तुलना कर सकते हैं, किन्तु बँगला के विकास पर इनसे कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है।

इन आठ पद्यों की भाषा जो कुछ हो—शौरसेनी अपभ्रंश

नत्थि, (नास्ति), जिमि आदि शब्द अन्यान्य पदों में व्यवहृत हुए हैं। इसलिये प्रो० चटर्जी की राय में उनकी भी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। 'जात' की तरह लखत (नगर लखत हृदअगत पेम) शब्द का व्यवहार विद्यापति ने अपने पदों में किया है। 'जिमि' से उत्पन्न 'जेम तथा जिमि शब्द भी विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं (निसि-निसि कुमुदिनि ससधर पेम जिमि, काच घटी अनुगत जल जेम)। प्रो० चटर्जी की राय है कि 'नात्थि' से उत्पन्न 'नथी' शब्द केवल गुजराती में व्यवहृत होता है, किन्तु आधुनिक मैथिली में 'नठि' (नीठ गेलाह) शब्द का व्यवहार इसका साक्षी है कि मैथिली अपभ्रंश में नट्ठि या 'नत्थि' का व्यवहार होता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी 'णत्थि' शब्द मिलता है। इसलिये इन शब्दों के आधार पर यह निर्णय कर लेना कि इन पद्यों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है—युक्ति-संगत नहीं मालूम पड़ता है। यह असंभव नहीं है कि ऊपर के पद्य की भाषा प्राचीन 'मैथिली' हो; कारण ओगर चावल और मोदिनी (एक अति स्वादिष्ट मछली) मिथिला में पाई जाती है। 'मोदिनी' नाम से अपरिचित होने के कारण टीकाकार ने मोदनी का 'मद्गुर मत्स्य' अर्थ किया है।

या दूसरी अपभ्रंश, किन्तु 'प्राकृतपैङ्गलम्' के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि 'अवहट्ठ' कौन-सी भाषा है और इस ग्रन्थ में 'अवहट्ठ' के उदाहरण हैं या नहीं; क्योंकि इस ग्रन्थ में 'अवहट्ठ' शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अनेक समयों की अनेक भाषाओं के उदाहरण हैं और किसी जगह भाषा का नामनिर्देश नहीं है। इसलिये इससे कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है।

अब देखना है कि मैथिली की विशेषताएँ 'अवहट्ठ' में पाई जाती हैं या नहीं। यदि अवहट्ठ मैथिली की जननी थी तो मैथिली की विशेषताओं का अवहट्ठ में होना अनिवार्य है।

डा० चेटर्जी के अनुसार मैथिली तथा मगही की विशेषताएँ ये हैं (Page 94)—

(१) क्रिया के विशेष रूप (कएलन्हि, देखलक, देखलकैक, देखलथिन्ह, देखलथुन्ह आदि)।

(२) भविष्यत् काल के अन्यपुरुष एकवचन में 'त' का व्यवहार (जाएत, करत आदि)

(३) वर्तमान काल के अन्यपुरुष बहुवचन में 'थि' का व्यवहार (जाथि, करथि आदि)।

(४) मध्यम पुरुष में अहाँ (आप) का व्यवहार।

(५) 'हो' क्रिया के अतिरिक्त थिक और अछ क्रियाओं का व्यवहार (यह केवल मैथिली में पाया जाता है)।

---

(१) ६—९ तक विशेषताएँ आसामी, उड़िया तथा बँगला में पाई जाती हैं, १०—१२ तक विशेषताएँ भोजपुरिया में भी पाई जाती है।

(६) कर्त्ता कारक में 'ए' विभक्ति, भूतकाल के अन्य पुरुष एकवचन में 'क' का व्यवहार (देखलक, कएलक आदि)।

(७) आछ, थाक आदि क्रियाओं का समापिका क्रिया की तरह व्यवहार।

(८) पुरुषवाचक सर्वनामों के बाद संबन्ध कारक की विभक्ति 'रा', जैसे हमरा लोकनि, हमरा सभ, बँगला आमरा सकल।

(९) संबन्ध कारक की विभक्ति 'केर' (बँगला में एर)।

(१०) तालव्य 'श' का दन्त्य 'स' की तरह उच्चारण।

(११) 'र' के स्थान में 'ल' का व्यवहार।

(१२) संबन्ध कारक में संज्ञाओं के बाद 'क' का प्रयोग और सर्वनामों के बाद 'कर' का प्रयोग।

(१३) अधिकरण कारक में 'में' का प्रयोग।

(१४) भूत तथा भविष्यत् कालों में क्रमशः 'अल' तथा 'अव' का प्रयोग न कि इल तथा 'इव' का।

यह संभव नहीं है कि बीसवीं शताब्दी की सब विशेषताएँ चौदहवीं शताब्दी की भाषा में भी मिले। पाली की सब विशेषताएँ प्राकृत में नहीं पाई जाती हैं, न कि प्राकृत की सब विशेषताएँ अपभ्रंश में ही मिलती हैं। इसलिये अपभ्रंश की सब विशेषताओं का आधुनिक काल की भाषा में होना या आधुनिक काल की सब विशेषताओं का अवहट्ठ में होना संभव नहीं है। अर्वाचीन मैथिली में उपलब्ध क्रिया के अनेक रूप

(१) वर्णनरत्नाकर में 'कदलीँ विपरित गति कइलि' (पृ० ६) में 'इल' का प्रयोग देखकर यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता है।

विद्यापति के पदों में तथा वर्णनरत्नाकर में नहीं पाये जाते हैं 'यहाँ' भी मैथिली का अर्वाचीन रूप है। विद्यापति के समय में यह व्यवहृत नहीं होता था। इसी प्रकार अधिकरण की विभक्ति 'में' वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में नहीं पाई जाती है। इसलिये कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका में उस समय अप्रचलित 'में' विभक्ति का प्रयोग न होकर उस समय प्रचलित ए, एँ तथा हि विभक्तियों का प्रयोग होना स्वाभाविक है। यह पहले बताया जा चुका है कि हमरा लोकनि, हमरा सभ आदि शब्दों का व्यवहार अर्वाचीन मैथिली में होता है न कि प्राचीन मैथिली में। जिस प्रकार 'ड' के स्थान में 'ल' विद्यापति के पदों में पाया जाता है उसी प्रकार अवहट्ठ के ग्रन्थों में भी। कत न वासर पलटि आविह, कत न होइह राती आदि पद्यांशों में भविष्यत् काल की विभक्ति 'इह' और अन्यान्य पद्यांशों में (देखिये 'क्रिया' शीर्षक) 'व' तथा 'त' देखकर मालूम पड़ता है कि उस समय ये तीनों विभक्तियाँ प्रचलित थीं। कीर्तिलता में भविष्यत् काल के रूप केवल सात बार पाये जाते हैं, उनमें केवल 'इह' विभक्ति है। संभव है कि उस समय यही लोकप्रिय विभक्ति हो। करथि, जाथि, अवथि, धावथि, विकणथि, आनथि, मानथि, जारथि, मारथि, उतरथि आदि, अवहट्ठ के अनेक रूपों के अन्त में 'थि' पाया जाता है। तहाँ अछए मन्ति आनन्द खाण, अद्य पर्यन्त विश्वकर्मा पहों कार्य छल—आदि अंशों में 'अछए' तथा 'छल' ('अछ' धातु के रूप) पाये जाते हैं। उदाहरणों के साथ यह पहले बतलाया जा चुका है कि अवहट्ठ में भी समापिका क्रिया की

तरह 'अछ' का व्यवहार होता है। यह भी पहले बताया जा चुका है कि प्राकृत के सम्बन्ध में कारक में 'केर' विभक्ति का व्यवहार होता है। उसी 'केर' विभक्ति का प्रयोग कीर्तिलता के तिरहुति केरा, पञ्चसर केरा आदि शब्दों में बार बार पाया जाता है। उसी 'केर' से बँगला तथा मैथिली 'एर' की उत्पत्ति हुई है। जेन्हे राजे अतुल तर विक्रम, खले सज्जन परिभविअ आदि अंशों में कर्ता की विभक्ति 'ए', तथा न पापक लज्जा, न पुन्यक काज, न शत्रुक शङ्का, न मित्रक लाज—आदि अंशों में सम्बन्धी की विभक्ति 'क' पाई जाती हैं। इसी प्रकार 'अवहट्ठ' के समानल, जानल, मारल, आदि रूपों में 'अल' का प्रयोग पाया जाता है न कि 'इल' का। उस समय किस प्रकार उच्चारण होता था—इसका यथार्थ ज्ञान होना असंभव सा है, किन्तु जस, अपजस आदि शब्दों में तालव्य 'श' के स्थान में दन्त्य 'स' देखकर मालूम पड़ता है कि उस समय भी तालव्य 'श' का दन्त्य 'स' की तरह ही उच्चारण होता था।

इस प्रकार इन चौदह विशेषताओं में चार विशेषताएँ (१) क्रियाओं के अनेक विशेष रूप (२) अहाँ का प्रयोग (३) पुरुषवाचक सर्वनामों के बाद 'रा' विभक्ति (४) अधिकरण कारण की विभक्ति 'में' केवल अर्वाचीन मैथिली में पाई जाती हैं। (देखिये सर्वनाम तथा कारक शीर्षकों में)। अवशिष्ट दस विशेषताओं में भविष्यत् काल की विभक्तियाँ ब तथा त

---

(१) डा० चटर्जी की राय में भी यह आधुनिक युग की विशेषता है। (origin and development of the Bengali language, Page 19)

तथा भूतकाल की विभक्ति 'क' अवहट्ट में नहीं पाई जाती हैं। उस समय प्रचलित तीन विभक्तियों में भी ग्रन्थकर्ता इच्छानुसार किसी भी विभक्ति का व्यवहार कर सकता था। इससे किसी निर्णय तक पहुँचना असंभव है, वरन् यह संभव है कि अवहट्ट में 'इह' लोकप्रिय विभक्त थी और आधुनिक काल में इसका प्रयोग विरले ही होता था—जैसे, विद्यापति ने अवहट्ट में 'इह' का प्रचुर प्रयोग और पदों में विरले ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार यह भी संभव है कि मिथिला-पभ्रंश भाषा में देखलक, कएलक आदि शब्दों को साहित्यिक रूप नहीं मिला हो और इसी कारण कीर्तिलता में भूतकाल की 'क' विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया हो अवहट्ठ में मैथिली की अवशिष्ट आठ विशेषताओं के रहते यह कहना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है कि अवहट्ट मैथिली अपभ्रंश नहीं है किन्तु वह है शौरसेनी अपभ्रंश।

इन ही समानताओं के आधार पर निःशङ्क होकर हम कह सकते हैं कि अवहट्ठ मैथिली की जननी है, तथापि किसी अन्तिम निर्णय तक पहुँचने के पहले लिङ्ग, वचन, कारक, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, क्रिया आदि भाषा के अङ्गों में इन दोनों भाषाओं में कितनी समानता या विभिन्नता है—यह देख लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

अवहट्ट के साथ मैथिली की तुलना

लिङ्ग

मैथिली की तरह अवहट्ठ में भी विशेषण तथा क्रियाओं के स्त्रीलिङ्ग रूप पाये जाते हैं; जैसे दोखे हीनि, माझ

खीनि, रसिके आनलि (कीर्तिलता), धम्मिल धरि पिअपास आनलि (कीर्तिपताका)।

वचन

वर्णनरत्नाकर की तरह अवहट्ठ में भी 'न्हि' विभक्ति से बहुवचन का बोध होता है; जैसे गो वोलि गमारन्हि छाड़, नागरन्हिकाँ मन गाढ़, वेश्यान्हि करो, राअन्हि करो (कीर्तिलता) नागरन्हिकेरो समुदाय (कीर्तिपताका)। 'न्ह' भी इसीका रूपान्तर है। प्राचीन मैथिली की तरह बहुवचन में भी आकारान्त रूप पाये जाते हैं; जैसे वाणिज होइ विअष्खणा। पदों की तरह बहुवचन में निर्विभक्ति पद भी पाये जाते हैं; सव्वउँ नारि विअष्खनी सव्वउँ सुस्थित लोक।

कारक

कर्त्ता

प्राचीन मैथिली की तरह कर्त्ता कारक में एकारान्त तथा निर्विभक्तिक शब्द पाये जाते हैं। शौरसेनी से प्रभावान्वित होने के कारण ओकारान्त रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु उनकी

---

(१) वाटा (चर्या १९), संघारा, वीरा, थीरा आदि अनेक रूप (चर्या २०) चारा, आहारा, मूसा (चर्या २१) आदि अनेक आकारान्त रूप 'चर्याचर्य-बिनिश्च' य में पाये जाते हैं। मागधी प्राकृत में भी कर्ता के बहुवचन में आकारण रूप मिलता है; जैसे—दे हत्था संवुत्ता (स्वप्नवासव पृ० ८०)।

(२) जइसो, तइसो (चर्या १३, २२), विशेसो (चर्या २२) आदि, ओकारान्त रूप चर्याओं में भी मिलते हैं। मागधी प्राकृत में भी ओकारान्त रूप पाया जाता है; जैसे कहिं में पुत्तओ (भासकृत उरुभंग पृ० ९०), दसो दे कन्दुओ (स्वप्नवासवदत्त पृ० ७९)।

संख्या बहुत कम है। वर्णनरत्नाकर में प्रयुक्त 'ब्रह्माञे' की तरह आकारान्त पुँलिङ्ग शब्दों के बाद कर्त्ता कारक का चिह्न 'ञे' है; जैसे विधाताञे (पृ० ८२)

कर्म

कर्त्ता कारक की तरह कर्म कारक में एकारान्त तथा निर्विभक्तिक शब्द पाये जाते हैं; जैसे बिनु जने, बिनु धने, बिचो घटोरइ, अयसओ बिसहर बिस वमइ, अमिञ बिमुकइ चन्द आदि।

करण

प्रा० मैथिली की तरह करण कारक के एकवचन की विभक्ति 'ए' है तथा मागधी प्राकृत की तरह बहुवचन की विभक्ति 'हि' है; जैसे जेन वले रावण मारिअ, जसु पत्थावे पुत्र, परक्रमेहि जासु नाम दीप दीपे जानिआ, चामरेहि मण्डिआ, पव्वरेहि साजि साजि प्रा० मैथिली की तरह आकारान्त शब्दों के बाद 'ञे' विभक्ति पाई जाती है; जैसे—शोणित मज्जाञे मेइनी कित्तिसिंह करु मारि।

अपादान

अपादान में केवल 'सञो' विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—विन्ध्यसञो विधाताञे किनि काढ़ल, डीठिसञो पीठि हुए। हो सकता है कि इस छोटी पुस्तक में और विभक्तियों के प्रयोग का अवसर ही नहीं हुआ हो। एक जगह पदों की तरह तहँ भी मिलता है।

सम्बन्ध

सम्बन्ध की दो प्रधान विभक्तियाँ हैं—(१) क तथा (२) कर। कंरी, कंरो, कंरेओ आदि 'कर' के ही रूपान्तर हैं। शौरसेनी अपभ्रंश में करेउ तथा करेउँ विभक्तियों का प्रयोग होता है (हैम व्याकरण ८।१।१४७, ८।४।३५९ तथा ८।४।३७३)। अवहट्ठ तथा शौरसेनी अपभ्रंश को विभक्तियों की उत्पत्ति प्राकृत की विभक्ति 'केर' से हुई है, किन्तु विभिन्न प्रान्तों में जाकर 'कैर' ने विभिन्न रूप प्राप्त कर लिये। इनके अतिरिक्त राअह नन्दन, अंसह एत्ता दुक्ख सुनि—इन पदांशों में 'ह' विभक्ति से सम्बन्ध का बोध होता है।

अधिकरण

प्राचीन मैथिली की तरह (१) ए (२) एं तथा (३) हि विभक्तियों से अधिकरण का बोध होता है; जैसे सज्जन चिन्तइ मनहि मने, रहसें दव्व दए विस्सरइ, को संसारहि सार, तिहु अन खेत्तहि कान्ति तसु।

इस प्रकार कीर्तिलता की विभक्तियों पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात हो जाता है कि अवहट्ठ में उन ही विभक्तियों का प्रयोग किया गया है जो विभक्तियाँ वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में पाई जाती हैं। हेमचन्द्र ने जिन विभक्तियों का उल्लेख अपने व्याकरण के शौरसेनी अपभ्रंश प्रकरण में किया है वे विभक्तियाँ अवहट्ठ में दिखाई नहीं देती हैं। प्राकृत के

(१) सन्तुकरी क लोलिनी, मध्याह्न करी (२) साहि करो, मानुस करो मुण्ड, राम्रान्हिकरो (३) दुष्टाकरेओ, पृथ्वीचक्र करेओ आदि।

करण कारक के बहुवचन में 'हिं' विभक्ति का व्यवहार होता है। (प्रा० प्रकाश, परि० ५, सूत्र ५) दोनों भाषाओं की उत्पत्ति प्राकृत से हुई है। इसलिये शौरसेनी अपभ्रंश तथा अवहट्ठ—दोनों ही भाषाओं को प्राकृत से यह विभक्ति प्राप्त हुई है। मागधी प्राकृत के सम्बन्ध कारक के एकवचन में 'ह' विभक्ति का प्रयोग होता है, और उससे पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ स्वर होता है; जैसे पुलिशाह धने। (प्राकृत प्रकाश पृ० ११९)। इसी प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश के सम्बन्ध कारक के बहुवचन में 'हं' विभक्ति का प्रयोग होता है (हैम व्याकरण ८।४।३३९)। राअह नन्दन, रज्जह नीति आदि पदांशों के राअह, रज्जह आदि शब्द सम्बन्ध कारक के एकवचन में व्यवहृत हुए हैं तथा शौरसेनी अपभ्रंश की विभक्ति 'हं' की अपेक्षा मागधी प्राकृत की विभक्ति 'ह' के साथ अधिक समानता भी है। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि अवहट्ठ की विभक्ति 'ह' (सम्बन्ध कारक) की उत्पत्ति मागधी प्राकृत से हुई है। इस तरह बार बार अनुसंधान करने पर भी अवहट्ठ में ऐसी कोई विभक्ति नहीं मिलती है जो शौरसेनी अपभ्रंश से ली गई हो और जिसके द्वारा यह प्रमाणित करने में जरा भी सहायता मिले कि अवहट्ठ शौरसेनी अपभ्रंश है, न कि मिथिलापभ्रंश भाषा, वरन् वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में अनेकशः उपलब्ध, मैथिली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता, विभक्ति के रूप में चंद्रविंदु का व्यवहार (पीवक वेचाँ दीअ वोहँ, विभँहीन, गोत्रम्भन वधँ दोष न मानथि आदि अंशों में) अवहट्ठ में भी बारबार पाया जाता है। हेमचन्द्र के

व्याकरण तथा अन्यान्य शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यों में विभक्ति के रूप में चंद्रविन्दु नहीं पाया जाता है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि अवहट्ठ तथा शौरसेनी अपभ्रंश दो विभिन्न भाषाएँ हैं।

सर्वनाम

एक बार मैं डा० के पी० जायसवाल से मिलने गया था। प्रसंगवश आपने कहा कि विभिन्न प्रकाशकों के द्वारा प्रकाशित कीर्तिलता की दोनों प्रतियों को (हिन्दी तथा बँगला) देखकर ग्रियर्सन साहब को उनकी विशुद्धता पर संदेह हुआ और आपने डा० जायसवाल से खोज कर उक्त पुस्तक की पुरानी प्रति भेज देने की प्रार्थना की। पं० विष्णुलाल झा के द्वारा खोज हुई। भाग्यवश पिण्डारुक्ष-निवासी पं० आनन्द के घर में तालपत्र पर लिखित "कीर्तिलता' की एक प्राचीन प्रति मिली जो ग्रियर्सन साहब के पास लंडन भेजी गई। ग्रियर्सन साहब की राय में वही एक विशुद्ध प्रति है और अन्याय प्रतियों में लेखक की बहुत-सी भूलें हैं। पं० आनन्द झा की मृत्यु के बाद वह पुस्तक कहाँ गई—यह ज्ञात नहीं है। भरपूर चेष्टा करने पर भी उक्त पुस्तक के प्राप्त करने में मुझे सफलता नहीं मिल सकी। देखूँ, वह पुस्तक कब मेरे हाथ आती है।

जबतक विद्यापति लिखित 'श्रीमद्भागवत' के साथ विद्यापति-पदावली की खण्डित प्रति नहीं मिली थी तब तक बंगाली विद्वानों की धारणा थी कि जो, सो आदि ओकारान्त रूप ही विशुद्ध हैं, किन्तु पदावली की उस प्राचीन प्रति के प्राप्त होने

पर यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि जे, से आदि एकारान्त रूप ही विशुद्ध हैं। इसी प्रकार संभव है कि कीर्तिलता की प्राचीन विशुद्ध प्रति के प्राप्त होने पर 'अवहट्ठ' के ऊपर नया प्रकाश डाला जाता और उस प्रकाश के सहारे अवहट्ठ के रूप के निर्णय में सहायता मिलती, किन्तु जब तक वह विशुद्ध प्रति नहीं मिलती है तबतक जो सामग्रियाँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं उनसे ही संतोष करना पड़ेगा। इन अप्रासङ्गिक विषयों के उल्लेख से मेरा उद्देश्य यही है कि शौरसेनी उपभ्रंश से मिलते-जुलते अवहट्ठ के सर्वनाम विशुद्ध रूप हैं या नहीं— इसमें भी संदेह है, किन्तु जो रूप अभी मिल रहे हैं अनुसंधान के लिये उनकी ही सहायता लेनी पड़ेगी।

उत्तम पुरुष

कीर्तिलता में हओ (मैं) पाँच बार पाया जाता है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के उदाहरणों में तेरह बार 'हउं' शब्द का व्यवहार किया है। व्रजभाषा में सर्वदा 'हौं' का ही प्रयोग होता है। गुजराती में इन्हीं का विकृत रूप 'हुं' पाया जाता है। अवहट्ठ का 'हगों' चर्याचर्यविनिश्चय में दो बार 'हाउँ' और चार बार 'हाँउ' के रूप में पाया जाता है। डा० चटर्जी ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत अहम् से (अहकम्, हवों आदि रूपों में परिवर्तित होकर) मानी है। आपने इसको मागधी अपभ्रंश का स्मृति-चिह्न माना है, किन्तु अनेक भाषाओं में व्यवहृत होने के कारण यह किसी खास भाषा की संपत्ति नहीं मालूम पड़ती है।

'अस्मद्' शब्द के कर्त्ता बहुवचन का प्राकृत रूप अम्हे, अम्ह या अम्हो होता है। कीर्तिलता में 'अम्हे' तथा 'अम्ह' ज्यों के त्यों ले लिये गये। चर्याचर्यविनिश्चय में अम्हे अम्भे (चर्या २, २२) के रूप में तथा प्राकृतपिङ्गल में 'अम्मे' के रूप में पाया जाता है। 'अम्ह' के बाद 'ह' विभक्ति जोड़कर 'अम्हह' शब्द बना है। कीर्तिलता में यह शब्द अनेक बार पाया जाता है। जिस प्रकार अपभ्रंश के अनेक शब्द आधुनिक युग की भाषाओं में पाये जाते हैं उसी प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत शब्दों का भी व्यवहृत होना स्वाभाविक है। स्वप्नवासवदत्त और अभिज्ञान शाकुन्तल में 'अम्हेहिं' का प्रयोग देखकर ज्ञात होता है कि 'अम्ह' रूप का व्यवहार मागधी प्राकृत में भी होता था।

मध्यम पुरुष

कीर्तिलता में मध्यम पुरुष के दो ही रूप तोब्जे और तुम्हें पाये जाते हैं। विकारी रूप 'तो' के बाद (आसाब्जे, ब्रह्माब्जे आदि शब्दों में व्यवहृत) 'ब्जे' विभक्ति ('एँ' का रूपान्तर) जोड़कर 'तोब्जे' बनता है। यह प्राचीन मैथिली का विशुद्ध रूप है। चर्याचर्य-विनिश्चय में बार-बार 'तुम्हे' और मागधी प्राकृत में 'तुम्हाणम्' देखकर मालूम पड़ता है कि पूर्व भारत में प्राकृतयुग से ही 'तुम्ह' रूप प्रचलित था। हैम व्याकरण के ८।३।१४८। सूत्र के उदाहरण से भी इसीका समर्थन होता है। वूलनर की राय में अपभ्रंश का विशेष रूप 'तुह्य' है। 'तुम्हे' एकारान्त रूप ही इसका साक्षी है कि इस शब्द पर 'मागधी' का प्रभाव पड़ा है और मागधी में भी इसका व्यवहार होता आ रहा है।

अन्य पुरुष

जिस प्रकार 'बौद्धगान ओ दोहा' में जो (२५ बार), सो (३४ बार), को (५ बार) के अतिरिक्त जे (९ बार), से (६ बार) और के (एक बार) आदि एकारान्त रूपों का प्रयोग पाया जाता है उसी प्रकार कीर्तिलता में भी जो, सो तथा 'को' के अतिरिक्त एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जेँ, जेन, जेन्न, जेन्हे (करण के रूप), जसु, जासु, जिसु, जस्स, जन्हि (संबन्ध के रूप) शब्द अवहट्ठ में पाये जाते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार जें, जसु तथा जासु शौरसेनी अपभ्रंश के शब्द हैं और जस्स प्राकृत का। इनके अतिरिक्त अन्य सर्वनाम हैम तथा अन्यान्य व्याकरणों में नहीं मिलते हैं। संभव है कि प्राकृत 'जेण' से कीर्तिलता के जेन तथा जेन्न शब्द बने हों। विकारी रूप 'जे' के बाद बहुवचन की विभक्ति 'न्हि' जोड़कर जेन्हि या जन्हि बनता है। जेन्हे उसीका एकारान्त रूप है। ये सर्वनाम शौरसेनी अपभ्रंश के ऋणी नहीं हैं। जसु और तसु शब्द विद्यापति के पदों में भी पाये जाते हैं तथा 'जें' शब्द चर्याओं में मिलता है। इस तरह मालूम पड़ता है कि शौरसेनी अपभ्रंश के सर्वनाम के रूप जें, जसु तथा जासु अपभ्रंश युग की मैथिली में भी संमिलित कर लिये गये।

'को' के अतिरिक्त कोए, कवन, कोई, काहु का—ये प्रश्नवाचक सर्वनाम अवहट्ट में पाये जाते हैं। कमन (ऐसन पाउस

---

(१) जें (चर्या २), जसु (चर्या ४०), तं (चर्या ४१) शब्द चर्याचर्यविनिश्चय में पाये जाते हैं।

राति पुरुष कमन जाति गृह परिहरइ गमारे) कोइ (होतहि बिरह जिवए जनु कोइ) तथा काहु (काहु न कहहु जाए)—ये तीन सर्वनाम विद्यापति के पदों में भी पाये जाते हैं। कोए 'कोइ' का रूपान्तर है। यह भी विद्यापति के पदों में पाया जाता है (अपना धन्ध न कोए)। विकारी रूप 'का' के बाद विभक्तियाँ जोड़कर बने हुए काञ्चे, काँलागि आदि शब्द भी विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं। इस तरह केवल ओकारान्त रूप 'को' वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में नहीं पाया जाता है। संभव है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव हो।

'सो' के अतिरिक्त तिन्नि, तौन, तासु, तसु, तन्हि, तिसु, तन्हिकरो, और तं नित्यसंबन्धी सर्वनाम कीर्तिलता में पाये जाते हैं। 'नि' प्रत्यय जोड़कर 'तिन्नि' शब्द बना है। इस 'तिन्नि' से उत्पन्न 'तिनि' शब्द अभी तक बँगला में प्रचलित है। तसु विद्यापति के पदों में बार-बार पाया जाता है। तासु तथा तिसु इसीके रूपान्तर मात्र हैं, नये रूप नहीं हैं। 'तओन' शब्द भी (कुङ्कुमे तओन पसाहहि देह) एक बार विद्यापति के पद में मिलता है। 'तन्हिकर' प्राचीन मैथिली में बार-बार पाया जाता है (तन्हिकरि धसमसि विरहक सोस), अर्वाचीन मैथिली में भी इसका व्यवहार होता है। 'तन्हि' इसीका संक्षिप्त रूप है। 'तं' शब्द वर्णनरत्नाकर में अनेक बार पाया जाता

(१) प्राकृतयुग में द्वितीया और तृतीया की जगह सप्तमी होती है (द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ।८।३।१३५। हैम व्याकरण) इसलिये कर्म कारक में 'जं' तथा 'तं' के अतिरिक्त जम्मि तथा तम्मि भी होने लगे। अधिकरण कारक के रूपों के साथ 'जं, तं' को देखकर धीरे-धीरे जं तथा

है। इस तरह यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि इन शब्दों का व्यवहार प्राचीन मैथिली में भी होता था। केवल 'सो' एक शब्द है जिसका प्रयोग प्राचीन मैथिली में नहीं पाया जाता है।

'सब' के स्थान में 'सव्व' और 'आन' (अन्य) के स्थान में 'आण' का व्यवहार किसी खास अपभ्रंश की विशेषता नहीं है। इनका व्यवहार सब अपभ्रंशों में होता था।

सर्वनाम से बने हुए विशेषण

कीर्तिलता में 'उस समय' के अर्थ में 'तेतुली वेला' का प्रयोग किया गया है। शौरसेनी अपभ्रंश में तेतुल शब्द पाया जाता है (हैम व्याकरण ।८।४।४३५)। उसीका रूपान्तर तेतुल और स्त्रीलिङ्ग रूप तेतुली है। यादृश तादृश तथा 'कीदृश' से उत्पन्न जइस, तइस, तथा कइस शब्दों के बाद 'न' प्रत्यय जोड़कर बने हुए जइसन, तइसन और कइसन शब्द वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में पाये जाते हैं। अवहट्ठ में जइस, तइस आदि शब्द विशेषण की तरह व्यवहृत होते थे (जइसओ तइसओ कव्व) और क्रियाविशेषण की तरह जइसन, तइसन आदि शब्दों का प्रयोग होता था (तइसन जम्पओ अवहट्टा)।

क्रियाविशेषण

किमि (कैसे) शब्द का दो बार व्यवहार (किमि नीरस मनें रस लए लावओ, पृ० ४, किमि जिव्विह मुक्कु माओ,

---

ते भी अधिकरण के रूप माने जाने लगे। यही कारण है कि वर्णनरत्नाकर में ये स्थान, ते कुशल आदि वाक्यों में अधिकरण कारक में इन शब्दों का व्यवहार हुआ है।

पृ० ७२) कीर्तिलता में पाया जाता है। 'जिमि' शब्द पदों में भी पाया जाता है। इसलिये यह असंभव नहीं है कि किमि शब्द का भी व्यवहार उस समय की मैथिली में होता हो। इथि, उथि आदि शब्द पदों में भी पाये जाते हैं। 'उथि' का अपभ्रंश रूप 'उत्थि' है जिसका कीर्तिलता में व्यवहृत होना सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ तथा कहाँ शब्दों का प्रयोग आधुनिक काल की मैथिली में भी होता है। इसलिये ये शब्द मैथिली में व्यवहृत नहीं होते थे—यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा। जहिं तथा कहिं शब्द प्राकृत से लिये गये हैं।

इस तरह केवल ओकारान्त 'जो' 'सो' 'को' तथा 'तेतुली' शब्द प्राचीन मैथिली में अभीतक नहीं मिले हैं। संभव है कि प्राचीन मैथिली तथा अवहट्ठ के अन्यान्य ग्रन्थों की उपलब्धि होने पर इनपर भी प्रकाश डाला जाय। इस समय भी बहुत ऐसे सर्वनाम हैं जिनका व्यवहार हिन्दी तथा मैथिली—दोनों ही भाषाओं में होता है; जैसे हम, कौन (उच्चारण में थोड़ा अन्तर है), सब, कोई (कहीं-कहीं व्यवहृत), जहाँ, तहाँ, कहाँ आदि। क्या इसी आधार पर कहा जा सकता है कि मैथिली तथा हिन्दी में भेद नहीं है ?

क्रिया

वर्तमान काल

पहले बताया जा चुका है कि पदों में ओ, ओ (उत्तम पुरुष), सि, इ (मध्यम पुरुष), इ, ए, थि (अन्य पुरुष) वर्तमान काल की विभक्तियाँ हैं। कीर्तिलता में भी ओ, ओ

(उत्तम पु०), सि (म० पु०) इ, ए, थि, न्ति विभक्तियों का व्यवहार वर्तमान काल में हुआ है; जैसे वप्प वैरि उद्धरओ ण उण परिवग्गण चुकओ, संगर साहस करओ ण उण सरणागत मुकओ, सामिश्र सुनओ सुहेण, (उत्त० पु०) जइ उच्छाहे फुर कहसि (म० पु०), दुहु नहि लगाइ दुज्जन हासा, श्रो परमेसर हर शिर सोहइ-ई णिचइ नाअर मन मोहइ, दुज्जन वैरि ण होए, तहाँ अछए मन्ति, सवतहुँ मिलए सुठाम सुभोअण, वणिजार हाट जवे आवथि खने एके सवे विकण्णथि सवे किछु किनइते पावथि, तौललन्ति हेरा लसूला पेआजू आदि। इस तरह 'न्ति' एक नई विभक्ति है जो संस्कृत से सीधे ली गई है। 'थि' मैथिली की विशेष विभक्ति है जो अन्य किसी भाषा में नहीं पाई जाती है। कीर्तिलता में इस विभक्ति का तेरह बार प्रयोग पाया जाता है।

आज्ञार्थक

पदों की तरह अवहट्ठ में भी निर्विभक्तिक शब्द पाये जाते हैं; जैसे वीरसिंह भण अपन मति, सुन की संसारहि सार। कीर्तिलता में उ तथा उसीका सानुनासिक रूप उँ विभक्तियों का प्रयोग अन्यपुरुष में पाया जाता है; जैसे मेइनि साहउ (पृथिवी का शासन करें), ते रहउँ कि जाउँ कि रज्ज मम (इसलिये मेरा राज्य रहे या जाय)। अहाँ जाउ, अहाँ खाउ आदि अर्वाचीन मैथिली के वाक्यों में भी 'उ' विभक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार संस्कृत में भवत् शब्द के कर्त्ता रहने पर अन्यपुरुष की क्रिया का व्यवहार होता है उसी

प्रकार मैथिली में 'अहाँ' के कर्त्ता रहने पर अन्यपुरुष की विभक्ति 'उ' का व्यवहार होता है। एक जगह 'करौ' शब्द पाया जाता है, किन्तु दूसरी पुस्तक में करउँ (करउँ धम्म परिपाल) है। विद्यापति के पदों में अनेक समान शब्दों को देखकर मालूम पड़ता है कि 'करओ' विशुद्ध वर्णविन्यास है। पदों की तरह पाह न राखहिं गोए, भुञ्जह तिरहुत राज आदि अंशों में मध्यमपुरुष की 'हि' तथा 'ह' विभक्तियाँ पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त अवहट्ठ में संस्कृत 'स्व' से उत्पन्न 'सु' तथा उससे उत्पन्न 'हु' विभक्तियों का भी व्यवहार होता है; उव्वेअ न करिषु, पुण्ण कहानी पिअ कहहु, मोर वअन आकरणे करहु। चर्याचर्यविनिश्चय में लेहुँ, देहुँ (चर्या १२), तथा करहुँ (चर्या ४) शब्दों को देखकर ज्ञात होता है कि मागधी प्रान्तों में 'हु' विभक्ति का प्रयोग होता था। 'सु' विभक्ति का प्रयोग अभीतक प्राचीन मैथिली में नहीं मिला है।

भूतकाल

कीर्तिलता में साधारणतः 'इअ' प्रत्यय से भूतकाल का बोध होता है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्राचीन मैथिली, बँगला तथा उड़िया में 'ल' के अतिरिक्त 'इअ' का भी व्यवहार होता था। इसलिये प्राचीन बँगला तथा उड़िया की तरह प्राचीन मैथिली तथा अवहट्ठ में 'इअ' का व्यवहार होना अस्वाभाविक नहीं है। पदों में लकारान्त रूपों के अतिरिक्त गेला, देला, भेला आदि आकारान्त रूप पाये जाते हैं। इसलिये 'भणिअ' की जगह भणिआ, 'पाइअ' की जगह पाइआ आदि

मिलना असंभव नहीं है। चर्याचर्यविनिश्चय में भी चलिआ (चर्या १९) रूप पाया जाता है। वर्णनरत्नाकर तथा पदों में भउ, करु, वइसु, साजु, पुरु आदि अनेक उकारान्त रूप पाये जाते हैं। चर्याओं में भी गउ (चर्या २७) विकसउ, उह्लसिउ (चर्या २७), किउ (चर्या ११) पसरिउ (चर्या २३) आदि अनेक उकारान्त रूप हैं। इसलिये अवहट्ठ में करु, परु, जागु, पुच्छु, पलु, लरु, भउँ, गउँ आदि सानुनासिक तथा निरनुनासिक शब्दों के अतिरिक्त हुअउँ, उद्धरिउँ, करिअउँ, आरहिअउँ, किअउँ, धरिअहुँ आदि उकारान्त शब्द पाये जाते हैं। मैथिली की जननी, अवहट्ठ में इन शब्दों का व्यवहार होना स्वाभाविक है। इस तरह मालूम पड़ता है कि ये शब्द अपभ्रंशयुग में ही अपना लिये गये थे। चर्या में व्यवहृत 'पइठा' (चर्या ३१) की तरह अवहट्ठ में पइट्ठे शब्द पाया जाता है। करेओ, पूरेओ आदि कुछ ओकारान्त रूप भी पाये जाते हैं। संभव है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव हो।

भविष्यत्काल

कत न वासर आविह, कति न होइह राति आदि विद्यापति के पदांशों में तथा आधुनिक काल की मैथिली के जइहह, करिहह आदि शब्दों में 'इह' विभक्ति से भविष्यत्काल का बोध होता है। इस तरह अपभ्रंश-युग से लेकर बराबर आधुनिक काल तक की मैथिली में भविष्यत्काल के बोध के लिये 'इह' का व्यवहार देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह मैथिली की विभक्ति है। 'हो' धातु के बाद 'स' विभक्ति

जोड़ी जाती है। होनेवाली घटना के सामीप्य अर्थ में भविष्यत्काल की विभक्तियों के बाद वर्तमानकाल की विभक्ति पाई जाती है; जैसे होसइ (होगा), सिज्झिहइ। संस्कृत में 'वर्तमान सामीप्य' अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग होता है। इसी भ्रमात्मक अनुरूपता पर भविष्यत् की विभक्ति के बाद वर्तमानकाल की विभक्ति का व्यवहार होने लगा होगा। भूतकाल के रूपों की तरह दो-एक उकारान्त रूप भविष्यत्काल में भी पाये जाते हैं (होसउँ, पृ० ६०)।

वर्तमानकालिक कृदन्त

अवहट्ठ में न्त, उसी के एकारान्त तथा आकारान्त रूप न्ते तथा न्ता का व्यवहार होता है। प्राकृत में 'न्त' का व्यवहार होता था (हैम व्याकरण ।८।३।१८१।)। संभव है कि अपभ्रंश-युग में इसी का व्यवहार होता हो और आधुनिक भाषा-युग में आकर वही इते तथा इतें के रूप में परिवर्तित हो गया हो। अच्छन्ते (चर्या ४२), चाहन्ते (चर्या ३१, ४४), जान्ते (चर्या १५), जीवन्ते (चर्या २२, २३, ४९) आदि शब्द चर्याओं में भी पाये जाते हैं।

भूतकालिक कृदन्त

पदों की तरह 'इअ' लगाकर अवहट्ठ में भी कर्मवाच्य के रूप तथा भूतकालिक कृदन्त बनते हैं। चर्याओं में भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है।

पूर्वकालिक क्रिया

पदों की तरह कीर्तिलता में भी साधारणतः 'इ' प्रत्यय

का व्यवहार होता है। 'ए' प्रत्यय भी पदों तथा अवहट्ठ—दोनों में पाया जाता है। मागधी प्राकृत में 'इअ' पाया जाता है, जैसे सुणिअ, अविचारिअ, उग्घोसिअ (स्वप्नवासवदत्त, पृ० २०, २४, ३६)। इसलिये अवहट्ठ में 'इअ' का प्रयोग होना स्वाभाविक है। चर्याओं में करिअ (च० १), किअ (च० ३, १३, १९), छाड़िअ (१०, ३३) आदि 'इअ' प्रत्ययान्त शब्द पाये जाते हैं।

प्रेरणार्थक क्रिया तथा नामधातु में कुछ विशेषता नहीं होने के कारण वे विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त 'ध्वनि' में भी विद्यापति के पद, वर्णनरत्नाकर जैसे अवहट्ठ में समानता है। य् के स्थान में ए, 'श्' का 'स्' की तरह, 'य्' का 'ज' की तरह, उच्चारण 'ड' के स्थान में ल आदि विद्यापति के पदों की विशेषताएँ अवहट्ठ में भी पाई जाती हैं। वर्णनरत्नाकर में 'क' के स्थान में मूर्द्धन्य 'ष' भी पाया जाता है; जैसे वियष्खनी (पृ० २७) इसी प्रकार 'क' के स्थान में 'ष' विअष्खण, पष्ख, रष्ख, अष्खर आदि अवहट्ठ के शब्दों में भी पाया जाता है।

प्रो० चटर्जी के अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश उस समय की शिष्ट भाषा तथा देश भाषा थी। इसलिये विद्यापति के सदृश विद्वान् तथा कवि उस भाषा से पूर्ण परिचित अवश्य होंगे। यदि अवहट्ठ शौरसेनी अपभ्रंश होता तो मैथिली के साथ इतनी समानता नहीं होती और मैथिली की इतनी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। आजकल भी हिन्दी से पूर्ण परिचित मैथिल विद्वान् 'हम जाते छी' (हम जाते हैं), 'वह काम

करथि' 'वह घर गेलाह' आदि बोलते नहीं पाये जाते हैं। इसलिये यह कल्पना करना कि विद्यापति की अवहट्ठ शौरसेनी अपभ्रंश है और उसमें मैथिली का पुट है—युक्ति-सङ्गत नहीं मालूम पड़ता है। यदि इधर-उधर मैथिली की दो-चार विशेषताएँ ही पाई जातीं तो इस तरह कल्पना करने का अवसर मिलता।

प्राकृत व्याकरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राकृत-युग में शौरसेनी तथा मागधी में समान शब्दों का व्यवहार होता था तथा दोनों में अनेक समानताएँ थीं। हेमचन्द्र ने मागधी की विशेषताएँ बतलाकर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इन विशेषताओं के अतिरिक्त शौरसेनी तथा मागधी में समानता है (शेषं शौरसेनीवत् ।८।४।३०२। देखिये इसकी वृत्ति)। वररुचि ने भी शौरसेनी को मागधी की जननी मानकर इसी पक्ष का समर्थन किया है (प्राकृत-प्रकाश, परिच्छेद ११, सूत्र २)। नाटकों की मागधी प्राकृतों में भी अधिकांश शौरसेनी प्राकृत के शब्द ही पाये जाते हैं। इसलिये मिथिला-पभ्रंश तथा शौरसेनी अपभ्रंश में समान शब्दों का व्यवहार होना असंभव नहीं है। इसमें केवल अनुमान का ही सहारा नहीं है। विद्यापति के पद, वर्णनरत्नाकर तथा चर्याचर्यविनिश्चय में भी वैसे अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनका व्यवहार आधुनिक काल की मैथिली में नहीं होता है और यही कारण है कि वे शौरसेनी के शब्द माने जाने लगे हैं। इस समय की मैथिली में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार मैथिली तथा हिन्दी—दोनों ही भाषाओं में होता है। इस तरह के भी अनेक

शब्द हैं जो भारतवर्ष की अनेक भाषाओं में पाये जाते हैं। इन शब्दों के आधार पर यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि ये सब भाषाएँ एक हैं। इसी प्रकार कुछ शब्दों (जो दोनों भाषाओं की संपत्ति थी) के आधार पर यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि अवहट्ठ (मिथिलापभ्रंश) शौरसेनी अपभ्रंश है।

इस तरह यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अवहट्ट आधुनिक मैथिली तथा प्राकृत के बीच की भाषा है। संभव है कि विद्यापति की भाषा की तरह इसको भी बंगाल ने अपनाया हो और अवहट्ट में शौरसेनी के अनेक शब्दों को देखकर इसका नामकरण 'व्रजबुली' किया हो। व्रजबुली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, किन्तु इस भाषा का नाम व्रजबुली क्यों रक्खा गया—इसपर आजतक किसी बंगाली विद्वान् ने प्रकाश नहीं डाला है। यदि अवहट्ट के साथ बंगाल में उपलब्ध अपभ्रंश ग्रन्थों की तुलना की जाती तो इस सत्य का बहुत कुछ पता लग जाता। यह काम किसी दूसरे सत्यान्वेषी विद्वान् के लिये छोड़कर मैं यह अध्याय समाप्त करता हूँ, लेकिन ऊपर के प्रमाणों से इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि अवहट्ट मिथिलापभ्रंश भाषा है।

बौद्ध गान ओ दोहा

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने १३१३ फसली में 'हजार वर्ष प्राचीन बँगला का बौद्ध गान ओ दोहा' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें तीन पुस्तकें हैं—१ चर्याचर्यवि-

निश्चय, २ सरोज-वज्र का दोहा-कोष तथा काह्नपाद का दोहा-कोष और ३ डाकार्णव। चर्याचर्यविनिश्चय में बौद्ध (सहजिया) मत के गान हैं। गानों के रचयिता अनेक बौद्ध आचार्य हैं! इस ग्रन्थ का विषय तन्त्र विशेषकर योग है। इसमें ५० पद थे, किन्तु चार पत्र (२३ वें पद का उत्तरार्द्ध, २४ वाँ तथा २५ वाँ पद) नहीं मिल सके। इसलिये सब मिलाकर केवल ४७ पद ही मिल सके। पहले पद है, अनन्तर संस्कृत टीका है। टीका में संस्कृत तथा अपभ्रंश के अनेक उद्धरण उद्धृत किये गये हैं। बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ दोहा-कोष में भी दोहाओं के बाद संस्कृत टीका है, किन्तु डाकार्णव में संस्कृत में पद्यमय लंबी भूमिका है तथा कहीं टीका और कहीं संक्षिप्त टिप्पणी है। डा० चटर्जी की राय में दोहाकोषों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है और डाकार्णव की भाषा प्राकृत। पूरबी भाषाओं से प्रभावान्वित होने के कारण अच्छ, के आदि शब्द उनमें पाये जाते हैं। आपकी राय में केवल चर्याचर्यविनिश्चय की भाषा प्राचीन बँगला है। निम्नलिखित युक्तियों से यह प्रमाणित होता है—

(१) संबंध की विभक्ति एर, अर, संप्रदान में रे[1], अधिकरण में त विभक्तियों का व्यवहार।

(२) माझ, अन्तर, साङ्ग आदि परसर्गों (Outposition) का प्रयोग।

---

(१) यह केवल दो ही जगह पाया जाता है,। साधारणतः के, का व्यवहार है—Origin and development of Bengali, Page 47.

(३) भविष्यत् तथा भूत कालों के प्रत्यय 'इव' तथा 'इल' का प्रयोग न कि बिहारी 'अब' तथा 'अल' का।

(४) पूर्वकालिक क्रियावाचक 'इआ' प्रत्यय का व्यवहार।

(५) वर्त्तमानकालिक कृदन्त 'अन्त' का व्यवहार।

(६) कर्मवाच्य की विभक्ति 'इअ' का प्रयोग।

(७) 'आछ' तथा 'थाक' क्रियाओं का व्यवहार न कि मैथिली 'थीक' का।

दोहाकोषों की भाषा एक प्रकार की शौरसेनी अपभ्रंश है; क्योंकि उसमें (१) कर्त्ता के उकारान्त रूप (२) संबंध की 'ओहँ' विभक्ति (३) कर्मवाच्य में 'इज्ज' प्रत्यय तथा (४) साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश के रूपों के साथ समानता से यही ज्ञात होता है। आपका कहना है कि शौरसेनी राजभाषा थी। इसलिये वह सारे देश में फैल गई। यहाँ तक कि बिहार तथा बंगाल में भी अनेक ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे गये। चर्याचर्य-विनिश्चय पर भी शौरसेनी अपभ्रंश का गहरा प्रभाव पड़ा; जैसे—(१) किउ, गउ, अहारिउ, थाकिउ आदि भूतकाल के रूप (२) जो, सो, को, जसु, तसु आदि सर्वनाम, (४) सर्वनाम से बने हुए विशेषण जैसन, तैसन, (५) सर्वनाम से बने हुए क्रिया-विशेषण जिम, तिम। वह बँगला भाषा का आरंभ-काल था। उस समय इस भाषा को स्थिरता नहीं मिली थी। इसलिये

---

(१) मागधी में भी 'आछ' का प्रयोग होता है (प्राकृत-प्रकाश, पृष्ठ ११६)।

(२) डा० चटर्जी ने बतलाया है कि संभवतः मागधी में इसका व्यवहार होता था।

अन्यान्य भाषाओं से प्रभावान्वित होना, उन भाषाओं के शब्दों का इसमें व्यवहार होना असंभव नहीं था। यह पुस्तक नेपाल में लिखी गई थी, वहाँ के लेखक बँगला की अपेक्षा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से कहीं अधिक परिचित थे। इसलिये संभव है कि लेखकों की भूल से शौरसेनी अपभ्रंश के शब्दों का व्यवहार हुआ हो। नेपाल में मैथिली बोली जाती थी। इसलिये लेखक की भूल से बोलथि, भणथि—मैथिली के दो रूप तथा इब (भविष्यत् काल की विभक्ति) को जगह अब पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि इसकी भाषा प्राकृत या अपभ्रंश है, किन्तु इसमें बँगला के अनेक विशुद्ध रूप हैं तथा प्राकृत और अपभ्रंश युगों को विशेषता-संयुक्त अक्षरों का प्रचुर व्यवहार इसमें नहीं पाया जाता है। इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह प्राचीन बँगला है। मागधी की विशेषताएँ भी इसमें नहीं हैं। यही कारण है कि यह मागधी भी नहीं है; इसमें अनेक नकली भाषाओं का संमिश्रण भी नहीं है; क्योंकि ऊपर बताये हुए शौरसेनी अपभ्रंश के कुछ शब्दों के अतिरिक्त इस भाषा के व्याकरण में कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो मध्यकालीन तथा अर्वाचीन बँगला के विकास पर प्रकाश नहीं डाले।

चर्याओं में आधुनिक काल की भाषा के प्राचीनतम प्रमाण मिलते हैं, जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण, कुमार बालचरित तथा अन्यान्य ग्रन्थों में उपलब्ध शौरसेनी अपभ्रंश, प्राकृत पिङ्गल के अवहट्ठ, शिलालेख तथा ज्ञानेश्वरी में उपलब्ध प्राचीन मराठी, पृथ्वीराजरासो

तथा पश्चिमी राजस्थानी से इसका महत्त्व जरा भी कम नहीं है।
(Origin and development of the Bengali language, Page 118).

समालोचना

यदि चर्याचर्यविनिश्चय की भाषा प्राचीन बँगला है—यह मानना अभीष्ट है तो साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इसकी रचना बंगाल में हुई होगी। यह पुस्तक बंगाल से नैपाल किस प्रकार गई—इस विषय पर किसी बंगाली विद्वान् ने प्रकाश नहीं डाला है। बारहवीं शताब्दी में बिहार पर तुर्कों की विजय होने पर अनेक विद्वान् मार डाले गये और अनेक विद्वान् पुस्तकें ले-लेकर नैपाल भाग गये। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि मिथिला के अनेक विद्वान् नैपाल राज्य के आश्रित थे और फलस्वरूप नैपाल-राज्य की ओर से उन्हें जागीर मिली थी जो अभी तक उनके वंशजों के अधीन है। इस प्रकार नैपाल राज-पुस्तकालय में मिथिला तथा पाटलिपुत्र की पुस्तकों का मिलना सर्वथा संभव है; संभव ही नहीं—मिथिला तथा मैथिली की अनेक पुस्तकें नैपाल राज पुस्तकालय में विद्यमान हैं। मिथिला संस्कृत विद्या का केन्द्र' थी। सोलहवीं शताब्दी तक बंगाल तथा भारत के अन्यान्य पूर्वी प्रान्तों के छात्र मिथिला

(?) Maithil Brahmans were renowned for their Sanskrit barning and right down & the 16th Century, Mithila used to be the resort of students from Bengal and other of Eastern India—History by R. D. Benerji.

में आकर पढ़ा करते थे। यही कारण है कि अवहट्ठ तथा विद्यापति के पदों का प्रचार बंगाल में हुआ तथा मिथिला की अनेक दुष्प्राप्य संस्कृत पुस्तकें कलकत्ता-संस्कृत-कौलेज के पुस्तकालय तथा बंगाल के अन्यान्य पुस्तकालयों में पाई जाती हैं। इस तरह बंगाल में मैथिली तथा मिथिला की प्राचीन पुस्तकों का सुरक्षित रहना असंभव नहीं है, किन्तु बंगाल की प्राचीनतम पुस्तक केवल नैपाल में मिले और बंगाल में कहीं भी नहीं मिले—यह असंभव-सा मालूम पड़ता है। इस परिस्थिति में स्वभावतः यह संदेह उत्पन्न होता है कि चर्याचर्यविनिश्चय की भाषा प्राचीन बँगला है या प्राचीन मैथिली या यह उस समय की भाषा है जिस समय बँगला, मैथिली आदि नाम नहीं रक्खे गये थे। डा० चटर्जी द्वारा बताई गई बँगला की विशेषताओं का उल्लेख पहले हो चुका है। अब देखना है कि मैथिली की विशेषताएँ इसमें हैं या नहीं।

उदाहरणों के साथ यह पहले बताया जा चुका है कि वर्णन-रत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं के स्त्रीलिङ्ग विशेषण होते हैं तथा स्त्रीलिङ्ग कर्त्ता रहने पर स्त्रीलिङ्ग क्रिया का व्यवहार होता है। बँगला में स्त्रीलिङ्ग विशेषण तथा स्त्रीलिङ्ग क्रियाएँ नहीं पाई जाती हैं। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि यह मैथिली की विशेषता है न कि बँगला की। चर्याओं में विशेषण तथा क्रियाओं के बाद बारबार स्त्रीलिङ्ग का चिह्न पाया जाता है; जैसे दिढ़ि टाङ्गी (चर्या ५) = मजबूत कुल्हाड़ी गेली (चर्या ५), सोने भरिती करुणा नावी (चर्या ८) = सोने से परिपूर्ण नाव, खुन्टि उपाडी मेलिलि काच्छि (चर्या ८) = खूँटी

उठाकर किनारे रख दी गई, तो छोरि कुडिआ (चर्या १०) = तुम्हारी कुटी, हाँउ सूतेलि (चर्या १८) = मैं सो गई, तोहोरि (चर्या १८) आदि आदि। विद्यापति ने 'आगि' शब्द का व्यवहार स्त्रीलिङ्ग में किया है (खरि विरहा नल आगि), चर्याओं में भी 'आगि' के साथ स्त्रीलिङ्ग क्रिया 'लागेलि' पाई जाती है; जैसे डोम्बो घरे लागेलि आगि (चर्या ४७)। इसके अतिरिक्त अवहट्ट का 'हञो' या 'हाउँ' का रूप चर्याओं में पाया जाता है। यह बँगला को किसी अन्य पुस्तक में नहीं पाया जाता है। यह पहले बताया जा चुका है कि वर्णनरत्नाकर तथा विद्यापति के पदों में कइसन, जइसन, अइसन, जेम, जिमि, जसु, तसु आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है। चर्याओं में भी वे शब्द पाये जाते हैं, किन्तु किसी युग की बँगला की किसी पुस्तक में इन शब्दों का व्यवहार नहीं पाया जाता है। विद्यापति के पदों में तोहार, तोहरा, तोहराँ, तोहर आदि शब्द पाये जाते हैं और चर्याओं में तोहार (चर्या २९), तोहोरी (चर्या १०,१८), तोहोरे (चर्या २९) आदि समान शब्द। बँगला में 'अ' का उच्चारण 'ओ' की तरह होता है। इसलिये तोहरी (तोहर का स्त्रीलिङ्ग रूप) का 'तोहोरी' के रूप में परिवर्तित होना असंभव नहीं है। 'वह' के अर्थ में वर्णनरत्नाकर तथा चर्याओं में (चर्या-२२) में 'ते' शब्द का व्यवहार होता है। 'स्वयं' के अर्थ में 'अपणे' शब्द का व्यवहार चर्याओं में (आइल जराहक अपणे चर्या ३; अपणे रचि रचि भवनिर्माण, चर्या २२) पाया जाता है। आधुनिक काल की मैथिली में इसी अर्थ में 'अपने' शब्द का व्यवहार होता है। बँगला का 'आपनि' शब्द विभिन्न अर्थ

में व्यवहृत होता है। 'थि' (वर्त्तमानकाल, प्रथम पुरुष, बहुवचन) विभक्ति मैथिली की प्रधान विशेषता है कि जो अन्य किसी भाषा में नहीं पाई जाती है। चर्याओं में भणथि (चर्या २०) तथा बोलथि (चर्या २६) शब्दों के अन्त में 'थि' विभक्ति मिलती है। एक बार (चर्या ४७) 'आवथि' शब्द भी आया है। मेरा अनुमान है कि वह भी 'आवथि' है; क्योंकि 'थि' प्रत्ययान्त क्रिया और कहीं भी नहीं पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इसी 'थि' से उत्पन्न आज्ञार्थक क्रिया 'जाएथु' चर्याओं में दो बार (चर्या २० तथा २२) पाई जाती है। प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली में प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आव' है; जैसे गमावए, बुझावए, नहावए आदि। चर्या में भी प्रेरणार्थक क्रिया 'बन्धावए' (चर्या-२२) पाई जाती है। यह पहले बताया जा चुका है कि प्राकृत की 'केर' विभक्ति 'एरि' के रूप में विद्यापति के पदों में और 'एर' के रूप में बँगला में पाई जाती है। इसलिये यह विभक्ति बँगला की संपत्ति नहीं है न वर्णनरत्नाकर में भी एक जगह (पृ०) 'त' विभक्ति का प्रयोग किया गया है। चंद्रविन्दु से विभक्ति का बोध भी मैथिली की एक विशेषता है। इसका विशेष वर्णन पहले हो चुका है। चर्याचर्यविनिश्चय में भी 'विसअ विशुद्धिमइ बुज्झिअ आनन्दे' (चर्या ३०) अंश में चंद्रविन्दु से करण कारक का बोध होता है। टीका करने 'विषयाणां विशुध्या' अर्थ किया है जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चंद्रविन्दु करण कारक का बोधक है। 'थाक' क्रिया का व्यवहार इसके साथ प्रकाशित पदावली तथा ग्रियर्सन साहब के द्वारा प्रकाशित पदावली में भी पाया जाता है। इसी प्रकार 'अछ' क्रिया भी बँगला तथा मैथिली दोनों

हीं भाषाओं की संपत्ति है—यह उदाहरणों के साथ बताया जा चुका है। यह भी उदाहरणों के साथ पहले बतलाया जा चुका है कि 'इअ' कर्मवाच्य की विभक्ति विद्यापति के पदों में बार-बार पाई जाती है। वर्णनरत्नाकर में कइलि (पृ० ६, १४), कइल (पृ० ४०) शब्दों का व्यवहार तथा पदों में 'कइलि रे कथा मोरि, भागे पोहाइलि राति' अंशों में कइलि तथा पोहाइलि शब्दों को देखकर यह ज्ञात होता है कि 'इल' प्रत्यय का व्यवहार मैथिली में भी होता था। भोजपुरी में 'कइल' 'भइल' आदि शब्दों का व्यवहार भी इस पक्ष का समर्थन करता है कि यह प्रत्यय बँगला की विशेषता नहीं है। यथार्थ में प्रत्यय 'ल' है और उसके पहले-पहले कहीं 'ए' (गेला) कहीं 'अ' तथा 'इ' पाया जाता है। चर्याओं में ये तीनों पाये जाते हैं। पूर्वकालिक क्रिया का व्यवहार अवहट्ठ (पेखिआ—कीर्त्तिलता पृ० ५८) तथा मैथिली में भी पाया जाता है। सत्रहवीं शताब्दी के लोचन कवि ने इसका व्यवहार किया है; जैसे सानँद वदन विहुसिया मधुवन जाइतें मिलल रसिआ (पृ० ४५)।

परिशिष्ट

विद्यापति की भाषा का इतिहास[1]

इस छोटी पुस्तक में संसार की सब भाषाओं का उल्लेख तथा विवेचन होना असंभव है। इसलिये इस अध्याय में केवल यही बतलाना है कि वैदिक भाषा से प्राकृत तथा अपभ्रंश के द्वारा विद्यापति की भाषा का विकास किस प्रकार हुआ है।

भारतीय आर्य भाषा तीन भागों में विभक्त की जाती हैं—(१) प्राचीन अर्थात् वैदिक युग की भाषा (२) मध्यकालीन

---

(१) इस अध्याय की पाली संबंधी सामग्री प्रधानतः डा० चटर्जी की पुस्तक तथा पाली-प्रकाश से ली गई है। अवहट्ठ तथा चर्याचर्यविनिश्चय-संबंधी लेख मौलिक हैं।

(२) तीनों युगों की विशेषताएँ ये हैं:—(१) वैदिक युग—इस युग की ध्वनि, शब्दरूप, धातुरूप आदि का विशेषताओं का उल्लेख पहले हो चुका है। अशोक की प्राकृत तथा पाली—ऋ, ऌ का लोप, ऐ, औ, तथा अय, अव के स्थान में ए, ओ, व्यञ्जनों का द्वित्व आदि ध्वनि-संबंधी तथा अन्यान्य परिवर्तनों का उल्लेख समय-समय पर हो चुका है। (३) शिलालेखों की प्राकृत (२०० पू० ई०—२०० ई०)—पाली युग में लुप्त स्पर्श तथा 'ह' का पुनरुज्जीवन। जैसे लोक-लोग, मुख-मुँह। (४) प्राकृत (नाटकों की) युग (२०० ई०—६०० ई०)—स्पर्शों का लोप, वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों के स्थान में 'ह' प के स्थान में व। शब्दरूप तथा धातुरूप में अधिक सरलता, पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग—दो ही लिङ्गों का रहना, विभक्ति के स्थान में परसर्ग (Post-position) का

अर्थात् पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश (३) आधुनिक अर्थात् विद्यापति की भाषा।

व्यवहार, केवल लट्, लृट्, लोट्, लिङ् का व्यवहार, केवल वर्त्तमान काल में कर्मवाच्य का व्यवहार, केवल भूतकालिक कृदन्त से भूतकाल का बोध, क्रियाप्रधानक वाक्यों की अपेक्षा सञ्ज्ञाप्रधान वाक्यों की प्रधानता। (५) अपभ्रंश युग (६००—१००० ई०) अन्तिम दीर्घ स्वर के स्थान में ह्रस्व स्वर, स तथा 'स्स' के स्थान में 'ह' 'म्' का व (गाम-गाँव), स्वरों का सानुनासिक उच्चारण। शब्दरूप—सब शब्दों का समान रूप, स्त्रीलिङ्ग तथा क्लीव लिङ्ग के रूपों के स्मृतिचिह्न रूपों की विरलता। विशेष रूप—कर्त्ता एकवचन में उ तथा ओ; करण में एं, एहिं; अपादान में हु तथा उं संबंध एकवचन में अह, आह, अस्सु तथा आ, बहुवचन ग, हं. अधिकरण इ, अहिं. अद्दु, अमु, सविभक्तिक कर, करग, किअ, मह, सम, अन्त, अन्तर आदि सहायक शब्दों का व्यवहार, थाकिअ, दिअ आदि क्रियारूप, ये आधुनिक काल में परसर्ग तथा विभक्ति के रूप में व्यवहृत होते हैं। धातुरूप—वर्त्तमान, भविष्यत, कर्मवाच्य का वर्त्तमानकाल, इच्छार्थक (लिङ्) का अत्यल्प प्रयोग, भूतकाल में केवल भूतकालिक कृदन्त (कर्मवाच्य) का व्यवहार, आज्ञा, तथा अन्य अर्थों का (Mood) तथा लकारों का क्रमशः लोप, इल्ल, अल्ल आदि प्रत्ययों का व्यवहार, संयुक्त क्रियाओं का अधिक व्यवहार। पद्यों में तुकबंदी, अनुकरण शब्दों का अधिक व्यवहार, तत्सम तथा तद्भव शब्दों का व्यवहार, संस्कृत तथा प्राचीन प्राकृत का प्रभाव। (६) आधुनिक काल (१००० ई० के बाद) संयुक्त व्यंजनों के स्थान में केवल एक व्यंजन का व्यवहार और साथ-साथ पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना (उत्तर पश्चिम तथा पश्चिम प्रदेशों को छोड़कर), दो स्वरों के साथ रहने पर संधि होना या दोनों के बीच य् या 'व' का आना। शब्दरूप—स्त्रीलिङ्ग का पुनरुत्थान, विकारी रूप, नई रीति से बहुवचन

(क) भारतीय प्राचीन आर्यभाषा

भारत में आनेवाले आर्य भारत में एक ही बार नहीं आये होंगे, वरन् समय-समय पर आगे-पीछे उनका आगमन हुआ होगा। भाषाओं के सूक्ष्म भेदों के आधार पर हार्नली की राय है कि भारत में आर्यों के दो दल आये। ऋग्वेद के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि नवागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को पराजित किया। उन दोनों में परस्पर युद्ध, पश्चिम के ब्राह्मण वसिष्ठ और पूरब के क्षत्रिय विश्वामित्र का अनबन आदि ऋग्वेद की अनेक कथाओं से भी यही ज्ञात होता है। पराजित होकर इस तरह मतभेद रखते हुए पूर्वागत आर्य मध्यदेश के चारों ओर फैल गये। उन दोनों की भाषा में भी कुछ अन्तर होना स्वाभाविक है। इसी लिये आजकल भी भारतीय भाषाओं में भिन्नता के चिह्न पाये जाते हैं। इसी आधार पर भाषा के दो मुख्य विभाग माने गए हैं—(१) अंतरंग (inner) तथा (२) वहिरंग (outer)। अंतरंग भाषाएँ नवागत आर्यों की भाषा के विकसित रूप हैं और वहिरंग पूर्वागत आर्यों की भाषा के। मध्यदेश की भाषा तथा पच्छिमी हिन्दी अंतरंग भाषाएँ हैं और अन्यान्य भाषाएँ वहिरंग। इस तरह आर्य जीवन के दो प्रधान केन्द्र बन गये (१) गान्धार (पेशावर और रावलपिंडी)

बनना (हमरा लोकनि, तोरा सभ आदि), निर्जीव पदार्थों के लिये कर्म की विभक्ति का प्रयोग नहीं होना, अपभ्रंश रूपों से वचन का बोध। धातु-रूप—वर्त्तमानकालिक कृदन्त से वर्त्तमानकाल का बोध, संयुक्तकाल का व्यवहार, कर्मवाच्य, सकर्मक क्रिया में भूतकालिक कृदन्त (कर्मवाच्य) का रूप कर्म के समान होना, अकर्मक क्रियाओं में भाववाच्य का प्रयोग

और (२) ब्रह्मावर्त (पटियाला, अंबाला)। ब्रह्मावर्त में ही वैदिक धर्म का विकास हुआ और पहले-पहल यहीं यज्ञ हुआ। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना पंजाब में हुई। यह भी असंभव नहीं है कि आर्यों के भारतवर्ष में आने के पहले ही अनेक ऋचाओं की रचना हुई हो; क्योंकि अवेस्टा तथा ऋग्वेद भाषा तथा छन्द में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। जिन आर्यों ने वैदिक धर्म की रचना की तथा वैदिक साहित्य को क्रमबद्ध किया, उनका निवासस्थान मध्यदेश था। वहीं वर्णाश्रम व्यवस्था तथा धर्म के अन्यान्य अङ्गों की पुष्टि हुई। उच्च शिक्षा, संगठन, भारतवर्ष के धनधान्यपरिपूर्ण प्रान्त में निवास आदि के कारण मध्यदेशनिवासी आर्य सबके मुखिया माने जाने लगे और उन्नत मानसिक शक्ति के कारण मध्यदेश के ब्राह्मण तथा क्षत्रियों ने चारों ओर की जनता को प्रभावान्वित कर लिया। पूरब में बनारस तथा मिथिला तक, दक्षिण तथा पश्चिम में मध्यदेश की सभ्यता तथा धर्म का प्रचार किया। सब आर्य वैदिक-धर्मानुयायी नहीं थे। यह भी एक कारण है कि आर्यों में परस्पर लड़ाई होती थी।

इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष में आने पर अनार्यों के साथ आर्यों को बराबर युद्ध करना पड़ा, किन्तु वर्षों तक साथ रहने के कारण मनोमालिन्य दूर हो गया और परस्पर घनिष्टता हो गई। भाषा के द्वारा ही परस्पर भाव-विनिमय होता है। इसलिये इस परिस्थिति में भाषा में परिवर्तन होना अनिवार्य है। परिवर्तन यह हुआ कि अनार्यों ने आर्यों की भाषा को अपनाया और उनके चिरसंसर्ग से कोल, द्राविड़ आदि अनार्य

भाषाओं के अनेक शब्दों का व्यवहार आर्य भाषाओं में भी होने लगा। वेद में अणु, अरणि, कला, काल, कितव, नाना (अनेक) नील, नीवार आदि सैकड़ों अनार्य भाषाओं के शब्द पाये जाते हैं। यहीं तक नहीं, आर्यों के धार्मिक विकास पर भी अनार्यों के संसर्ग का प्रभाव पड़ा। 'ऋग्वेद' में 'पुनर्जन्म' का उल्लेख नहीं है, फिर भी आर्य पुनर्जन्म मानते थे। इसका कारण द्राविड़ प्रभाव है। रुद्र, शिव, वृषाकपि आदि अनेक देवों की उपासना भी द्राविड़ प्रभाव का ही परिणाम है। १००० ई० पू० तक उत्तर भारत से बिहार तक आर्य-भाषा का पूरा प्रचार हो गया तथा यह देश 'आर्यावर्त्त' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कुरु, पांचाल, मत्स्य, कोशल, काशी तथा विदेह आदि धनी तथा शक्तिशाली राज्यों की स्थापना हुई—यह पुराने (१०००—६०० तक) ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है। इन राज्यों में आर्य तथा अनार्य दोनों ही रहते थे, किन्तु भाषा और सभ्यता आर्यों की ही थी। इस तरह कहा जा सकता है कि भाषा तथा सभ्यता की दृष्टि से अनार्य भी आर्य बन गये।

भाषा में परिवर्तन होना प्राकृतिक नियम है। साथ-साथ भाषा में सरलता की ओर प्रवृत्ति देखी जाती है। यही कारण है कि ऋग्वेद की अपेक्षा ब्राह्मणों की भाषा कहीं अधिक सरल

---

(१) प्रो० मुरलीधर बनर्जी इसमें सहमत नहीं हैं। आपकी राय में ये संस्कृत शब्द हैं; क्योंकि दो हजार वर्षों से इनका व्यवहार संस्कृत-साहित्य में होता आ रहा है और (किसी समय के) द्राविड़-साहित्य में ये शब्द नहीं पाये जाते हैं। (Introduction to Desinamamala, Page XVII).

हो गई। संभव है कि ब्राह्मणों में उपलब्ध भाषा ही उस समय की आर्यभाषा हो जिसे पंजाब से बिहार तक के आर्यों ने अपनाया था। १००० ई० पू० के बाद वैदिक धर्म नहीं माननेवाले पूर्वी आर्यों के उच्चारण में कुछ नवीनता आ गई। इस तरह पूर्वी तथा पश्चिमी भाषाओं में कुछ अन्तर होने लगा, किन्तु ब्राह्मणों की भाषा के द्वारा परस्पर भावविनिमय में कठिनाई नहीं होती थी। उत्तर-पश्चिम के रहनेवाले भाषा को सुरक्षित तथा विशुद्ध रखने के लिये बहुत प्रयत्नशील थे। यही कारण है कि पूर्व की अपेक्षा उनकी भाषा कहीं अधिक विशुद्ध थी। अशोक के पश्चिमी (शाहबाजगढ़ी, मानसेरा) शिलालेखों की भाषा में जो विशुद्धता है वह पूर्वी शिलालेखों में नहीं है। कौशीतकी ब्राह्मणों में बतलाया गया है कि उत्तर-भारत के निवासी विशुद्ध (प्रज्ञाततरा) भाषा बोलते हैं। इसलिये विशुद्ध भाषा सीखने के लिये लोग उत्तर-भारत जाते हैं। इस तरह यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पूर्वी भाषा में विशुद्धता की कमी थी, किन्तु इस परिस्थिति में भी वेदों तथा ब्राह्मणों की भाषा पर पूर्वी भाषा का प्रभाव पड़ा जैसा कि यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में विकट (कुरूप), म्लेच्छ, दण्ड, पठ (पढ़ो), आढ्य (धनी), नापित (नहापित, पाली) आदि शब्दों का प्रयोग, 'र' के स्थान में 'ल' व्यंजनों की एकरूपता (assimilation), 'स' के स्थान में 'श' का व्यवहार देखकर ज्ञात होता है।

मगध की निन्दा

ऋग्वेद में कीकट देश का नाम पाया जाता है। यास्क ने

निरुक्त में कीकट शब्द की व्याख्या करते समय बतलाया है कि कीकट अनार्यों का देश है (कीकटोऽनार्यनिवासः)। कीकट मगध का पर्यायवाचक शब्द है (शब्द कल्पद्रुम)। अथर्ववेद में अंग तथा मगध का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु उन दूर देश-निवासियों के पास जादू के द्वारा मलेरिया भेजकर आर्यों ने उनके प्रति घृणा प्रकट की है (अथर्ववेद, ५—२२, १४)। शतपथ ब्राह्मण में पूर्वदेश-निवासियों को आसुर्य बतलाया है। (१) इस तरह मालूम पड़ता है कि उस समय मगध आर्यसभ्यता के अन्तर्गत नहीं था, किन्तु ब्राह्मणयुग के बाद भगवान् बुद्धदेव का जन्म हुआ और मगध एक शक्तिशाली राज्य हो गया। संभव है कि बुद्ध के आविर्भाव के बहुत पहले आर्य लोग यहाँ आकर बसे हों तथा उनकी भाषा का भी काफी प्रचार हो गया हो। बहुत संभव है कि पूरब के आर्य पश्चिम के आर्यों से भिन्न हों तथा उन दोनों की भाषा, धर्म, धार्मिक अनुष्ठान आदि में भी भेद हो।

आर्यगण वैदिक धर्म नहीं माननेवाले अनार्यों को व्रात्य अर्थात् पतित कहते थे। मत्स्य सूक्त के प्रायश्चित्त प्रकरण के पैंतीसवें पटल में तथा शूलपाणि-कृत प्रायश्चित्तविवेक में इसका प्रायश्चित्त 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ करना या उद्दालक व्रत करना

---

(१) मेरी राय में 'आसुर्य' शब्द का अर्थ राक्षस नहीं है। सांख्य मत के प्रकाण्ड विद्वान् का नाम 'आसुरि' था। शतपथ ब्राह्मण में यह शब्द बारबार पाया जाता है। 'आसुरि' के वंशजों को 'आसुर्य' कहते हैं। संभव है कि आर्यगण साङ्ख्यमतानुयायियों को घृणा की दृष्टि से देखते हों। 'आसुर्याः प्राच्याः' (शतपथ) में 'आसुर्य' का यही अर्थ है।

बतलाया है। यह प्रायश्चित्त उन व्रात्यों के लिये बतलाया गया है जिनका उपनयन-संस्कार सोलह वर्ष की उमर तक नहीं हो सका है। वैदिक धर्म नहीं माननेवाले पतितों के लिये यह प्रायश्चित्त था या नहीं—यह ज्ञात नहीं। मेकडोनेल का कहना है कि व्रात्यस्तोम के द्वारा अवैदिक ब्राह्मण भी वैदिक धर्मानुयायी हो सकते थे (History of Sanskrit literature, Page 210)। मगध में व्रात्यों की संख्या सबसे अधिक थी।

मगध और मिथिला

यह पहले बताया जा चुका है कि यास्क ने मगध को अनार्यनिवास बताया है, अथर्ववेद ने मलेरिया को मगध भेजा है, 'व्रात्य' कहकर मगधनिवासियों की निन्दा की गई है तथा संस्कृत-साहित्य में 'मागध' शब्द गायक या बंदी का पर्यायवाचक शब्द माना गया है। इस तरह इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मणयुग में आर्यों की दृष्टि में मगध गिरा हुआ था। अब यह प्रश्न उठता है कि मिथिला भी मगध के अन्तर्गत थी या मिथिला का स्वतन्त्र अस्तित्व था। शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदेह की राजधानी मिथिला तक ब्राह्मण-धर्म का विस्तार हुआ था। जनक की राजसभा में कुरु, पांचाल आदि देशों के विद्वान् ब्राह्मणों की भीड़ रहती थी। उस राजसभा की एक विशेषता यह थी कि उसमें समय-समय पर विद्वानों में शास्त्रार्थ (तर्क-वितर्क) हुआ करता था। उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् याज्ञवल्क्य भी उसी राजा के आश्रित थे। याज्ञवल्क्य ने पश्चिम के विख्यात विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित

किया था। शतपथ ब्राह्मण से यह भी ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य मिथिला के निवासी थे तथा शुक्ल यजुर्वेद के संपादन का श्रेय भी मिथिला को ही प्राप्त हुआ था। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणयुग की मिथिला में आर्यधर्म तथा आर्यभाषा की पूरी उन्नति हो चुकी थी। उन्नति इस सीमातक पहुँच गई थी कि पश्चिम के आर्यों को भी मिथिला के सामने नतमस्तक होना पड़ता था। वृहदारण्यक उपनिषद् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह उन्नति पुरुषों तक ही सीमित नहीं थी, किन्तु याज्ञवल्क्य के साथ जनक की सभा में तर्क-वितर्क करनेवाली गार्गी तथा मैत्रेयी आदि विदुषियाँ भी इसी मिथिला में उसी युग में (जिस समय बंग आदि पूर्वी प्रान्तों में आर्य सभ्यता फैली भी नहीं थी) उत्पन्न हुई थीं (वृहदारण्यक उपनिषद् चतुर्थ अध्याय)।

प्राकृत की उत्पत्ति

शतपथ ब्राह्मणों में ही पराजित होने पर प्राच्य 'हेलयः' कहकर चिल्लाते हुए बताये गये हैं। इसी प्रकार महाभाष्य में पतञ्जलि ने बतलाया है—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः"। मालूम पड़ता है कि वे 'अरयः' के स्थान में 'अलयः' उच्चारण करते थे। इसी प्रकार चौथी शताब्दी ई० पू० के ताम्रपत्र पर खुदे हुए लेख (गोरखपुर) में 'र' के स्थान में 'ल' पाया गया है। पंचविंश ब्राह्मण (८ वीं शताब्दी ई० पू०) में व्रात्यों की बोली की समालोचना की गई है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी में

हो मध्यदेश के रहनेवाले वैदिकों को पूरब की बोली में व्यंजनों की सरलता खटकी। क्रमशः पूरब की भाषा ही प्राकृत के रूप में परिणत हुई। इस तरह इसमें संदेह नहीं कि कोशल, मगध आदि पूरब के देशों में प्राकृत का बीज बोया गया, वह वहीं पनपी और वहीं उन्नत हुई। अनन्तर उसने धीरे-धीरे पश्चिम की भी यात्रा की।

इस प्रकार सारे भारतवर्ष में प्राकृत का प्रचार बढ़ते देख कर आर्य ब्राह्मण सतर्क हो उठे; क्योंकि उनकी भाषा (संस्कृत) में प्राकृत या किसी अन्य भाषा के शब्द आ जायँ या अन्य जातियों के संपर्क से उसमें कुछ भी परिवर्तन हो जाय—यह वे सहन नहीं कर सकते थे। इसलिये वैदिक भाषा का संस्कार कर तथा उसे नियमबद्ध करके उन्होंने उस परिमार्जित भाषा का नाम 'संस्कृत' रक्खा। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने इस भाषा को अपनाया तथा राजसभा में प्रचार किया। दो शताब्दियों तक (७००—६००) यही आर्य जातियों की (ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की) बोलचाल की भाषा थी। आजकल की खड़ी बोली की तरह संस्कृत सारे भारतवर्ष के आर्यों की संपत्ति हो गई। ये इसका अध्ययन करते तथा सुरक्षित रखने की भरपूर चेष्टा करते थे। पतञ्जलि संस्कृत को 'शिष्टभाषा' कहते हैं।

संस्कृत बोलचाल की भाषा थी

निम्नलिखित कारणों से ज्ञात होता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी—

(१) पाँचवीं शताब्दी (ई० पू०) के पाणिनि ने अपने

सूत्रों में वैदिक भाषा के लिये 'छन्दस्' तथा संस्कृत के लिये 'लोक' या 'भाषा' का व्यवहार किया है। यहाँ संभवतः भाषा का अर्थ बोलचाल की भाषा है।

(२) जूआ खेलने में उपयुक्त शब्द तथा नियमों का उल्लेख किया है।

(३) बोलचाल में उपयुक्त 'खाद खादेति खादति, उदरपूरं भुक्ते, केशाकेशि, दण्डादण्डि' आदि रूपों के साधक नियमों की रचना की है।

(४) दूर से बुलाने में सम्बोधन कारक के पद का अन्तिम स्वर प्लुत होता है (दूराद्धूते च ।८।२।८४)। गाली देना अभीष्ट हो तो पुत्र के 'त' का द्वित्व नहीं होता है। बोलचाल की भाषा में ही दूर से बुलाना या गाली देना संभव है।

(५) प्राच्य (७ बार) और उदीच्य (४ बार) भाषाओं का उल्लेख किया है। काशिकावृत्ति में 'प्राच्य' का अर्थ अंग, बंग, मगध, तथा बंगाल किया है।

(६) पतञ्जलि ने बतलाया है कि विभिन्न देशों में शब्दों का व्यवहार विभिन्न अर्थों में होता है (शवतिर्गति कर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्यषु, गमिमेव त्वर्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु)।

(७) पतञ्जलि ने विभिन्न देशों की विशेषता भी बतलाई है; जैसे—प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः।

(८) पतञ्जलि ने शुद्ध संस्कृत शब्दों को 'लोके प्रयुक्ताः' बतलाया है न कि केवल साहित्य में प्रयुक्त।

(५) प्राकृत-युग में भी सब कोई संस्कृत समझते थे। इसीलिये नाटकों में स्त्री तथा नीच पात्र की भाषा प्राकृत होने पर भी शिष्ट पात्रों की भाषा संस्कृत थी। इस तरह मालूम पड़ता है कि प्राकृत-युग तक प्राकृत बोलनेवाली जनता भी संस्कृत समझती थी। यह प्रथा प्राचीन युग का स्मृतिचिह्न है। इसलिये यह भी असंभव नहीं है कि संस्कृत युग में भी यही प्रथा हो।

इस तरह इसमें संदेह नहीं कि एक समय संस्कृत ही आर्यों की बोलचाल की भाषा थी। इसकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई, इसमें धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये, साहित्य ने भी इसी को अपनाया, तथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जैनों तथा बौद्धों ने भी इसका स्वागत किया। यह एक प्राकृतिक नियम है कि सतर्क रहने पर भी बोलचाल की भाषा में अज्ञात रूप से परिवर्तन होता ही रहता है, किन्तु पाणिनि के बाद इसमें यह गति रोक दी गई, व्याकरण के नियमों से वह इस तरह जकड़ दी गई कि उसका प्रवाह रुक गया, उसमें स्थिरता आ गई तथा नवीनता के समावेश के लिये उसमें अवकाश नहीं रहा। इस तरह भाषा को सुरक्षित रखने की पूर्ण चेष्टा का परिणाम यह हुआ कि अब वह जीवित भाषा (Stoken language) नहीं रह सकी, किन्तु उसने साहित्यिक भाषा का रूप धारण किया। जो भाषा

---

(१) म० म० विधुशेखर शास्त्री की राय है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी, कारण संस्कृत होने पर ही वह संस्कृत कहलाने लगी। नियमबद्ध होते ही वह साहित्यिक भाषा हो गई। इसमें संदेह नहीं कि संस्कार होने के पहले भी वह जीवित भाषा थी।

नियमबद्ध होकर साहित्य में स्थान पा लेती है, उसकी उन्नति नहीं होती है। इसका कारण सीधा है। बोलचाल की उपर्युक्त भाषा उच्चारण से बहुत-कुछ सम्बंध रखती है। स्थानभेद, व्यक्तिभेद, शिक्षाभेद आदि अनेक भेदों से उच्चारण में भेद होता है जो भाषा में परिवर्तन का एक प्रधान कारण है। साहित्यिक भाषा में देशभेद तथा व्यक्तिभेद से उच्चारण विभिन्न क्यों न हों, किन्तु उस भाषा के लिये लेख की विशुद्धता ही नितान्त आवश्यक होती है। देशभेद तथा व्यक्तिभेद से लेख में भिन्नता नहीं होती है। यही कारण है कि साहित्यिक भाषा में परिवर्तन नहीं होता है। पाणिनि के समय से लेकर संस्कृत भाषा उसी रूप में अभी तक वर्तमान है—यही इसका प्रबल प्रमाण है।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा

(५०० ई० पू०—१००० ई०)

पाली तथा अशोक की धर्मलिपि

(१)

वैदिक साहित्य की रचना के समय बोलचाल की कोई भाषा अवश्य होगी; क्योंकि बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक है। यह पहले बताया जा चुका है कि अनार्यों के संसर्ग से अनार्य भाषा के अनेक शब्द वैदिक साहित्य में आ गये। जब साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह सका, तो बोलचाल की भाषा में अनार्य शब्दों का प्रचुर प्रयोग होना निश्चित है। वही अनार्यशब्दप्रचुरा आर्याभाषा प्राकृत का प्राचीनतम रूप है। इसके उदाहरण सुरक्षित नहीं रह सके।

इसलिये इसका क्रमबद्ध इतिहास ज्ञात होना असंभव है। वैदिक समय की भाषा का उदाहरण साहित्यिक रूप में वेदों में ही पाया जाता है। उससे दो धाराएँ निकलीं—(१) संस्कृत जिसका संक्षिप्त वर्णन पहले हो चुका है (२) प्राकृत जिसके प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों तथा पाली ग्रन्थों में मिलते हैं।

प्रथम मत

प्राकृत की उत्पत्ति के विषय में दो मत हैं। प्राकृत-वैयाकरणों की धारणा है कि प्रकृत, मूलरूप अर्थात् संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है। इसके विरुद्ध भाषातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि प्रकृति अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक भाषा को प्राकृत कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृत उस भाषा का नाम है जिसका संस्कार नहीं हुआ है।

प्रथम मत के समर्थन में प्राकृत-वैयाकरणों के निम्नलिखित उद्धरण ही पर्याप्त हैं—

'प्रकृतिः संस्कृतं तत आगतं वा प्राकृतम्' हेमचन्द्र

'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' मार्कण्डेय

'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्' प्राकृतचन्द्रिका

'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः' प्राकृतसञ्जीवनी

'प्राकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता' सद्भाषा चन्द्रिका

'प्रकृतेरागतं प्राकृतम्, प्रकृतिः संस्कृतम्' दशरूपक

'प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतम्' वाग्भटालङ्कार

द्वितीय मत

'प्राकृत' का अर्थ है स्वाभाविक, असंस्कृत। संस्कृत साहित्य

में 'साधारण' अर्थ में प्राकृत[1] शब्द का व्यवहार पाया जाता है; क्योंकि साधारण मनुष्य में कृत्रिम उपायों से बुद्धि का विकास नहीं होता है, वरन् वे प्रकृति का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार जिस भाषा का संस्कार नहीं हुआ हो, वरन् प्राकृतिक रूप में वर्तमान हो उस भाषा को प्राकृत कहते हैं। प्राकृत में संस्कृत शब्दों की अधिकता होने के कारण यह मानना ठीक नहीं है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है।

यह पहले बताया जा चुका है कि वैदिक भाषा से संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। यह निरा अनुमान नहीं है, दोनों भाषाओं में निम्नलिखित समानताओं से भी यह प्रमाणित होता है। वे समानताएँ ये हैं:—

(१) प्राकृत में अन्तिम व्यंजन का लोप होता है, जैसे—ताव (तावत्), कम्म (कर्मन्), सिया (स्यात्)। वेद में एक ही शब्द के व्यंजनान्त तथा स्वरान्त दोनों रूप पाये जाते हैं; जैसे—पश्चात् और पश्चा, युष्मान् तथा युष्मा, उच्चात् तथा उच्चा, नीचात् तथा नीचा आदि शब्द पाये जाते हैं।

(२) प्राकृत में 'र' का लोप होता है; जैसे—सूत्र से सुत्त, ग्राम से गाम आदि। वेद में भी 'अप्रगल्भ' की जगह अपगल्भ (तै० सं०) पाया जाता है।

(३) प्राकृत में संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्त्ती स्वर ह्रस्व होते हैं; जैसे—सं० कार्य से कज्ज, धर्म से धम्म आदि। वेद

(१) प्राकृतोऽन्यः कथंचेमि भूमिमागन्तुमर्हति। नहि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ।—रामायण

में भी इस तरह के उदाहरण हैं; जैसे—'रोदसीप्रा' की जगह रोदसिप्रा।

(४) प्राकृत में संयुक्त व्यञ्जनों के एक व्यञ्जन के लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ होता है; जैसे—निश्वास से नीसास, 'दुस्सह' से दूसह। वेद में भी दुर्नाश औ दूणाश—दोनों शब्द हैं।

(५) प्राकृत में 'द' के स्थान में 'ड' होता है; जैसे—'दहति' के स्थान में डहति, 'दण्ड' के स्थान में डण्ड। वेद में भी दूडभ (दुर्दभ), पुरोडाश (पुरोदाश) शब्द हैं।

(६) प्राकृत में 'अव' के स्थान में 'ओ' तथा 'अय' के स्थान में 'ए' होता है; जैसे—ओहसित (अवहसित), नेति (नयति)। वेद में भी श्रोणा (श्रवणा) तै० ब्राह्मण में सात बार, 'अन्तरयति' के स्थान में अन्तरेति शतपथ ब्राह्मण में नौ बार पाया जाता है।

(७) प्राकृत में 'द्य' के स्थान में 'ज' तथा कहीं-कहीं द्वित्व भी होता है; जैसे—जुति (द्युति), विज्जा (विद्या)। वेद में भी अवज्योयति (अवद्योतयति), ज्योतते (द्योतते) शब्द पाये जाते हैं।

(८) प्राकृत में 'ह' के स्थान में घ या भ होता है; जैसे—दाघ (दाह), जिब्भा (जिह्वा)। वेद में भी मेघ (मेह), आघृणि (आहृणि), गृभीत आदि शब्द पाये जाते हैं।

(९) प्राकृत में 'ह' के स्थान में 'ध' होता है; जैसे—इध (इह)। वेद में भी सध (सह), गाथा (गाहा) शब्द मिलते हैं।

(१०) 'ध' के स्थान में 'ह' प्राकृत में होता है; जैसे—वह (वध)। वेद में भी प्रति संहाय (गो० ब्रा० २, ४)।

(११) पदान्त 'य' का द्वित्व दोनों ही भाषाओं में होता है; जैसे—देय = देय्य (प्रा०), पौरुषेय = पौरुषेय्य।

(१२) प्राकृत में स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण हैं, जैसे—क्लिन्न = किलिन्न। वेद में भी स्वः = सुवः, स्वर्गः = सुवर्गः आदि अनेक उदाहरण हैं।

(१३) प्राकृत में बहुधा 'क्ष' के स्थान में 'च्छ' होता है, जैसे—अक्षि = अच्छि। वेद में भी अक्ष के स्थान में 'अच्छ' शब्द का बारबार प्रयोग किया गया है।

(१४) प्राकृत की तरह वेद में भी द्विवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—मित्रावरुणा, अश्विनी आदि।

(१५) प्राकृत में अकारान्त शब्द के बाद विसर्ग के स्थान में 'ओ' होता है; जैसे—देवः = देवो, सः = सो। वेद में भी 'सोचित्' शब्द पाया जाता है।

(पालीप्रकाश, पृ० ३९—४७)।

प्राकृत की उत्पत्ति यदि संस्कृत से हुई होती तो वैदिक साहित्य के साथ प्राकृत की इतनी समानता नहीं होती। इन समानताओं के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि पाली तथा संस्कृत एक ही माता की दो पुत्रियाँ हैं। अनेक विद्वानों की राय है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा कभी नहीं थी, वह साहित्यिक भाषा थी और उसकी उत्पत्ति साहित्यिक वैदिक भाषा से हुई है। उनकी राय में प्राकृत वैदिक युग की बोल-

चाल की भाषा से उत्पन्न हुई है। इस तरह पाली संस्कृत की चचेरी बहन है। प्राकृत की जननी वैदिक युग की बोलचाल की भाषा का उदाहरण नहीं मिलता है। इसलिये उसकी चाची, साहित्यिक वैदिक भाषा ही उसकी माँ मान ली जाती है।

पाली का अर्थ

संस्कृत तथा प्राकृत—दोनों ही भाषाओं में 'पंक्ति' अर्थ में पाली शब्द का व्यवहार होता है और 'मूलग्रन्थ' के अर्थ में 'पंक्ति' शब्द का। इस तरह पहले 'पाली' से बौद्ध धर्मशास्त्र की पंक्ति या 'त्रिपिटक' का बोध होता था। क्रमशः 'पाली' से उन ग्रन्थों का बोध होने लगा। त्रिपिटक के साथ जिनका साक्षात् या परंपरा संबंध था, कुछ समय के बाद उन ग्रन्थों में व्यवहृत भाषा का बोध होने लगा—यह महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री की राय है। डा० वूलनर ने भी इसी का समर्थन किया है। प्रो० धर्मानन्द गोस्वामी (पूना) की राय है कि जिस भाषा के द्वारा बुद्धदेव के मौलिक उपदेशों की रक्षा हो, वही पाली है (पालयति इति पाली)। (१) ३०० ई० पू० से २०० ई० तक के शिला लेखों (समय तथा स्थान के भेद से इनके अनेक भेद हैं) (२) हीनयान मत तथा अन्यान्य बौद्ध ग्रन्थों, (३) प्राचीनतम जैन सूत्रों तथा (४) अश्वघोष के नाटकों में पाली पाई जाती है।

पाली का इतिहास

यह पहले बताया जा चुका है कि कोशल (अयोध्या), काशी, विदेह (मिथिला), मगध तथा अंग (भागलपुर) 'प्राच्य' के

अंतर्गत थे। 'प्राच्य' (भाषा) की विशेषताएँ ये थीं—(१) 'र' के स्थान में 'ल' (२) व्य, त्य आदि के स्थान में विय, तिय आदि, (३) 'ल्य' के स्थान में 'य्य' (४) केवल दन्त्य 'स' (५) अकारान्त शब्दों का एकारान्त रूप, द्वितीया के बहुवचन में आनि, सप्तमी के एकवचन में अस्सि। 'प्राच्य' के पूर्वी प्रान्त में केवल तालव्य 'श' था। इस तरह पश्चिमी प्राच्य 'अर्धमागधी' नाम से प्रसिद्ध हुई और पूर्वी प्राच्य 'मागधी' नाम से। प्राचीन अर्धमागधी ही बुद्ध की भाषा थी। इसी भाषा में बुद्ध तथा महावीर ने धर्म का प्रचार किया था, इसी भाषा के द्वारा राज्य शासन होता था तथा यही भाषा मध्यदेश तथा अन्यान्य प्रान्तों की भाषाओं का सिरमौर बन गई।

बुद्ध तथा महावीर ने प्राच्य भाषा में अपने धर्मों का प्रचार किया था। इसलिये मागधी ही पाली है—यह अनेक विद्वानों का मत है, किन्तु कर्त्ता की विभक्ति ओ, दन्त्य स, र, 'ज' का प्रयोग तथा सर्वत्र मागधी की विशेषताओं का अभाव देखकर भाषातत्त्वज्ञ इसमें सहमत नहीं हैं। उत्तर भारत के ब्राह्मी शिलालेखों में प्रयुक्त पाली के शब्द तथा रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर अनेक विद्वानों ने देखा है कि विन्ध्य पर्वत के उत्तर की भाषा तथा पाली में समानता है! फलस्वरूप वे इस निर्णय तक पहुँचे हैं कि मालव की राजधानी उज्जयिनी से ही साहित्यिक पाली की उत्पत्ति हुई है। मालव से ही अशोक का

(१) शाहबाज, गढ़ी, मानसेरा आदि शिलालेखों में मागधी की विशेषताएँ देखकर भी यही ज्ञात होता है।

पुत्र महेन्द्र पाली-धर्मग्रन्थों को लंका ले गया—यह भी इसके समर्थन में कहा जाता है। खारवेला शिलालेख (२०० ई० पू०) तथा पाली में समानता देखकर ओल्डनवर्ग, मूलर आदि विद्वानों की राय है कि कलिंग की भाषा ही पाली है। शिलालेखों में स्थानीय भाषाओं का ही प्रयोग नहीं पाया जाता है। हैदराबाद में द्राविड़ भाषा का व्यवहार होता था, किन्तु शिलालेख की भाषा पाली है। मध्यदेश (कल्सी, मेरठ आदि) के शिलालेखों में मध्यप्रदेश की भाषा नहीं पाई जाती है, वरन् उनमें पूर्वी भाषा का ही प्रयोग पाया जाता है। इससे इन मतों की निःसारता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। इस तरह इसमें संदेह नहीं कि बुद्धदेव ने अपने समय की प्राच्य भाषा में उपदेश दिया था तथा धर्म का प्रचार किया था। किन्तु पीछे पश्चिमी भाषा में (शौरसेनी का प्राचीन रूप) उन उपदेशों का अनुवाद हुआ। मौलिक भाषा के अनेक रूप अनुवाद में भी पाये जाते हैं। इसलिये यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अर्ध मागधी (प्राचीन) में ही इन अनुवादकों के मूल रूप थे। जिस भाषा में बुद्ध के उपदेशों का अनुवाद हुआ था उसीका नाम 'पाली' है। मगध में बुद्ध की राजधानी थी। यही कारण है कि अनेक विद्वान् 'पाली' को मागधी भी कहते हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री इसको बौद्ध मागधी कहते हैं। डा० चटर्जी की राय है कि पाली ध्वनि तथा रूपरचना में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी

(१) पाली डिक्शनरी में बतलाया गया है कि पाली कोशल की भाषा थी; क्योंकि बुद्ध अपने को 'कोशल खत्तिय' कहते थे और उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु थी।

प्राकृत से मिलती-जुलती है। अश्वघोष के नाटकों की शौरसेनी प्राकृत तथा पाली में बहुत अन्तर नहीं है। इसलिये प्राचीन शौरसेनी ही पाली है। २०० ई० पू० से २०० ई० तक पाली ने साहित्य-क्षेत्र में भ्रमण किया। इसी में बौद्ध-दर्शन तथा जातक लिखे गये। उत्तर-पश्चिम, पश्चिम तथा मध्यदेश के बौद्ध बिहारों में पाली का अध्ययन होता था। मौर्य-साम्राज्य के पतन के के बाद इसके पूर्वी प्रतिद्वन्द्वी अर्धमागधी का भी पतन हो गया। अनन्तर आजकल की हिन्दी की तरह उत्तर भारत में एकमात्र भाषा पाली व्यवहृत होती थी। इधर बौद्ध साहित्य में प्राच्य (पश्चिमी) भाषा को स्थान नहीं मिलने लगा। मध्यप्रदेश की भाषा पाली ने ही बौद्ध साहित्य पर कब्जा कर लिया। महावीर के उपदेश इस भाषा में पाये जाते हैं। इस तरह बौद्धों की अपेक्षा जैनों ने ही इस भाषा को सुरक्षित रक्खा। प्राचीनतम जैन ग्रन्थ इसी भाषा (अर्धमागधी) में पाये जाते हैं और यही कोशल की भाषा का स्मृतिचिह्न है।

इसी प्राच्य भाषा से पूर्वी प्राच्य भाषा मागधी पनपी। 'स्' तथा 'ष्' के लिये तालव्य 'श' का व्यवहार होना ही इसकी विशेषता है। अशोक शिलालेखों के समकालीन शुतनु का शिलालेख में यह विशेषता पाई जाती है, किन्तु अशोक के शिलालेखों में इस विशेषता का अभाव है। मृच्छकटिक नाटक में सर्वत्र 'श' का व्यवहार करनेवाला राजा का साला 'शकार'

(१) इसके अतिरिक्त कर्त्ता में 'ए', 'र' के स्थान में 'ल' का व्यवहार भी इसकी विशेषताएँ हैं। (२) उनमें शुतनु का शिलालेख प्राचीनतम है।

कहलाता था। अन्य नाटकों में भी सब जगह तालव्य 'श' का प्रयोग नीचता का लक्षण समझा जाता था। यही कारण है, अशोक के शिलालेखों में सब जगह तालव्य 'श' का व्यवहार नहीं किया गया है। संभव है, यही भाषा उस समय की राजभाषा भी हो।

(२)

ये शिलालेख मागधी के प्राचीनतम उदाहरण हैं। इनसे ३०० ई० पू० की भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है। अशोक की धर्म लिपियों में भाषा के तीन रूप पाये जाते हैं—(१) उत्तर पश्चिमी (यह खरोष्ट्री लिपि में लिखे हुए शाहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के लेखों में पाया जाता है) (तथा इसकी ध्वनि संस्कृत से मिलती-जुलती है) (२) दक्षिण पश्चिमी अर्थात् गुजरात की भाषा (३) प्राच्य भाषा। राय बहादुर श्यामसुन्दर दास ने बतलाया है कि "अशोक के समय में कम-से-कम चार बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें सबसे मुख्य मगध की पाली थी जिसमें पहले ये लेख लिखे गये होंगे; और उन्हीं के आधार पर गिरनार, जौगढ़ और मानसेरा के शिलालेख उपस्थित किये गये हैं।" उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण, पश्चिम के शिलालेखों में पूर्वी भाषा के शब्द तथा विशेषताओं का व्यवहार देखकर ज्ञात होता है कि प्राच्य भाषा कथित भाषा तथा राजभाषा थी और उसी आदर्श के अनुकूल अन्यान्य भाषाओं को भी बनाने कोशिश की जाती थी। अशोक के बाद के साँची, नासिक आदि शिलालेखों में भी प्राच्य भाषा की विशेषताएँ पाई जाती हैं।

प्राकृत भाषाएँ

लेख दोष, वर्ण-विन्यास की अशुद्धि राजभाषा तथा संस्कृत का प्रभाव आदि अनेक कारणों से २०० ई० पू० से २०० ई० तक के शिलालेखों की प्राकृत से यह जानना असंभव है कि उस समय की प्राकृतों में प्रान्तीय भेद था या नहीं। संस्कृत नाटकों में विभिन्न प्राकृतों का व्यवहार देखकर ज्ञात होता है कि प्रान्तीय बोलियों में बहुत अधिक अन्तर हो गया था। उन विभिन्न प्राकृतों का नामकरण भी आवश्यक प्रतीत होने लगा। इसलिये स्थानीय नामों के आधार पर प्राकृतों के नाम रक्खे गये; जैसे—शूरसेन (मथुरा) की प्राकृत शौरसेनी, मगध की प्राकृत मागधी आदि। प्राचीनतम प्राकृत व्याकरण 'प्राकृतप्रकाश' है। इसके रचयिता वररुचि (५०० ई०) हैं। प्राकृतप्रकाश के प्रथम नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री की विशेषताएँ बताकर पैशाची, मागधी, तथा शौरसेनी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। दण्ड ने महाराष्ट्री को मुख्य प्राकृत माना है। (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः)। हाल की गाथा-सप्तशती, रावणवहो, गौडवहो आदि अनेक काव्य महाराष्ट्री में पाये जाते हैं। हेमचन्द्र (१०८८-११७२) के व्याकरण में पाँच प्राकृतों का उल्लेख पाया जाता है। वे ये हैं:—(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) पैशाची और (५) चूलिका पैशाची। महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख नहीं कर हेमचन्द्र ने उसके लिये प्राकृत शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने आर्ष प्राकृत का भी उल्लेख किया है (आर्षम् ।८।१।३।) (डा० वैद्य की राय में आर्ष का अर्थ है 'अर्धमागधी', किन्तु बाबू श्यामसुन्दर दास

'महाराष्ट्री' को ही आर्ष कहते हैं)। दोनों वैयाकरणों ने महाराष्ट्री तथा शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत मानी है और मागधी तथा पैशाची की प्रकृति शौरसेनी। हेमचन्द्र की तरह रुद्रट ने भी अपभ्रंश को भाषा का एक भेद माना है (प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनीच। षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देशविशेषादपभ्रंशः) और उनकी राय में अपभ्रंश के अनेक भेद हैं।

सामाजिक अवस्था के अनुसार संस्कृत नाटकों में विभिन्न पात्र विभिन्न प्राकृतों का व्यवहार करते थे। शिष्ट तथा शिक्षित पुरुष-पात्रों को संस्कृत बोलनी चाहिये, शिष्ट तथा शिक्षित स्त्रियों की बोलचाल की भाषा शौरसेनी होनी चाहिये, गाने में महाराष्ट्री का व्यवहार होना चाहिये और नीच जातियों को पैशाची तथा मागधी (शकारी, टाक्की आदि) का व्यवहार करना चाहिये—यह नाट्यशास्त्री का नियम है। साधारणतः नाटकों में (१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी तथा (३) मागधी—इन तीन प्राकृतों का व्यवहार पाया जाता है। बौद्ध नाटकों में 'अर्धमागधी' का व्यवहार होता था, किन्तु शौरसेनी ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। केवल एक मृच्छकटिक नाटक है जिसमें (१) शौरसेनी (२) अवन्तीया (३) प्राच्या (४) शकारी (५) चाण्डाली तथा (६) अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहार पाया जाता है। प्राकृत नाटक कर्पूरमञ्जरी में शौरसेनी उच्च पात्रों की भाषा है, गाने की भाषा महाराष्ट्री है और नीच पात्र 'मागधी' का ही प्रयोग करते पाये जाते हैं।

इस तरह इसमें संदेह नहीं कि नाटकों में भाषाओं का संमिश्रण है। अब प्रश्न उठता है कि इसका कारण क्या हो

सकता है। डा० ग्रियर्सन की राय है कि यह यथार्थ घटना है। भारतवर्ष में जहाँ अनेक भाषाओं की खिचड़ी पकती है, भाषाओं का इस तरह संमिश्रण होना आश्चर्यजनक नहीं है। इस समय भी कलकत्ते के बड़े मकानों में हरएक प्रान्त के मनुष्य रहते हैं और वे अपनी-अपनी बोली बोलते हैं, किन्तु उनको एक दूसरे की भाषा समझने में जरा भी कठिनाई नहीं होती है (Encyclopaedia Britannica, 11th edition Vol. 22, Page 254)। बीम्स ने भी इसका समर्थन किया है। कलकत्ते के एक मकान में रहकर भी एक बिहारी एक पंजाबी के साथ हिन्दुस्तानी में बोलता है; क्योंकि बिहारी पंजाब की भाषा नहीं समझ सकता है और उसी प्रकार पंजाबी भी बिहार की भाषा समझने में असमर्थ है। बहुत संभव है कि प्राकृत व्याकरणों का आधार साहित्यिक प्राकृत हो। तथाकथित भाषा से उनका बहुत कम संबंध हो। संभवतः वे ही साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ नाटकों में भी प्रयुक्त हुई हैं। इसके अतिरिक्त यह भी असंभव नहीं है कि संस्कृत बोलनेवाले पात्र व्यावहारिक क्षेत्र में भी एक

---

(१) प्राकृत व्याकरण लिखते समय प्रचलित प्राकृत भाषा का व्याकरण न बनाकर कुछ ऐसे नियमों का संग्रह कर दिया गया जिनसे संस्कृत के शब्द सुगमता से प्राकृत के शब्द बनाये जा सकें।......... । इन व्याकरणों के द्वारा जो प्राकृत संस्कृत में परिवर्त्तित करके गढ़ी गई, वह केवल साहित्य में प्रयुक्त हुई। संस्कृत के नाटकों तथा अन्य ग्रन्थों में इसी कृत्रिम प्राकृत का प्रयोग हुआ है। उसे बोलचाल की भाषा मानना भ्रममात्र है। हाँ, भास के नाटकों में अवश्य शुद्ध मागधी का। प्रयोग हुआ है। (भाषाविज्ञान पृ० १००–१०१)

समय स्त्रियों तथा नीच पात्रों के साथ भी संस्कृत ही बोलते हों। प्राकृतों में जिस कार्य के लिये जिस देश की भाषा उपयुक्त समझी जाती थी उस कार्य के लिये उस भाषा का प्रयोग होता था गानविद्या के लिये महाराष्ट्री ने ख्याति पा ली थी। इसलिये महाराष्ट्री ने गाने में स्थान पाया। संभव है कि इन नियमों की सृष्टि मध्यदेश में हुई हो। यही कारण है कि गद्य में मध्यदेश की भाषा शौरसेनी को प्रधानता मिली। प्रो० लेवी का कहना है कि कृष्णोपासना का केन्द्र शूरसेन (मथुरा) था। उस उपासना की उन्नति के साथ उस स्थान की भाषा शौरसेनी की भी उन्नति हुई और साहित्य तथा नाटकों में उस भाषा को प्रधानता मिली। इसके अतिरिक्त जिस कार्य के लिये जिस देश के निवासी उपयुक्त समझे जाते थे उस कार्य के लिये नियुक्त नीच पात्र उस देश की भाषा का प्रयोग करते थे। मगध के निवासी स्वस्थ तथा बलवान् होने के कारण अंतःपुर के रक्षक होने के लिये उपयुक्त समझे जाते थे। इसलिये साहित्य-दर्पण-कार ने बतलाया है कि राजान्तःपुरचारियों की भाषा मागधी होनी चाहिये। यह भी असंभव नहीं है कि विजित राजधानी को नीचा दिखलाना ही इसका उद्देश्य हो।

अपभ्रंश-युग

(५००—१००० ई०)

जब प्राकृत साहित्यिक भाषा हो गई तब वैयाकरणों ने संस्कृत की तरह कठिन तथा अस्वाभाविक नियमों से उसे बाँध दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राकृत का क्षेत्र साहित्य

तक ही सीमित रह गया और वह मृतभाषा हो गई। इधर बोलचाल की भाषा का प्रवाह रुक नहीं सकता, किन्तु वह अपनी स्वतंत्र धारा में बहती हुई आगे बढ़ती ही जाती है। इस नियम के अनुसार क्रमशः बोलचाल की भाषा का विकास होने लगा। उसी विकसित भाषा का नामकरण हुआ अपभ्रंश या अपभ्रष्ट। हेमचन्द्र के व्याकरण से ज्ञात होता है कि प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा को अपभ्रंश कहते हैं। उससे यह भी ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का पद्य-साहित्य प्राकृत पद्य-साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत था; क्योंकि बहुधा अपभ्रंश के उदाहरण पद्य ही मिलते हैं और प्राकृत व्याकरण के नियमों के उदाहरण गद्य। विद्यापति की कीर्त्तिलता से भी ज्ञात होता है कि प्राकृत के बाद अपभ्रंश का उदय हुआ तथा अपभ्रंश का साहित्य बहुत उन्नत था। जैन-ग्रन्थों में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं। 'प्राकृत पिङ्गल' के अनेक पद्य अपभ्रंश में हैं। धणपालरचित भविस्सत-कहा (जेकोबी द्वारा संपादित) भी अपभ्रंश भाषा का काव्य है।

अपभ्रंश के भेद

प्रत्येक प्राकृत या प्रान्त का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी-अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश आदि। वैयाकरणों ने इसको तीन भागों में विभक्त किया है—(१) नागर (२) उपनागर और (३) व्राचड़। नागर अपभ्रंश गुजरात में बोली जाती थी। प्रो० धीरेन्द्र वर्मा का कहना है कि गुजरात के उस भाग में नागर ब्राह्मण रहते थे।

नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिये प्रसिद्ध रहते हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। हेमचन्द्र ने शौरसेनी प्राकृत से अपभ्रंश (नागरी) की उत्पत्ति मानी है। इसलिये इसको शौरसेनी-अपभ्रंश भी कह सकते हैं। ब्राचड़ सिन्ध में प्रचलित थी। उपनागर अपभ्रंश नागर तथा ब्राचड़ के मेल से बनी थी और यह पश्चिमी राजस्थान तथा दक्षिण पंजाब में बोली जाती थी। पश्चिम पंजाब की केकय अपभ्रंश का भी उल्लेख डा० चटर्जी ने किया है। महाराष्ट्री, अर्ध-मागधी, मागधी आदि अपभ्रंशों के ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। हो सकता है कि अनुसन्धान करने पर इन अपभ्रंशों के भी ग्रन्थ मिलें। मिथिलापभ्रंश अवहट्ठ के दो ग्रन्थ मिलते हैं। दोनों विद्यापति की रचनाएँ हैं। अवहट्ठ का विशेष वर्णन 'अवहट्ठ' शीर्षक में हो चुका है। इसलिये वे बातें दुहराई नहीं जाती हैं। अवहट्ठ मागधी प्रान्त की भाषा थी और नागर अपभ्रंश के भी कई अंशों में समानता है। इसलिये मालूम पड़ता है कि इसकी उत्पत्ति मागधी प्राकृत से हुई थी और इसपर शौरसेनी प्राकृत का भी प्रभाव पड़ा था।

अपभ्रंश का प्रयोग

पतञ्जलि के समय में अपभ्रंश शब्द का अर्थ था विकृत रूप या ग्राम्य भाषा। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में पतञ्जलि ने प्रश्न किया है कि शब्दों का उपदेश करना चाहिये या अपशब्दों का अर्थात् शुद्ध रूपों का उपदेश करना चाहिये या अशुद्ध रूपों का। इस अवसर पर पतञ्जलि ने एक ही अर्थ में चार

बार अपशब्द और दो बार अपभ्रंश शब्द का व्यवहार किया है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों पर्याय-वाचक शब्द थे और दोनों का अर्थ था "अशिष्टों के द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध शब्द या आदर्श से गिरी हुई भाषा"। दण्डी ने काव्यादर्श में अपभ्रंश का यह लक्षण बतलाया है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंशतयोदिताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश इति स्मृतम्॥

इससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी में अपभ्रंश शब्द के दो अर्थ थे—(१) आभीर आदि अनार्य जातियों की बोली और (२) संस्कृत के अतिरिक्त बोलियाँ या भाषाएँ। कालिदास ने 'पतन' अर्थ में अपभ्रंश शब्द का व्यवहार किया है; जैसे—'अत्यारूढ़िर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)।

इस तरह मालूम पड़ता है कि पहले आदर्श से गिरी हुई भाषा के लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होता था। अनन्तर संस्कृत-साहित्य में पतन अर्थ में इसका व्यवहार होने लगा। आभीरी, जो प्रायः दूसरी या तीसरी शताब्दी में सिंध, मुलतान तथा उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी, 'आभीरी' नाम से प्रसिद्ध थी। प्राकृत के साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा की धारा तेजी से बहने लगी और उस नवीन भाषा की अनेक विशेषताएँ (ओ के स्थान में उ आदि जिनको पहले ग्राम्य भाषा में ही स्थान मिलता था) उत्तर भारत और पश्चिमी भाषा में प्रतिष्ठित हो गई। साहित्य-प्रेमी और परिवर्त्तन के कट्टर विरोधी विद्वानों को यह खटका। इन परिवर्त्तनों के द्वारा भाषा का पतन हो रहा है—यह देख वे 'अपभ्रंश' कहकर

चिल्लाने लगे। क्रमशः उस नवीन भाषा का नाम ही अपभ्रंश हो गया। अपभ्रंश संज्ञा है, वह भाषा का विशेषण नहीं हो सकता। इसलिये अपभ्रंश भाषा के लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार नहीं कर वे अपभ्रष्ट (अवहट्ठ) शब्द का व्यवहार करने लगे।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल

(१००० ई० के बाद)

१००० ई० के बाद आधुनिक भाषा-युग माना गया है। जिस प्रकार आधुनिक भाषा हिन्दी और शौरसेनी-अपभ्रंश के मध्य की अवस्था को कुछ विद्वानों ने 'पुरानी हिंदी' नाम दिया है, उसी प्रकार विद्यापति के समय तक की भाषा अपभ्रंश नाम से पुकारी जाती थी जैसा कि सत्रहवीं शताब्दी के लोचन कवि की रागतरङ्गिणी के अध्ययन से ज्ञात होता है। भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं के समय-विभाग के अनुसार इसको प्राचीन मैथिली कह सकते हैं। बंगाल में डाकवचनामृत की रचना का काल दसवीं शताब्दी माना जाता है। मैथिली में भी 'डाक-वचनामृत' उपलब्ध होता है। यह असम्भव नहीं है कि इसका मूलरूप मैथिली में हो और मिथिला में अध्ययन के लिये आये हुए बंगाली छात्रों के साथ डाकवचनामृत ने बंगाल की यात्रा की हो। दरभंगे के रमेश्वर प्रेस ने इसका प्रकाशन किया है। सम्पादक के प्राचीन मैथिली से अपरिचित होने के कारण अर्वाचीन मैथिली के अनेक शब्द उसमें आ गये हैं। इसके अनन्तर नान्यदेव के मन्त्री श्रीधर कायस्थ ने सूक्तिकर्णामृत की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में की थी। अभी तक हमें यह पुस्तक

देखने का सौभाग्य नहीं हुआ है। इसलिये इसकी रचनाशैली, भाषा आदि के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है।

बौद्ध गान ओ दोहा

वर्णन यथा स्थान हो चुका है

वर्णनरत्नाकर

इसके रचयिता महामहोपाध्याय ज्योतिरीश्वर ठाकुर थे। आप विद्यापति के पितामहभ्राता थे। संस्कृत में भी आपकी अनेक रचनाएँ हैं। पञ्चसायक का प्रकाशन हाल ही में पंजाब बुक-डिपो ने किया है। धूर्त-समागम प्रहसन भी आपकी ही रचना है। ये सब रचनाएँ संस्कृत में हैं। वर्णनरत्नाकर की भाषा प्राचीन मैथिली है। भाषाओं तथा उपभाषाओं के वर्णन के समय ज्योतिरीश्वर ने मैथिली या किसी समान शब्द का व्यवहार नहीं किया है। अवहट्ठ या अवहठ भाषा का उल्लेख विद्यापति की कीर्त्तिलता तथा वर्णनरत्नाकर—इन्हीं दो पुस्तकों में पाया जाता है तथा यह भी असंभव मालूम पड़ता है कि अन्य भाषाओं तथा उपभाषाओं का वर्णन हो, किन्तु जिस भाषा में वह ग्रन्थ लिखा गया हो उस भाषा का ही उल्लेख न हो! मागधी, शौरसेनी, उत्कली, शकारी (बंगाल) आदि भाषाओं का पृथक् वर्णन है। लोचन कवि ने (१७ वीं शताब्दी) विद्यापति के पदों की भाषा को भी 'मिथिलापभ्रंश' नाम दिया है। इसलिये भाषावेत्ताओं की दृष्टि में उस समय के आधुनिक-भाषायुग होने पर भी मैथिल विद्वान् प्राचीन मैथिली को 'अवहठ' नाम से पुकारते थे।

वर्णनरत्नाकर का विषय

इसमें भाटवर्णना, नायिकावर्णना, राजसभावर्णना आदि अनेक वर्णनों का संग्रह है। उस समय की सामाजिक और साहित्यिक अवस्था तथा भाषा के ऊपर इस ग्रन्थ के द्वारा नया प्रकाश डाला जाता है। जिस तरह भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह गद्य-ग्रन्थ बहुमूल्य है उसी प्रकार साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इसमें अनेक नई उपमाएँ नजर आती हैं। पुराण कितने हैं, नदियाँ (प्रसिद्ध) कहाँ हैं, प्रसिद्ध तीर्थ कितने हैं, कलाओं के क्या नाम हैं—इत्यादि सूचनाओं का तो यह भाण्डार है। यह पुस्तक हाल ही में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा पं० बबुआजी मिश्र द्वारा संपादित होकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित हुई है।

अवहट्ट का वर्णन पहले हो चुका है। विद्यापति के ८६ पद आपके सामने हैं।

पारिजातहरण नाटक

कोइलख ग्रामनिवासी महामहोपाध्याय उमापति उपाध्याय (जो अपने समय के संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् थे) की रचना है। डा० ग्रियर्सन की राय है कि आप विद्यापति के समकालीन थे।

हिन्दी तथा मैथिली

यह पहले बताया जा चुका है कि अपभ्रंशयुग से ही मैथिली स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और चौदहवीं शताब्दी तक इसमें गद्य, पद्य तथा नाटक की रचना हो चुकी थी अर्थात् यह पूर्ण

विकसित अवस्था में थी। हिन्दी में उस समय गद्यरचनाशैली निर्धारित नहीं हुई थी, नाटक की रचना तो कई शताब्दियों के बाद हुई है, उस समय हिन्दी-संसार शृङ्गार-रस की कविता से भी अपरिचित था। यह भी प्रमाण के साथ पहले बताया जा चुका है कि ब्राह्मणयुग में ही मिथिला की उन्नति इस चरम सीमा तक पहुँच गई थी कि मध्यदेश को भी मिथिला के सामने नतमस्तक होना पड़ता था। यह उन्नति बराबर जारी रही और परिणाम यह हुआ कि मिथिलापभ्रंश भाषा--अवहट्ठ में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और विद्यापति के समय तक मैथिली की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति के समय में ही हिन्दी से कोसों आगे बढ़ी हुई मैथिली भारतवर्ष की एक स्वतन्त्र भाषा थी। यह किसी के अंतर्गत या किसी भाषा की उपभाषा नहीं है। यह आश्चर्य है कि बँगला जो मैथिली का ऋणी है, उड़िया जो विद्यापति के समय में एक उपभाषा मानी जाती थी, स्वतंत्र भाषाएँ मानी जायँ, किन्तु मैथिली, जो उन्नति की चरम काष्ठा तक पहुँच चुकी थी और भारत की एक स्वतंत्र भाषा मानी जाती थी, इस तरह पददलित की जाय। मैथिली को हिन्दी की शाखा माननेवाले विद्वान् भी अपने विचार के प्रतिकूल मैथिली के साथ अन्याय करते हैं। शाखा की उन्नति के ऊपर ही वृक्ष की उन्नति निर्भर है। इसलिये शाखाओं को तोड़ डालना वृक्ष के प्रति प्रेम दिखलाना

---

(१) हिन्दी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १९०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिन्दी-गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ।—हिन्दी भाषा और साहित्य (पृ० ७१)।

नहीं है। इसी तरह मैथिली की उन्नति में बाधा डालना हिन्दी के प्रति प्रेम प्रकट करना नहीं है। यदि मैथिली हिन्दी की शाखा है तो विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में हिन्दी में प्रश्नों का उत्तर किया जाय या मैथिली में—एक ही बात है। फिर इस तरह प्रतिवाद क्यों ?

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में पं. रामचन्द्र शुक्ल ने बतलाया है कि "सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिन्दी से अलग माना है ; पर केवल भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली पर अवलम्बित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य नहीं माना जाता।

खड़ी बोली, बाँगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने-वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल-आइल', 'गयल-गइल' 'हमरा' 'तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिन्दी के सिवा दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिन्दी साहित्य 'बीसलदेव रासो' पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"

रायबहादुर श्यामसुन्दर दास की भी दलीलें सुन लीजिये—"यद्यपि बँगला और उड़िया की भाँति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से निकली है, तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिन्दी में होती है और ठीक होती है। इस भाषा का हिन्दी के अंतर्गत माना जाना इसलिये ठीक है कि बँगला, आसामी और उड़िया आदि की भाँति इसमें 'स' का उच्चारण 'श' नहीं होता, बल्कि शुद्ध 'स' होता है" (हिन्दी-भाषा और साहित्य पृ० ३९)।

भाषाशास्त्र के प्रगाढ़ विद्वान् ग्रियर्सन के अतिरिक्त अन्यान्य भाषा-तत्त्वज्ञ भी रूपों और प्रत्ययों के आधार पर ही भाषा में भेद मानते हैं। यही कारण है कि बँगला और उड़िया दो विभिन्न भाषाएँ मानी जाती हैं। यद्यपि दोनों भाषाओं में हजारों समान शब्दों का व्यवहार होता है, एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं, तथापि रूपों और प्रत्ययों की असमानता के आधार पर उन भाषाओं में भेद माना जाता है। विस्तृत रूप से विद्यापति की भाषा के रूपों तथा प्रत्ययों का उल्लेख हो चुका है। उस समय की हिन्दी के साथ तुलना कर देखने से ज्ञात हो जायगा कि इन दोनों में कितना अन्तर है। शुक्लजी के विचारानुसार यदि यह भी मान लिया जाय कि शब्दावली की एकता तथा भाषा का परस्पर समझा जाना ही भाषा की एकता का कारण है तथापि हिन्दी तथा मैथिली की एकता सिद्ध नहीं होती है। मिथिला के देहातों में शहर से संपर्क रखनेवाले इनेगिने ही मनुष्य हैं जो हिन्दी अच्छी तरह समझ सकते हैं। मैथिली अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दी के विद्वानों की संख्या

नहीं के बराबर है। शुक्लजी हिन्दी के अद्वितीय विद्वान् समझे जाते हैं और सचमुच हैं भी वैसे ही,। डा० चटर्जी आदि भाषातत्त्वज्ञों की भी यही राय है।

इस तरह मालूम पड़ता है कि वैदिक युग को बोलचाल की भाषा से पाली की उत्पत्ति हुई, आगे चलकर यही पाली प्राकृत के रूप में परिवर्त्तित हुई। मागधी प्रान्तीय भाषा थी और शौरसेनी देशभाषा तथा राजभाषा। इसलिये मागधी से अवहट्ठ की उत्पत्ति हुई और उसके ऊपर शौरसेनी प्राकृत का गहरा प्रभाव पड़ा। यही अवहट्ठ प्राचीन तथा अर्वाचीन मैथिली की जननी है। सत्रहवीं शताब्दी तक प्राचीन मैथिली 'मिथिलापभ्रंश भाषा' के नाम से प्रसिद्ध थी। इस तरह यह भी मालूम पड़ता है कि जिस समय भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाएँ आरम्भावस्था में थीं उस समय मैथिली की सर्वतोमुखी उन्नति हो चुकी थी। इसमें उच्चश्रेणी के गद्यकाव्य लिखे जा चुके थे जिन्हें देखकर निष्पक्षपात भाव से यदि विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि उस समय तक मैथिली का पूर्ण विकास हो चुका था। शृङ्गार-रस के पद्य तथा नाटक की रचना देखकर भी यही ज्ञात होता है। इस प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि अवहट्ठ-युग से ही यह एक स्वतंत्र भाषा थी, यह किसी भाषा के अंतर्गत नहीं थी। इसलिये विद्यापति के पद मैथिली की संपत्ति हैं न कि किसी अन्य भाषा की।

❀ इति शुभम् ❀